४ शान्ति शम वही शान्ति। राग-द्वेष का आविर्भाव ही नही। आत्मा में राग और द्वेष की कोई लहर सी भी न उठे। जब आत्मा मे राग एव द्वेष का उदय न हो तब की अवस्था।

५ उपशम शम की निकटता के कारण उपशम। राग-द्वेष का सम्पूर्ण क्षय नही अपितु उपशम। राग-द्वेष सुषुप्त हो, निमित्त मिलने पर जागे नही।

६ प्रशम राग-द्वेष का उत्कृष्ट शम। इस अवस्था मे आत्मा अतीव विशुद्ध हो जाती है।

७ दोषक्षय जो हमारे आत्मभाव को दूषित करे, मलिन करे उसका नाम है दोष। आत्मभाव को कलूषित करने वाले प्रबल एव भयकर दोष हैं राग और द्वेष। उनका आत्यन्तिक उच्छेद। आत्यन्तिक उच्छेद का अर्थ है समूलोच्छेद अर्थात सर्वथा नाश। वैराग्य की यह चरम अन्तिम भूमिका है।

८ कषायविजय कष् यानी ससार। उसका असाधारण कारण है कषाय। क्रोध मान माया और लोभ-ये कषाय हैं। कषायो को पराभूत कर आत्मा विजयी बन सकता है।

कोई कहता है 'मैं तो मध्यस्थ भाव को महत्व देता हूँ।' अवश्य, आप अपने मध्यस्थ भाव को मजबूत बनाइये।

कोई कहता है 'मैं वैराग्य विरागता को प्राप्त करना चाहूँगा।' बडी खुशी की साथ, आप अपने वैराग्य को दृढ बनाइये, विरागता को पुष्ट कीजिये।

कोई कहता है 'हमे तो दोषो का क्षय करना है।' कीजिये, अवश्य दोषो का क्षय करें।

कोई कहता है 'हमे शम प्रशम उपशम को आत्मसात् करना हैं।' जरूर, उन्हे आत्मसात् कीजिये।

कोई कहता है 'हमे तो कषायो को पराजित करना हैं।' बेशक, आप कषायो को हराइये।

इनमे से कुछ भी कीजिये! पर करिये जरुर। यह सब वैराग्य भावना के प्रतीक हैं। वैराग्य की ही अभिव्यक्ति है। यहा प्रस्तुत ग्रन्थ

मे महर्षि ने प्रशम-रस मे प्रीति-रति की स्थापना करना पसद किया है। प्रशम मे स्थिरता प्राप्त करने के लिए एव करवाने के लिए ही इस ग्रन्थ की रचना उन्होने की है।

हमे एक ही कार्य करना है, अपने वैराग्य भाव को पुष्ट करना है। यह कार्य तभी होगा जब कि हमे प्रशम पसद आ जाय। प्रशमभाव की सहज अभिरुचि जागृत हो तभी हम उस भाव को स्थिर बनाने के लिए प्रयत्नशील बन पायेगे। प्रशम भाव मे परम सुख की अनुभूति करने का तीव्र आकर्षण पैदा हो जाना चाहिए।

प्रशमभाव मे प्रबल प्रीति जाग उठे, ऐसी स्थिति का निर्माण करना चाहिए। 'कषायो मे, काषायिक भावो मे तनिक भी सुख नही है। आनद नही है। शान्ति नही है।' यह बात बराबर हृदय मे जच जानी चाहिए। तब ही हम प्रशमभाव की रति को आत्मा मे स्थिर रखने के लिए पुरुषार्थ कर सकेंगे।

वैराग्य के इन आठ प्रतीको मे से कोई भी एक प्रतीक को पसद कर लीजिये। उस प्रतीक की प्राप्ति के लिए मन-वचन एव काया से पुरुषार्थ कीजिये। उसके लिए जो कुछ भी करना पडे वो कीजिये। ज्यो-ज्यो आप पुरुषार्थ करते जायेगे त्यो-त्यो अन्तरात्मा के अविनाशी सुख की रसानुभूति अपने आप होने लगेगी।

प्रशमरति मे वह सुखानुभव करना है। उसके लिए ही यह ग्रन्थ रचना है। मुमुक्षु आत्माओ के प्रति खूब वात्सल्य एव पूर्ण करुणादृष्टि रखते हुए भगवान उमास्वाति ने इस ग्रन्थ की रचना की है। प्रशम भाव मे स्थिरता प्राप्त करने का प्रयत्न कैसे किया जायँ, इसका समुचित मार्गदर्शन इस ग्रन्थ मे से मिल जायेगा।

राग के पर्याय

श्लोक　इच्छा मूर्च्छा काम स्नेहो गार्ध्यं ममत्वमभिनन्द ।
　　अभिलाष इत्यनेकानि रागपर्यायवचनानि ॥१८॥

अर्थ　इच्छा, मूर्च्छा, काम, स्नेह, गृद्धता, ममत्व, अभिनन्द (परितोष) एवं अभिलाष ये राग के अनेक पर्याय हैं।

विवेचन : विगतः रागः विरागः।

'जिसमे नहीं राग, कहते उसे वैरागी।' पर इस राग के भी अनेक रूप हैं, यहाँ पर मुख्यतया आठ रूप बतलाये हैं। राग की पहचान, यदि हम इसके अनेक रूपों के माध्यम से करें तब जाकर हम राग से बच सकते हैं।

इच्छा – इच्छा यानि प्रीति। रमणीय-सुन्दर विषयों में प्रीति। रम्य पदार्थों के दर्शनमात्र से खुश हो जाना, आनंदित बनना, यह इच्छा है।

मूर्च्छा – प्रिय विषयों मे तल्लीनता। ऐसी लीनता की आत्मा उन विषयों में अभेद भाव से अभिन्न बनकर खेले, क्रीडा करें।

काम – इष्ट पदार्थ को प्राप्त करने की चाहना। प्रिय विषयों को प्राप्त करने की कामना।

स्नेह – विशिष्ट प्रेम का नाम हैं स्नेह। गाढ प्रेम का अर्थ है स्नेह।

गृद्धता – जो विषय या जो पदार्थ हम न मिल पायें हो, उन्हें प्राप्त करने की अभिलाषा। तीव्र कामना, गीध ज्यों मृतदेह (माँस) को देखकर आसक्त हो जाय त्यों।

ममत्व – 'यह तो मेरा है, मैं इसका मालिक हूं' इसको कहते हैं ममत्व। यह एक मन का परिणाम है।

अभिनन्द – प्रिय विषय की प्राप्ति पर सन्तोष, परितोष, खुशी।

अभिलाष – मनोनुकूल प्रिय विषयों की प्राप्ति के मनोरथ, आकांक्षाएं। कितना समुचित एवं हृदयस्पर्शी है यह राग के प्रतीकों का विश्लेषण! अपने मन को, मन की हर वृत्ति एवं प्रवृत्ति को बराबर समझना अति आवश्यक है। उसे समझे बिना उन पर संयम असंभव है। उन वृत्तियों का शमन एवं उन प्रवृत्तियों का दमन आवश्यक हैं, मुश्किल है। और मजे की बात तो यह है कि राग की इन भिन्न भिन्न वृत्ति प्रवृत्ति में फंसे रहने पर भी नहीं जान पाते कि हम राग में फंसे हुए हैं। हमारी आत्मा में उछलती हुई इन रागवृत्तियों को भली भांति समझना है, तब ही जाकर इन वृत्तियों को हम रोक सकेंगे, तभी इनका विरोध करना सम्भव होगा। तभी हम हमारी वैराग्यभावना को सुदृढ बना पायेंगे।

कभी हम बाह्य सौन्दर्य से प्रीति बांध लेते हैं तो कभी बाह्य पदार्थों के भौतिक पदार्थों के ध्यान में लीन बन जाते हैं। कभी हम अपनी इन्द्रिय पदार्थों की प्राप्ति के लिए बेबस बनकर प्रार्थना करते हैं तो कभी मनवांछ

सुखोपभोग मे मोहित हो जाते हैं। कभी दूसरों के पास रहे विषयो की तरफ ललचायी नजरो से देखने लगते है 'काश ऐसे सुख, ऐसे पदार्थ मुझे भी मिल पाते...' ऐसी आकांक्षाओं की आग में झूलसते है। कभी 'यह तो मेरा, मैं इसका मालिक...' ऐसे ममत्वप्रवाह मे वहने लगते हैं। अपनत्व का राग सच ही वडा खतरनाक राग है। स्वजनो के सम्बन्ध तोड़ डाले हो, परिजनो के प्यार को भी ठुकरा दिया हो, वैभव व सम्पत्ति के राग को भी तोड़ डाला हो, फिर भी शरीर का ममत्व, देह की ममता, आत्मा को भूल-भूलैय्या मे खो डालती है! आत्मा को गिराती है! कंडरिक मुनि का सातवी नरक मे पतन हुआ, किस कारण? एक शरीर की ममता के कारण। जिन सम्बन्धों को मुनि ने कुचल डाले थे वे सम्बन्ध फिर से जुड़ने लग गये थे।

जब मनचाहा सुख मिल जाता है, आत्मा हर्ष से, खुशी मे झुम उठती है। खुशखुशाल हो जाती है। अरे, स्वयं को वैरागी समझने वाला व्यक्ति जब मनोनुकूल समय, स्थान एवं वातावरण मिलता है तब मारे खुशी मे फूला नही समाता। कितना परितोष एवं आनन्द पाता है? उस वेचारे को खबर ही नही होती कि "यह तो मेरे आगन मे राग-शत्रु ने प्रवेश पा लिया।" प्रिय पदार्थों की प्राप्ति का आनन्द,आत्मधन लूटता है, फिर भी स्वय को वैरागी मानता है। त्यागी मानता है। मनोनुकूल विषयो की प्राप्ति के लिए मनोरथों का अन्त ही नही! भौतिक सुखो की कल्पनाए असीम वन जाती हैं। सुखो की अनन्त कल्पनाओ के गगन मे उडते हुए मनुष्य कैसे अपने वैराग्य भाव को पुष्ट वना पायेंगे? वैराग्य भावना को पुष्ट करना है? तो रुक जाईये, आत्मा का सर्वस्व लूटने वाली राग-वृत्तिओ को अच्छी तरह से समझ लीजिये, इन वृत्तिओ के समूलोच्छेदन हेतु मन ही मन सुदृढ संकल्प कीजिये। तव ही आप अपनी वैराग्यभावना को पुष्ट - परिपुष्ट एवं सुदृढ़ वनाने में सफलता प्राप्त कर सकेंगे।

द्वेष के पर्याय

श्लोक : ईर्ष्या रोषो दोषो द्वेष परिवादमत्सरासूया.।
वैर-प्रचण्डनाद्या नैके द्वेषस्य पर्याया ॥१९॥

अर्थ : (१) ईर्ष्या (२) रोष (३) दोष (४) द्वेष (५) परिवाद (६) मत्सर (७) असूया (८) वैर (९) प्रचडन आदि द्वेष के अनेक पर्याय है।

असूया – द्वेष का यह ऐसा रूप है जो औरों को क्षमा देने ही न दे। असूयायुक्त मनुष्य क्षमाधर्म का पालन कर ही नहीं सकता, क्योंकि क्षमा उसे पसन्द ही नहीं होती।

वैर – वैर की वृत्ति का जन्म होता है परस्पर कलह-घर्षण-झगड़े मे से, लड़ाई मे से। वैर की गांठ द्वेष का एक अति खतरनाक रूप है।

प्रचंडन – प्रकृष्ट कोप - गुस्सा यानी प्रचण्डन। शान्त हो चुके क्रोधाग्नि को प्रज्वलित बनाये रखना है।

ये सारे प्रतीक एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते है। यदि अन्तर है तो मात्र स्वरो का, शब्दो का। प्रतिपादन का विषय है द्वेष। भिन्न-भिन्न रूपो से द्वेष की पहचान कर, उसका क्षय, उसका नाश करने मे प्रयत्नशील बने। द्वेष को जाने बिना हम उसका नाश कैसे करेंगे?

परन्तु एक बात सुनो, तुम्हे इस द्वेष के पाप को नष्ट करना ही है तो इसके लिए तुम्हे तुम्हारे बिखरे हुए-टूटे हुए मनोबल को इकट्ठा करके पुनः चेतनाशील बनना होगा। द्वेष-दुश्मन के सामने जंगेमैदान में विजय प्राप्त करने के लिए एकदम चौकन्ना होकर मुकाबले के लिए डटे रहना होगा।

द्वेष के दहकते हुए अंगारो मे झूलसायी हुई मैत्री-करुणा को सजीवन करने के लिए अप्रतिम साहस बढाना होगा। द्वेषदुश्मन की पकड़ को ढीली करने के लिए जीवात्मा को स्वस्थ बनकर पूरी तैयारी एवं जोश के साथ खड़ा होना पड़ेगा! द्वेष के अप्रत्याशीत आक्रमण के सामने सतत सावधान रहना होगा। नौ नौ मोर्चों पर तुम्हे अग्नि बनकर लड़ना है। एक भी मोर्चे पर यदि शत्रु को मौका मिल गया तो वह तुम्हारा सर्वनाश कर डालेगा। आत्मप्रदेश मे से बीन-बीन कर द्वेषशत्रु को बाहर निकालना होगा। इसके लिए इच्छा या भावना से नही चलेगा, केवल विचारो मे काम नही बनेगा। अपितु मन-वचन-काया से डट जाना होगा। वैराग्यभावना को लाने के लिए एवं इसकी स्थिरता के लिए आजीवन प्रयत्न करना होगा, अरे, अनेक जन्मों तक युद्ध जारी रखना होगा। तब कही द्वेषविजेता बनकर आप अपनी आत्मभूमि के सार्वभौम सम्राट् बन सकेंगे।

जीव अपने आप ही क्रोधी नही बन जाता, मानी, अभिमानी नही बन पाता, मायावी या लोभी नही बन जाता। जब वह रागद्वेष से घिर जाता है, रागद्वेष के प्रभाव मे आ जाता है, उसका दिल और दिमाग रागद्वेष के कज्जलश्याम रगो से रगा जाता है, तब वह क्रोधी बन जाता है, मानी-मायावी और लोभी बना नजर आता है। जब वह मिथ्यात्व का भूत जीवात्मा की ज्ञानदृष्टि को नष्टभ्रष्ट कर देता है, जीव की दृष्टि मे मलीनता आ जाती है, बुद्धि की निर्मलता पलायन हो जाती है, दूर सुदूर चली जाती है, तब फिर पूछना ही क्या ? हिंसा-झूठ-चोरी-अब्रह्म और परिग्रह रूप गीधो के टोले चित्कार करते आत्मभूमि पर आ बसते हे। मिथ्यात्वमलीन मति उन गीधो का सहर्ष स्वागत करती है और फिर वे गीध बडे मजे के साथ अहिंसा, सत्य, अचौर्य-ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह के मृतदेहो की मिजबानियाँ उड़ाते है। पाचो इन्द्रियाँ भी उस मीजवानी मे शामिल हो जाती है, बस, फिर बचेगा क्या ? इसका अन्जाम ? विपुल घोर कर्मो का बन्धन ! अनत अनत पापकर्मो के बन्धन ! मिथ्यात्व से पराभूत आत्मा इन कर्मबन्धनो को समझ नही पाती है, देख नही सकती है, लेकिन इसकी प्रतिक्रियाएँ [Reaction] तत्काल चालू हो जाती है। प्रतिक्रिया है : तीव्र आर्तध्यान, तीव्र रौद्रध्यान ।

पाचो इन्द्रियो के माध्यम से जीवात्मा के हिंसा आदि पाच महा-आश्रवो के कीचड़ में फसते ही आर्तध्यान और रौद्रध्यान के विनाशकारी आक्रमणो का प्रारम्भ हो जाता है। इन दो दुर्ध्यानो की मजबूत पकड़ मे जीवात्मा कुचला जाती है, कुम्हला जाती है।

'ऋत्' यानी दु ख, 'ऋत्' यानी सक्लेश। उसमे से पैदा होता है आर्तध्यान। आर्तध्यान मे होता है मानसिक दु ख, मानसिक वेदना, मानसिक दर्द और मानसिक पीड़ा। जब हम अप्रिय विषयो के बीच बुरी तरह फस जाते है तब उन विषयों से छुटकारा पाने की तीव्र इच्छा क्या मानसिक पीड़ा...मानसिक वेदना नही हे ? जब प्रिय विषयो के बीच हम बसे हो उस समय 'कही मेरे ये सुखोपभोग के साधन चले न जाय···'ऐसी तीव्र चिन्ता होती हो, क्या यह एक तरह की मानसिक पीडा नही है ? जब हमारा शरीर रोगो से घिर जाता है उस समय क्या वे रोग हमे पीड़ा नही करते ? जब किसी राजा-महाराजा की

सम्पति देखकर 'मुझ भी अगले जनम मे ऐसा ठाठबाठ मिले' उसके लिए अपने तप-जप का सौदा कर डालना क्या यह एक तरह का मानसिक तनाव या खींचाव नही है ?

यह सब आर्तध्यान है। यह आर्तध्यान जब सतत चालु रहता है, तीव्र-तीव्रतर बनता जाता है तब रौद्रध्यान जंगे-मदान म आ कूदता है। आत्मा की रही सही गुणसपत्ति को भी यह रौद्रध्यान लूट लेता है। चार-चार मोर्चों के माध्यम से वह सर्वविनाशी ज्वालाए उगलता है। आत्मा की खण्डहर जैसी जजर भाव इमारतों को जमीनदोस्त कर देता है।

रौद्रध्यान का मतलब है क्रूरध्यान। जीवो की हत्या करने का तीव्र एकाग्र विचार, यह हिंसानुबंधि रौद्रध्यान है। 'इस उपाय से औरो को ठगा जा सकता है, ऐसे प्रवचना के विचारो मे एकलीनता को कहते है मृषानुबंधि रौद्रध्यान। डाकूगीरी करके, चोरी करके, घर फोडी करके, जेबें काटकर, येनकेन प्रकार से औरो की सम्पति को प्राप्त करने के विचारो मे एकाग्रता का नाम है स्तेयानुबंधि रौद्रध्यान। दिन और रात मन म एक ही विचार, एक ही रटन, एक ही चिंतन और एक ही ध्यान कि 'धन धान्य वगरह का सरक्षण कसे किया जाय'। उन सरक्षण के विचारो मे हिंसा के उपायो के तीव्रतापूवक चिंतन को कहते हैं सरक्षणानुबंधि रौद्रध्यान।

आर्त एव रौद्रध्यान की इन प्रकृष्ट विचारधाराओ मे बहते हुए जीव अपने भविष्य का कितना दु खद एव कष्टभरा सजन करते हैं—इसकी कल्पना भी जीवो को नही होती है। ऐसी स्थिति का शिकार बना हुआ जीव क्रोधी मानी-मायावी-लोभी कहा जा सकता है।

न्याय एव अन्याय की विवेकहीनता!

चाहे जीवहिंसा हो या जीवरक्षा हो। सम्पूर्ण अज्ञता-मूढता! उसे यह भी ज्ञान नहीं, इतनी भी समझ नही कि मुझे हिंसा नही करनी चाहिए, मुझ झूठ नही बोलना चाहिए, चोरी नही करनी चाहिए, दुराचार-व्यभिचार के रास्ते नही चलना चाहिए, मुझे जीवात्माओ के प्रति दया-करुणा एव प्रम रखना चाहिए। सच बोलना चाहिए। प्रामाणिकता से जीना चाहिए। सदाचार एव ब्रह्मचय का पालन करना चाहिए। ऐसा कोई विचार नहीं, हिंसा अहिंसा, झूठ-सच, चोरी प्रामाणिकता,

दुराचार-सदाचार के बीच कोई भेद रेखा ही नही। ठीक वैसे ही 'हिंसा इत्यादि पापाचरणो से चित्त कलुषित बनता है और अहिंसा इत्यादि धर्माचरणो से मन पवित्र-निर्मल बनता है,' ऐसा परिज्ञान भी जिनको नही होता है, चित्त की मलीनता एव स्वच्छता के विषय मे पूरी अज्ञानता होती है। 'मेरा मन मलीन-गन्दा बन गया, मैंने हिंसाका विचार किया झूठ-चोरी का विचार किया,' ऐसा चिन्तन जिनके पास नही है। 'मेरा मन पवित्र बने, मैं परमात्मा-आत्मा-दया-करुणा के विचार करूँ।' ये विचार भी जिनके पास नही हैं। मन जो कि सूक्ष्म है, स्थूल नही है, ऐसे सूक्ष्म मे देखने के लिए जिनके पास नजर नही हैं।

और जो सज्ञाओ के झघडो मे भटक रहे हैं। आहार संज्ञा, भय सज्ञा, मैथुन सज्ञा और परिग्रह सज्ञाओ की बेफाम पापलीलाओ मे तल्लीन बनकर जो नाच-गा रहे है, उन्हे क्रोध वगैरह कषाय पकडेंगे ही, इसमे कुछ भी आश्चर्य नही। सज्ञाओ के झघडे बडे गजब के होते हैं। क्या आहार सज्ञा जीवात्मा को चमगादड की तरह नही चिपक जाती? क्या जीवात्मा के साथ वो हमेशा प्रतिदिन झगडे नही करती? 'मुझे ठडा भोजन नही चाहिए, मुझे तो गरम भोजन चाहिए, मुझे रसहीन खाना एव बेस्वाद भोजन से नही चलेगा, मुझे तो रसभरपूर भोजन-सामग्री चाहिए। मै तो दिन को भी खाऊ! रात को भी खाऊ! भक्ष्य भी खाऊ, अभक्ष्य भी खाऊ! मैं तो मसालेदार खाना ही पसद करूँ। एक भी मसाला कम हो तो मैं नही चलने दूँ।' ये सब है तीव्र आहार सज्ञा के प्रतिक। दिन और रात मनुष्य के मन मे येही विचार चलते रहे, और जब उसे अपने मनचाहे पदार्थ खाने पीने को न मिले तब फिर उसकी उछल-कूद देखो। आर्तध्यान, द्वेष, गुस्सा, वैर, उसकी सीमा ही नही। और मनचाहे पदार्थो की प्राप्ति हो जाय तो फिर नाज-नखरो का पार नही। कितनी गृद्धि? कितनी आसक्ति? कितना राग? कितनी मूर्च्छा? इस सज्ञा के पापो से तो कडरिक ऋषि का पतन हुआ। सातवी नरक मे गिर गये। इस सज्ञा के पाप से ही तो मगु आचार्य जैसे अतिलोकप्रिय एव बहुश्रुत आचार्य को भी गन्दे नाले के देव बनने की बारी आयी।

भयसज्ञा से ग्रसित जीव क्या कषायो से बच सकता है? ना रे बाबा! भय कब उत्पन्न होता है? राग या द्वेष बिना भय उत्पन्न ही

नही हो सकता है। इहलौकिक भया ये भूत चिपक जायें तो फिर कषाय जीवात्मा पर चढ बठेंगे ही।

परिग्रह की सना मे फसे हुए जीवो की कषाय घोर कदर्थना तिरस्कार करते है। स्थावर-जगम सपत्ति की सुरक्षाहेतु मनुष्य क्या नही करता है? ईर्ष्या, द्वेष, वर इत्यादि दोष मनुष्य के जीवन मे सहज ही देखने को मिलेंगे। माया-कपट एव दगाखोरी मे तुम उसे प्रवीण [EXPERT] पाओगे। मान एव सम्मान की आकाक्षा हमेशा उसे सताती रहेगी। परिग्रही कषायी होगा ही।

मथुन सज्ञा!

सारे अनर्थों का मूल! सर्वस्वविनाशिनी भयकर चिनगारी!

अब्रह्मसेवन की सज्ञा जाग उठने पर क्या जीव कषायो से बच सकता है? नही। वासना की तृप्ति के पात्र को प्राप्त करने की चाहना ही लोभ कषाय है। यदि पात्र सहज सरलता से प्राप्त न हो तो कपट-ठगी से उसे प्राप्त करने की योजना माया-कषाय है। पात्र न मिलने पर, अथवा तो पात्र के अनुकूल न होने पर उस पर क्रोध गुस्सा एव द्वेष हो जाना स्वाभाविक है। यदि मनचाहा पात्र मिल गया तो फिर अभिमान की कोई सीमा नही। मैथुन सज्ञा से ग्रस्त जीवात्मा कषायो से कलुषित बनेगा ही। तुम आठ कर्मों को जानते हो? तुम उन आठ कर्मों की जजीरो मे जकडे हुए हो-यह बात कभी सोची है? उन आठ कर्मों का नियन्त्रण चार प्रकार से जीवात्मा पर होता है। १ स्पृष्ट आत्म-प्रदेशो के साथ कर्मों का सामान्य मिलन मात्र। २ बद्ध आत्मप्रदेशो के साथ कर्मों का विशिष्ट बधन [जैसे अनेक सूईया को एक साथ बाध दी जायें] ३ निधत्त आत्मा के साथ कर्मों का एकी-करण सा सयोग [ज्यो गरम करके तपाई गई सूईयाँ एक दूसरे से चिपक जाय] ४ निकाचित आत्मा के साथ कर्मों का दूध पानीसा घुलमिल जाना [ज्यो सूईया को गरम करके उन्हे कूट डाला जाय किसी भी सूई का अलग अस्तित्व न रहे। अलगाव प्रतीत न हो।]

इस तरह हजारो गतियों मे भटकता जीव, कर्मों के बधनो से भारी बनता जाता है। बार बार देव मनुष्य तियच और नरक गति में जन्म, जरा और मृत्यु के द्वारा, नाना प्रकार से, विविध आकारो मे, परिभ्रमण करता है। अनत भ्रमणाओं मे भ्रमित होकर भटकता रहता

है। ऐसी भ्रान्त ग्रात्मा कषायो का शिकार वनने से नही वच पाती। ग्राठो कर्मो को वांवता हुग्रा, निकाचित करता हुग्रा, सदैव ८४ लाख योनियो मे परिभ्रमण करता हुग्रा, भ्रमणाग्रो मे भ्रमित हुग्रा जीव कषायो की क्रूरता का शिकार वन जाता है। जव तक जीव कर्मो को वाँधता रहेगा तव तक उन कर्मो के भार से दवा हुग्रा वह शत-सहस्त्र गतिग्रो मे जन्म-मृत्यु करता हुग्रा भटकता रहेगा। विविध रूपो को वारण कर परिभ्रमण करता रहेगा, तव तक कपायो से नही वच सकता। इस तरह ग्रसख्य दु ख. यातना. .वेदना .एव परिताप को सहन करता हुग्रा जीव कितना पामर दुर्वल .एव कृशकाय वन जाता है? चारो गति के ग्रनत ग्रनत दु ख सहकर मानो उसकी सहनशीलता का ग्रन्त ग्रा गया हो। जव वह दु खो को सहन नही कर पाता तव वह या तो क्रोव से, गुस्से से वधक उठता है, या फिर दीनता से रो पडता है। तव उसकी स्थिति कितनी करूणास्पद वन जाती है। यातनाग्रो से कुचला हुग्रा. दवा हुग्रा जीव करूणापात्र वन जाता है। उसमे भी जव वह कपाय-परवश वन जाता है तव ग्रत्यन्त करूणापात्र वन जाता है।

क्या ग्रनत ग्रनत दु खो से ग्रस्त पीडित व्यक्ति क्रोव कर सकता है? हाँ, क्योकि उसे सुखो की तीव्र चाहना होती है। वैपयिक सुखो की, पाचो इन्द्रियो के मनचाहे पदार्थो की तीव्र प्यास से पीडित वह चारो दिशा मे भटकता है। वैषयिक सुख जो कि समुद्र के पानी जैसे हैं–उन वैषयिक सुख भोगने की ग्रादत पड गयी, फिर भला, छूटकारा कहाँ? समुद्र का पानी फिर फिर पीग्रो ग्रौर ज्यादा प्यासे वनो। छटपटाते रहो। क्योकि कुछ भी हो, ग्राखिर तो दरिये का पानी है ना! खारापन थोडे ही मिटने का? वैपयिक सुखो की रगरलीयाँ सजी गलियो मे भटकती जीवात्माग्रो को कपाय पागल वना देते है, उनका सर्वस्व लूट लेते है। ऐसी जीवात्माग्रो को तुम क्रोधी-मानी-मायावी या लोभी कह सकते हो।

चार कषायों के विपाक

श्लोक स: क्रोधमानमायालोभैरतिदुर्जयै. परामृष्ट.।
प्राप्नोति याननर्थान् कस्तानुद्देष्टुमपि शक्त ? ॥२४॥

अर्थ : अतीव दुर्जय ऐसे क्रोध-मान-माया ग्रौर लोभ से पराभूत वनी हुई ग्रात्मा जिन-जिन ग्रापत्तियो-ग्रनर्थो का शिकार वनती है, उन ग्रापत्तियों कोनाममात्र से कहने भी कौन समर्थ है?

विवेचन कषायो के हाथ भयकर हार पायी हुई जीवात्माओ की दुर्दशा का विचार किया है ? तीन लोक पर अपना प्रभुत्व जमा कर बठे हुए इन कषायो ने इस ससार मे भयकर त्रास मचा रखा है। ससार मे परिभ्रमण करते हुए जीव इन कषाया के सहारे ही जीने को मजबूर बने हैं। बिना कषायो के ससार मे जिये कसे ?" ऐसी कषाया की आधीनता को स्वीकार कर, निरकुश बनकर जीव क्रोध मान-माया-लोभ करते रहते हैं, फिर चाहे इसके परिणामस्वरूप उन्हे भयकर वेदना, दु ख एव त्रास भोगना पडे ! दु ख-वेदना एव यातनाओ को भोगता हुआ भी जीव कषाया को अपराधी के रूप मे स्वीकार करना मन्जूर नही करता। 'कषाया के कारण मैं आपत्ति म हूँ, मैं दुखी हूँ, यह मानने को भी तयार नही ! माना कि कषायो ने उस को घेरा बाध दिया हो ! वह तो इन कषाया को ही अपने हितकारी, सुखकारी एव पथप्रदशक मानता है और दु खो के दावानल म जलते हुए भी वह कषाया से अलग होना नही चाहता, बल्कि उन्हे चिपके रहता ह। अपनी आपत्ति अपने दु ख एव अपनी बेचनी का कारण अन्य और जीव ही दिखते हैं। 'फला व्यक्ति न मुझ दु खी कर दिया, अमुक व्यक्ति ने मुझ दु खी कर दिया' बस, वह अपने दु खो का दोषारोपण जीवा पर ही करता रहता है। और यो करके पुन उन कषाया की शरणागति स्वीकार कर लता है। 'उसन मुझे दु खी किया अब मैं भी उसे नही छोडूँगा " आया क्रोध कषाय ! वो क्या समझता है ? मेरा अपमान ! मैं भी देखता हूँ उसे बरबाद किये बिना नही छोडूँगा', आया मान कषाय ! उसने ऐसा तरीके से मुझे फसाया। वही तरीका से उसको अपनी जाल म फसा लूँ कि वह भी बच्चा जिन्दगीभर याद करें कि मुझे भी कोई मिला था !' आया माया-कषाय ! 'उसकी सारी सपत्ति छीन लूँ, सपत्ति का मालिक म बन जाऊँ, आया लोभ कषाय ! कषाया के विकार, कषाय-युक्त वचन एव कषाया से कलुषित प्रवत्ति ही उस प्यारी लगती है, अच्छी लगती है। करन योग्य लगती है और वह करता ही जा रहा है। इसके कारण फिर दु खी होना ह। सदा म घोर अनथ और पापो का शिकार बन जाता है। जब वह तियच योनि और नरक योनि का अतिथि बनता है और उन दुर्गतियो म हजारो, लाखो, करोडो वष पयन्त सतत भयकर यातनाओ को भोगता है, उन यातनाओ के

नाम गिनवाना भी बड़ा मुश्किल है। अरे, शक्य ही नहीं, फिर उनका बयान तो कौन दे सकता है? भला, कौन उसका वर्णन कर सके? कौन उन अनंत वेदनाओं के नाम गिनवा सकता है?

फिर भी आश्चर्य! अनंत अनंत आपत्तियों से घिरा हुआ, घोर कदर्थना का अनुभव करता हुआ भी जीव कषायों का संग नहीं छोड़ता है, कषायों को ही अपने हितकारी समझता है! उन दुर्गतियों में जीव को समझाये भी कौन? और वह समझे भी कैसे बेचारा? समझने की क्षमता केवल मानव में है। मनुष्य में, इन्सान में है। यदि उसके पास विकसित एवं विवेकशील मन है तो, निर्मल चित्त है तो और कर्मों के अतिभार से उसकी आत्मा कुछ हल्की बनी हो तो।

करुणापूर्ण हृदय से ग्रन्थकर्ता महात्मा कह रहे हैं क्रोधी मत बनो, अभिमान मत करो, माया के जाल में मत फसो, लोभ की आग मत सुलगाओ। कषायों की परवशता तुम्हें, तुम्हारी आत्मा को भयंकर आपत्तियों की खाई में धकेल देगी। असंख्यकाल तक तुम्हें सिवाय दुःख, कुछ भी वहा मिलने का नहीं।

क्या तुम उन दुःखों के नाम जानना चाहते हो? उन वेदनाओं की गणना करना चाहते हो? उन आपत्तियों का वर्णन सुनना चाहते हो? वह शक्य ही नहीं है। जो अनंत है, असंख्य है, उसकी गणना कैसे होगी? उसका वर्णन असंभव है। फिर भी तुम्हारी तीव्र जिज्ञासा हो उन कषायों की कदर्थना सुनने की, तो थोड़ा बहुत जान लो, कुछ बातें सुन लो। तुम्हारे पास बुद्धि है, वैचारिक क्षमता है, तो तुम थोड़े भी अनर्थों को जानकर उस पर गहन-गंभीर चिंतन करना, तुम्हें सच ही विश्व के तमाम दुःख एवं अनर्थों का मूल ये कषाय ही मालूम पड़ेंगे। लो तो फिर, एक-एक कषायों की एक-एक विटंबनाभरी कहानी सुनो।

श्लोक क्रोधात् प्रीतिविनाशं मानाद्विनयोपघातमाप्नोति।
शाठ्यात् प्रत्ययहानिं सर्वगुणविनाशनं लोभात् ॥२५॥

अर्थ : क्रोध से प्रीति का नाश होता है, मान से विनय को हानि पहुँचती है, माया से विश्वास को धक्का लगता है और लोभ से सब गुणों का नाश होता है।

विवेचन मानव जीवन के महान् मूल्या का नाश!
जीवन के अमृत का नाश सर्वनाश!

क्या तुम तुम्हारे जीवन मे प्रीति का मूल्यांकन करते हो? प्रीति को जीवन का महामूल्यवान अमृत समझते हो? जीवन का आनन्द, जीवन की सफलता की आधारशिला प्रीति है, यह बात कबूल करते हो? अन्य जनो की प्रीति को तुम तुम्हारा अनमोल धन मानते हो? औरो का तुम्हारी तरफ का स्नेह प्यार ही तुम्हारा जीवन है, इस सत्य की गहराई मे जाकर कभी सोचा भी है?

यदि तुम 'हाँ' कहते हो तो मैं कहता हूँ, तुम कभी भी क्रोध मत करना। अन्तःकरण की भूमि पर कभी क्रोध की आग को प्रगटने का मौका ही न देना। प्रियतम व्यक्तियो के साथ की प्रीति भी क्रोध के भयानक दावानल मे जल कर राख बन जायेगी। अन्य जीवो की प्रीति के बिना का तुम्हारा जीवन रसहीन बन जायेगा, जिसमे कभी बहार आये ही नही ऐसा सूखा रणप्रदेश सा बन जायगा। और विनय की सदाबहार सुगन्ध-खुशबू तुम्हें पसन्द ना हो, रूक्ष जीवन को भी चमत्कशाली बनाने वाले विनय की विश्वमंगला बरखा मे नहाना तुम्हें पसंद ना हो, तो फिर चाहे क्या न तुम अभिमान के आधारहीन अवकाश मे उडते रहो। उद्दीप्त अभिमान की पाशवी वृत्तियाँ, विनय धर्म का संहार करके तुम्हारे जीवन को श्मशान सा बनाकर नाचती रहो।

यदि तुम 'विणयमूलो धम्मो' धर्म का मूल विनय है' इस आर्हत-वचन को मानते हो, तो मान कषाय का कभी भी सहारा मत लेना। मान करके तुम्हें पाना क्या है? तुम्हें लोगो का सम्मान चाहिए? अच्छा, तुम विनयशील बन जाओ तुम्हें सच्चा सम्मान मिलेगा। जो विनय इतना मान दे सकता है, क्या वह विनय मान-सम्मान या प्रतिष्ठा नही देगा? इसलिए मान को फेंक दो, उसकी वासना को नष्ट कर दो और विनयधर्म को अपनाते रहो।

विश्वास!

तुम्हारे पर किसी का विश्वास न हो, सब तुम्हें सन्देहभरी निगाहों से देखते रहे-क्या तुम यह पसन्द करोगे? तुम्हारा परिवार, तुम्हारे मित्र, तुम्हारे स्नेही-स्वजन कोई भी तुम्हारे पर विश्वास करने को तैयार न हो तो भी क्या तुम आनन्द से, प्रसन्नता से जिन्दगी बीता सकोगे?

नही न? तो फिर क्यो माया और कपट कर रहे हो? तुम्हे मालुम है माया विश्वास का घात करती है? मायावी पर कोई विश्वास रखना पसन्द नही करता। परिवार, समाज और नगर का विश्वास यदि अबाधित रखना हो तो माया-कपट के खेल रचाने छोड दो। सरलता को अपनाओ, न्याय, नीति एवं प्रामाणिकता के पथ पर अडिग बनकर आगे कदम बढाओ। कभी भी किसी का विश्वास भग करने का पाप मत करना।

लोभ !

सब गुणो का नाश यदि मन्जूर हो तो लोभदशा को मुबारकबादी देना। यदि तुम अपने जीवन बाग मे, क्षमा के सुमनो की सुवास चाहते हो, नम्रता और सरलता के आम्रवृक्षो की शीतल छाया यदि चाहते हो, सत्य एव सन्तोष के मधुर फलो का आस्वादन यदि चाहते हो तो तुम्हे लोभ का त्याग कर देना चाहिये।

लोभ तुम्हे अहिंसा की आराधना नही करने देगा। लोभ तुम्हे सत्य की छाया मे बैठने नही देगा। लोभ तुम्हे 'प्रामाणिक पुरुष' नही रहने देगा। लोभ तुम्हे सदाचारी-ब्रह्मचारी नही रहने देगा। लोभ तुम्हे दान देने से रोकेगा, लोभ तपश्चर्या के मार्ग पर बाधा उत्पन्न करेगा। शुभ भावनाओ को तुम्हारे मनमदिर मे प्रवेश कराने मे लोभ बाधक बनेगा। एकभी गुण को वह रहने नही देगा, फिर? गुण बिना का जीवन तुम्हे क्या सतोष एव शाति दे पायेगा? गुणरहित जीवन क्या आत्मकल्याण का साधन बन सकेगा? तो फिर क्यो तुम लोभ पिशाच को भगाने से हिचकिचाते हो?

प्रीति, विनय, विश्वास एवं गुणसमृद्धि को नष्ट करने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ को आत्मा की अवनी पर से दूर धकेल दो। आत्मभूमि पर इन कषायो की छाया भी नही चाहिए।

क्रोध के विपाक

श्लोक . क्रोध. परितापकर, सर्वस्योद्वेगकारक: क्रोध:।
वैरानुषङ्गजनक. क्रोध, क्रोध सुगतिहन्ता ।।२६।।

अर्थ क्रोध सब जीवो के लिए परिताप करने वाला है, सब जीवो को उद्वेग देता है, वैर का अनुबध पैदा करता है और सुगति-मोक्ष का नाश करता है।

विवेचन दाहज्वर की अति भयकर पीडा का कभी अनुभव किया है तुमने ? या फिर दाहज्वर से पीडित किसी व्यक्ति को देखा हैं कभी ? असह्य पीडा एव भयकर परिताप से तडफते हुए मनुष्य को दखकर कोई अत स्पर्शी विचार आया है कभी ?

क्रोध की वेदना अति भयकर एव असह्य है। क्रोधित व्यक्ति का जीवन अशान्ति की आग मे झुलस जाता है। उसके जीवन की अगन न तो चन्दन के शीतल विलेपना मे शान्त हो सकती हैं, न ही चन्द्र की शीतल चादनी से शात हो सकती है। इतना ही नहीं अपितु क्रोधी स्वय ही अगन गोले के समान होता है। जिसको वह छूएगा, स्पर्श करेगा, उसे जलायेगा। जिस किसी न भी उसका स्पर्श किया, समझो कि वो जल ही गया।

इसलिए तो क्रोधी का कोई मित्र नहीं होता। वह स्वय भी तो किसी का मित्र नही बन पाता है न! उसके साथ मित्रता, दोस्ती करे भी कौन ? क्रोधी का कोई चाहक नही होता, वह स्वय भी किसी का नही चाहता, उसे चाह भी कौन ? क्रोधी मनुष्य अपने परिवार के लिए हमेशा सतापकारी बना रहता है। मित्रो के लिए परितापकारी बना रहता है। गाव म, गलियो मे सब जगह वो औरो को परेशान करता हुआ ही नजर आता है।

क्रोधी मनुष्य के आसपास हमेशा उद्वेगभरा वातावरण छाया रहता है। सबके दिल और दिमाग भारी भारी से रहते हैं। जब तक क्रोधी घर म रहेगा, तब तब घरवाला के मन उद्विग्न बने रहेग। जब तक वह दुकान म रहेगा तब तक दुकान के लोग अशात एव उदास नजर आयेंगे।

क्रोधी व्यक्ति न तो स्वय सुखी रहेगा, न ही औरो को सुख दे पायेगा। वो देगा भी क्या ? उसके खुद क पास ही जब सुख नही है तो फिर औरो को देगा भी क्या ? वह स्वय दु खी रहेगा और औरो को भी दु ख देगा।

क्रोध मे से पैदा होता है वैर! एक व्यक्ति क प्रति बारबार क्रोध या गुस्सा करने स वैर की गाठ बध जाती है, वह वैर की गांठ तो कन्सर (Cancer) की गाठ स भी ज्यादा भयकर है। कैसर की गांठ शायद एक बार जान लेगी, पर वैर की गाठ तो जनम-जनम तक निरन्तर भावप्राणो का हरण करती है।

'समरादित्य केवली चरित्र' के उस अग्निशर्मा को क्या तुम नही जानते हो? जो गुणसेन राजा की तरफ उसके हृदय मे क्रोध का जन्म हुआ और वैर की जो गाठ बन्ध गयी नौ जनम तक उस वैर की गांठ ने दुःख दिये। वैर बान्धकर भी क्या सुख पाया?

क्रोधी मोक्षमार्ग पर नही चल सकता। क्योंकि मोक्षमार्ग समताधारी का रास्ता है। भला, क्रोधी कैसे शम-सागर को पार कर सकेगा? तीव्र क्रोध से अभिभूत व्यक्ति क्षमादिधर्मो की आराधना करने मे समर्थ नही बन सकता। वह हिसा वगैरह पापाचारो मे प्रवृत्त होकर दुर्गति की गहरी खाई मे गिर जाता है। तुमने क्या उस सुभूम चक्रवर्त्ती का नरकपतन नही सुना? परशुराम की अधोगति नही जानी?

मोक्षप्राप्ति वो ही कर सकता है कि जिसमे समता का सामर्थ्य हो, जिसमे क्षमाभाव की शान्ति हो। पल दो पल मे क्रोध, गुस्सा एव कषाय करने वाली जीवात्मा मोक्ष को प्राप्त नही कर सकती। अरे, मोक्षप्राप्ति तो दूर रही, ससार के भौतिक सुख भी उसके लिए अप्राप्य से बन जाते हैं। इस क्रोध को अपनी आत्मभूमि के पवित्र आगन मे क्यो रखे? क्यो फिर जीने के लिए इस क्रोध का सहारा ले? जो क्रोध आत्मा की अधोगति करता है, आत्मा का सब तरह से पतन करता है, क्यो फिर उसका सग करे? जो धधकते हुए अगारो से भी ज्यादा भयंकर है, उसका स्पर्श भी क्यो करे? स्वय जलना और औरो को जलाना? स्वय अशान्त बनना और औरो को अशान्ति देना? ऐसा नही हो सकता।

क्रोध मे यदि होश गवाकर वैर की गाठ बांध ली, तो सर्वस्व लूट गया समझना। इतना जानने, समझने के बाद भी यदि तुम क्रोध का त्याग नही करते तो समझना कि जिन्दगी पूर्णरूप से हार जाओगे। हो सकता है तुम्हारी अज्ञानमूलक मान्यता तुम्हे क्रोध करने को प्रेरित करे या मजबूर करे, क्रोध के कुछ अच्छे परिणाम भी बताये, परन्तु अन्ततोगत्वा उसके परिणाम खतरनाक एव दुःखद ही सिद्ध होगे।

अरे भाई, औरो को सुधारने के लिये या बिगडने न देने के लिये भी क्रोध करके, स्वय की मनोभूमि को मलीन मत करना। स्वय बिगड कर औरो को सुधारने का उपदेश तीर्थंकर भगवन्तो ने नही दिया है।

श्लोक श्रुतशीलविनयसदूषणस्य धर्मार्थकामविघ्नस्य ।
मानस्य कोऽवकाश मुहूर्तमपि पण्डितो दद्यात ?२७।।

अर्थ श्रुत शील और विनय को दूषित करने वाले एव धर्म और अर्थ काम-पुरुषार्थ म विघ्नकारक ऐसे मान को कौन विद्वान पुरुष एक पल के लिए भी अपनी आत्मा म स्थान देगा ?

विवेचन यदि तुम ज्ञानी हो, शास्त्रज्ञ हो, तो तुम्हे गर्व नही करना चाहिए। दुनिया ज्ञानी से नम्रता की अपेक्षा रखती है। प्रजा शास्त्रज्ञ से विनम्रता की आशा करती है। शिष्ट सज्जन पुरुष, समझदार व्यक्ति तुम्हे नम्रता की मूरत और कोमलता से भरापूरा देखना चाहेंगे। यदि तुम अभिमान करोगे तो तुम्हारे व्यक्तित्व पर कलंक का टीका लगेगा। लोग कहेंगे 'क्या यह ज्ञानी है ? ज्ञानी और अभिमान का पुतला ? ज्ञान से गर्व का त्याग करना चाहिए, अभिमान को भूलना चाहिए, उसके बदले ज्ञानी बन कर ही अभिमान को अपनाया ?'

गर्विष्ट ज्ञानी ज्ञान को कलकित करता है। खुद भी कलकित बनता है और जन समाज की नजर में अपने व्यक्तित्व का, अपनी प्रतिभापूर्ण प्रज्ञा का गिरा देता है। ज्ञान के महत्त्व का भी हानि पहुँचती है। ज्ञान का जो परिणाम आना चाहिए, जो फल मिलना चाहिए, वह जब मिलेगा नही तो फिर अपनेआप ही ज्ञान का अवमूल्यन होना चालू हो जायगा।

क्या तुम शीलवान हो ? ['शील' अर्थात जिन शासन की पवित्र धर्मक्रियाएँ] तुम शील की गरिमा, शील की महत्ता बढाना चाहते हो ? यदि हा, तो अभिमान का त्याग करो। गर्व को दफना दो। अभिमान से उत्पन्न हुआ अविनय तुम्हारे शील को दूषित बना डालेगा। 'यह कहा का शीलवान ? ऐसे शील से क्या मतलब ? शीलवान क्या अविनीत ? उद्धत बना व्यक्ति शीलवान कैसे ?' चाहे फिर क्यों न तुम उच्चकोटि की धर्म [illegible] हो, चाहे शास्त्रविहीत धर्मानुष्ठान करते हो, तुम्हारा [illegible] पवित्र [illegible]
अन्त करण मे बहुमान [illegible] भाव पैदा न होगे,

अभिमानी मनुष्य विनयशील तो होगा ही नही, विनयहीन व्यक्ति जन-जन के हृदय मे आदरभरा स्थान नही पा सकता। वो व्यक्ति कभी हर दिलअजीज - सर्वजनप्रिय नही बन सकता।

क्या तुम ऐसा सोच रहे हो कि 'अभिमानी बनकर भी हम तो धर्म की कल्याणमयी आराधना कर सकेंगे ?' क्या तुम ऐसा सोच बैठे हो कि 'गर्विष्ट बनकर भी हम तो धनवान बन जायेंगे ?' क्या ऐसी कल्पना मे तो नही खो रहे हो कि 'अभिमानी बनकर भी तुम रूपवती लावण्यशीला नवयौवनाओ के साथ मीठे सम्बन्ध बांध सकोगे ?

उलझिये मत, यह सारी माया-मरीचिका सी उलझने है। भ्रमणाओ की भुलभूलैया है। इस मे ज्यादा और कुछ भी नही है। क्या तुम नही जानते कि धर्म का मूल विनय है। 'विणयमूलो धम्मो' विनय नही, नम्रता नही तो फिर धर्म कैसा ? 'मूलं नास्ति कुतो शाखा ?' बिना जड का भी भला कोई वृक्ष देखा है ? अभिमानी मे नम्रता - विनय कहा से ? अभिमान विनय का घातक है। विनय नही तो धर्म नही। आईये, जरा सोचे !

क्या अर्थोपार्जन – [धन कमाने] करने मे अभिमानी मनुष्य सफल बनता है ? धनवान व्यक्ति को अभिमानी मनुष्य अप्रिय लगता है, वे तो नम्र-विनयी और मधुरभाषी मनुष्य को ही पसद करते हैं। जो श्रीमतो के प्रीतिपात्र बनते है वे सरलता से सहज ही धनोपार्जन कर लेते है। अरे! वारागना-वेश्या भी अभिमानी आदमी को नापसद करती है। घर की औरत भी अभिमानी पुरुष को नही चाहती है। विनम्र और विनीत व्यक्ति ही ससार के क्षेत्र मे सफल बन पाते है। अरे, यह तो जरा बताओ कि अभिमानी बनकर किसके अन्त.करण मे तुमने अपना स्थान बनाया ? जिन्दगी मे फिर शेष क्या रहा ? धर्म नही, धन नही, भोगसुख नही। अभिमानी व्यक्ति के जीवन मे गर्व की गरमी और अभिमान की अकड़ाई के अलावा और क्या मिलेगा ? फिर भला, अभिमान क्यो करना ? क्यो गर्व की गन्दी गलियो मे भटकना ? जबकि नम्रता की सरिता के किनारे विनय का नन्दनवन महक रहा हो। आओ, इस नन्दनवन की रम्य धरा पर अपने जीवन को प्रतिक्षण प्रसन्नता के फूलो से सजाये रखे। क्यो अभिमान का पल्ला पकड़ बैठे

हो ? यदि तुम प्रज्ञावन्त हो, बुद्धिमान हो, गुण दोष और अच्छे-बुरे का ख्याल करने वाले हो, तो फिर तुम्हें गर्व को जलांजलि दे देनी चाहिए। अभिमान की आग में अपने आप को बचाना चाहिए। यदि तुम विनीत एवं विनम्र बने रहोगे तो औरों के हृदय में तुम और तुम्हारा ज्ञान स्थान पा सकेगा। औरों के अन्तःकरण में ज्ञान एवं ज्ञानी जनों के लिए अनूठा स्थान बनेगा। तुम्हारी पवित्र धर्मक्रिया का गौरव बढ़ेगा। तुम्हारी नम्रता तुम्हें सही अर्थ में धार्मिक बनायेगी। अर्थोपार्जन, भोगसुख की प्राप्ति इत्यादि गृहस्थ जीवन के क्षेत्र में भी यह नम्रता सहायक बनेगी।

गर्व को छोड़ो। अभिमान को भूल जाओ। चाहे सम्मान मिले या अपमान मिले, चाहे सुख की शीतलता मिले या दुःख की जलन मिले, पर अभिमान को तो अपने आत्ममंदिर में भूलकर भी प्रवेश मत देना। भला, जिससे कोई फायदा नहीं, कोई हित या कल्याण नहीं, बल्कि नुकसान की भरमार! उसे फिर क्या अपनाना ? क्या उसका सहारा लेना ?

श्लोक मायाशील पुरुषो यद्यपि न करोति किंचिदपराधम् ।
सर्प इवाविश्वास्यो भवति तथाप्यात्मदोषहतः ।।२८।।

अर्थ मायावी मनुष्य, चाहे मायाजनित कोई भी अपराध या गुनाह न करता हो फिर भी स्वयं के माया-दोष से उपहत बना वह साँप की भाँति अविश्वसनीय बनता है।

विवेचन चाहे क्या न साँप शान्त सोया हो, उसका विश्वास नहीं किया जाता। उसका विश्वास करके उसे स्पर्श करना कोई बुद्धिमत्ता नहीं होगी। जैसे साँप ने सारे विश्व का, समूची मानव जाति का विश्वास खो दिया है, उसका कोई भरोसा नहीं करता, ठीक वैसे मायावी कपटी व्यक्ति भी समाज के लिए अविश्वसनीय बन गया है। तुमने माया-कपट करके, छल करके तुम्हारे व्यक्तित्व को गिराया, तुम्हारी प्रतिष्ठा को दाग लगाया। दुनिया के बीच तुम मायावी या कपटी बन कर आये, समाज की नजरों में छलिया मक्कार बन बैठे तो फिर कौन तुम्हारे पर विश्वास करेगा ?

चाहे दो या तीन बार ही तुमने माया की होगी, छल किया होगा और उससे धनसम्पत्ति कमा ली होगी। अपना कोई स्वार्थ सिद्ध कर

लिया होगा। परन्तु यदि तुम्हारे करतूतें दुनिया के सामने आ गई तो फिर दुनिया तुम्हें बे-ईमान ही मानेगी। बाद में चाहे तुम छल-कपट को छोड भी दें परन्तु तुम्हारे विकृत बने व्यक्तित्व को बदलना शायद मुश्किल हो जाय। लोग सोचेंगे "यह भले अभी सरलता का दिखावा करता हो पर इसकी सरलता मे भी दम्भ छुपा है। सरलता का दिखावा करके दुनिया के भोले लोगो को विश्वास मे लेकर वह एक दिन सबको धोखा देगा। इसका कपटी स्वभाव नही सुधरने का। यह तो, सो चूहे मारकर बिल्ली हज करने चली है ' वगैरह. । ऐसे तो अनेक विचार तुम्हारे लिए लोगो मे फैलेगे।

तुम दुनिया की उपेक्षा-अवगणना नही कर सकते। 'मुझे दुनिया से क्या लेना, मुझे किसी की परवाह नही, लोगो का विश्वास हो या ना हो, मुझे क्या वास्ता इन सबसे?' हो सकता है गुस्से मे ऐसे शब्द तुम बोल दो, पर ससार के व्यवहार मे अन्य मनुष्यो का विश्वास सपादन किये बिना नही चलता। हा, अविश्वास की कालिमा से कलकित जीवन जीने वाले मनुष्य भी तुम्हे मिल जायेगे, परन्तु जब तुम उनके जीवन की गहराईयो मे, उनके अतस्तल मे झाकोगे तो सिवाय अशान्ति, क्लेश और प्रवचना और कुछ नही मिलेगा। हाँ, ऐसा जीवन यदि तुम्हे पसन्द हो तो फिर चलते रहो माया-कपट एव छल के रास्ते। परन्तु ध्यान रखे— अत्यन्त अशान्ति की आग मे सुलगते रहोगे।

तुम अपने पारिवारिक जीवन मे, परिवार के सदस्यो के साथ माया-कपट की जाल बिछाओगे और उन्हे यदि तुम्हारी इस मायाजाल की खबर लग गयी तो तुम अपने ही परिवार का विश्वास खो दोगे। पत्नी-पुत्र-पुत्री सारे स्वजन तुम्हारी तरफ शका की दृष्टि से देखने लगेगे। परिवार के प्रेम-स्नेह मे कमी आ जायेगी। अरे! तुम्हारा हो परिवार तुमसे नफरत करेगा।

समाज के साथ तुमसे धोखाधडी की, व्यापार और धार्मिक सस्थाओ के हिसाब-किताब मे गोलमाल की, तुम्हारी इस दगाबाजी का परदा उठ गया, समाज की निगाहो मे तुम 'धोखेबाज', 'मक्कार' बन गये, तुम्हारी तरफ हजारो लोगो की नजरे नफरत बरसायेगी। जबाने गालीया बरसायेगी। शायद तुम्हारे लिए घर से बाहर निकलना मुश्किल हो

जायेगा। फिर चाहे तुम माया-दम्भ करना छोड़ भी दोगे, तो भी दुनिया की दृष्टि मे तो तुम अविश्वासपात्र ही बने रहोगे।

तुम अपनी ही गलती का शिकार बन जाओगे। हो सकता है दूसरो पर दोषारोपण करके तुम शायद अपने मन को समझाते रहो, परन्तु इतने मात्र से अविश्वास की 'इमेज' दूर नही होगी। माया कपट एवं दम्भ से भरा तुम्हारा भूतकाल दुनिया नही भूलेगी।

मायावी गृहस्थ हो या मायावी साधु हो, कोई भी हो, माया का आवरण सबके मन मे केवल अशान्ति ही उत्पन्न करेगा। अशान्त मनुष्य धर्म की कल्याणमयी आराधना भी सही रूप से नही कर सकता है। मनुष्य अपने पापाचरणो को आवृत्त करने के लिए भले माया का सहारा ले, परन्तु उसका पापाचरण उसकी आत्मा को आखिर, चंचल एवं अशान्त ही बनायेगा। इतना ही नही, मायावी के सर पर अनेक आपत्तियाँ घिरी रहती हैं। कब वो किस आपत्ति के शिकंजे में फंस जाय, कहा नही जा सकता।

इतनी खतरनाक माया को कौन बुद्धिमान व्यक्ति अपने जीवन मे स्थान देगा? कौन माया का सहारा लेगा? अतः हे बुद्धिमान मनुष्यो! प्रज्ञावंत पुरुषो! माया को छोड दो। सरलता और निर्मलता को अपनाओ! सरलता की छाया, निर्मलता का साथ तुम्हे अनंत संपत्ति के उन शिखरो पर स्थापित करेगी जो कि सुख शान्ति के सदास्थायी निवासरूप है।

लोभ के विपाक

श्लोक सर्वविनाशाश्रयिण सर्वव्यसनैकराजमार्गस्य।
लोभस्य को मुखगत क्षणमपि दुःखान्तरमुपेयात्? ॥२६॥

अर्थ सारे अपायो का आश्रयस्थान सारे दुःखो का रास्ता। का मुख्य मार्ग जो ऐसा लोभ, उसका शिकार बना हुआ कौन जीव [सामर्थ्यवान पुरुष] सुख प्राप्त करता है? अर्थात कोई नही।

विवेचन सारे विनाशो का आश्रयस्थान लोभ!
सारे अपायो का निवासस्थान लोभ!

जितने विनाशकारी तत्त्व हैं, जितने नुकसान करने वाले तत्त्व हैं, ये सारे के सारे लोभी के आश्रयस्थान मे आराम पा रहे हैं और कहीं

भी इन तत्वो को ग्राश्रय नही मिलता है। चोरो का, परस्त्रीलपटो का, ग्रोर वैर की गाठे वाधनेवालो का ग्राश्रयस्थान लोभ है। लोभ के ग्राश्रयस्थान मे तुम्हे चोर मिल जायेगा। परस्त्री लपटो को ग्रौर कही खोजने जाने की जरूरत नही, लोभ के विश्रामगृह मे ही मिल जायेंगे। क्रूरता को भला ग्रौर कहा ढूढोगे? लोभ के साये मे ही वह तुम्हे मिल जायेगी। ऐसे ही लोभ एक राजमार्ग–मुख्य रास्ता High Way Road है। सारे दु ख-दर्द एव पीडाग्रो के पास पहुँचने का वहुत ही सीधा ग्रौर ग्रच्छा रास्ता। या फिर सारे व्यसन तुम्हे लोभ के राजमार्ग पर ग्रा मिलेगे। राजमार्ग है ना? ग्रत सवको इस पर चलने की इजाजत है। सवका ग्रपना हक है। किसी पर कोई प्रतिवन्ध या नियन्त्रण नही है। परस्त्री–गमन, चोरी, जुग्रा, शिकार, मद्यपान, वचनविकार, कपटलीला इत्यादि सारे के सारे दूर्व्यसन लोभ के मुख्य रास्ते पर मजे से चले जा रहे है। लोभदशा ग्रात्मा मे प्रवल वनते ही महाविनाशकारी पापो का ग्रागमन चालू हो जायेगा। भयकर व्यसनो का ग्रड्डा-डेरा तुम्हारी ग्रात्मभूमि वन जायेगा। लोभ मात्र धन या सम्पत्ति का ही नही होता है, ग्रपितु सुखमात्र का लोभ। पाच इन्द्रियो के तमाम विपयसुखो का लोभ! शव्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्श के प्रिय मनचाहे सुखो का लोभ। सुखो को प्राप्त करने की ग्रौर प्राप्त सुखो के उपभोग की तीव्र वासना! यह वासना ही जीवो को व्यसनो का गुलाम वना देती है। पर क्या ऐसा लोभी जीव, व्यसनो का गुलाम वना जीव, सुख या शान्ति को प्राप्त कर सकता है? प्रसन्नता या प्रीति पा सकता है? नही, जरा भी नही। जो लोभदशा के पल्ले पडा, वो न तो कोई सुख पा सकता है ग्रौर नही कोई शान्ति-प्रसन्नता का ग्रनुभव कर सकता है। उसका सारा जीवन दुःखदर्द ग्रौर वेदना से भर जाता है। पीडा ग्रौर परिताप के सिवा उसे कुछ नही मिलता है। क्या तुम जानते हो, 'विपाक सूत्र' के उस श्रेष्ठीपुत्र ग्रज्भितक को? वैपयिक सुखो को तीव्र लालसा ने उसको व्यसनो का गुलाम वना दिया। वह शरावी वना, जुएवाज वना, मासभक्षी ग्रौर वेश्यागामी भी वन गया। कामध्वजा वेश्या के साथ भोगसुखो मे डुवा रहा. परिणाम क्या? नतीजा क्या नीकला? नगर के राजा ने कामध्वजा को ग्रपने उपभोग के लिए पसन्द कर ली, उज्भितक को उसके पास नही जाने के लिए कड़क सूचना दे दी गयी। पर वेश्या के सुख का गुलाम वना वो, विना वेश्या के पास गये कैसे

रह सकता था ? चोरी छुपी से वह गया ही। राजा के सैनिको ने उसे पकड लिया। राजा के आदश से सनिको ने उसे घार यातनाएँ दी और अन्त म उसे शूली पर लटका दिया। कितनी करूण एव यातनापूण मृत्यु ?

पच्चीस वष का वो खूबसूरत नवयुवान ! सुखोपभोग की तीव्र वासना के कारण शूली पर मौत मिली। मरकर गया पहली नरक मे। सोचो, क्या ऐसे दारुण लोभ को जीन्दगी मे स्थान देना, उसका सहारा लेना क्या उचित है ? और ऐसे लोभ के पल्ले पडकर सुख या शांति मिलेगी भी सही ?

अज्ञानी जीव सुख को प्राप्त करने के लिए लोभ का सहारा लेता है। मानो जीने के लिए जहर का प्याला पी रहा हो ! अपने आपको सुरक्षित करने के लिए शेर की गुफा का स्थान खोज रहा हो। शीतलता पाने के लिए धधकते हुए अगारो पर कदम रखता हो । कौन मनाए-समझाए उसे ? विनाशकारी तत्त्वो को वह अपने परम हितकारी समज बठा है। धाखेबाज को विश्वासपात्र समझ रहा है ! कौन बचाये उसे ?

लोभ तो सारे पापो की जड है। लोभी कौन सा पाप नही करता है ? वो तो हर कोई पापाचरण के लिए तय्यार। वह पाप मानता ही कहा है ? उसे तो बस, इन्द्रियो के विषयसुख ही नजर में आ रहे हैं। परन्तु बेचारा जीव उन सुखो का उपभोग कर न करे, इतने मे भयकर दु ख-दद की ज्वालाएँ उसे घेर लेती हैं। दुर्गतिओ के भीषण दु ख उसे तहस-नहस कर देते हैं।

ध्यान रखो, सुख पाने के लिए लोभ के पास मत जाओ। हो सकता है, दूर से तुम्हें सुख दिखाई भी दे, पर वह केवल तुम्हारी भ्रमणा की भूलभूलय्या है। सुख की ओट मे तुम सोच भी न सको ऐसे भयानक दु ख छुप कर बठे हैं। कही ऐसा न हो 'लेन गई पूत और खो आई खसम' ! सुख की खोज हम दु ख की गहरी खाई मे धकेल न दे !

संसारमार्ग के निर्माता

श्लोक एवं क्रोधो मानो माया लोभश्च दु खहेतुत्वात् ।
सत्वानां भवसंसारदुर्गमार्गप्रणेतारः ॥३०॥

अर्थ इस भांति ये क्रोध, मान, माया और लोभ जीवात्माओं के दु ख के कारणरूप होने से नरक वगैरह ससार के भयकर मार्ग का निर्माण करने वाले हैं।

विवेचन . भीपण ससार का भयकर रास्ता !

नरक गति और तिर्यंच गति ससार की भयानक गतियाँ है। नरक गति अपने लिए परोक्ष है, परन्तु तिर्यंच गति तो प्रत्यक्ष है। पशु-पक्षी एव कीडो का जीवन तो अपने सामने ही है। क्या उनकी जिन्दगी पर मडराये हुए दु खो के घनघोर वादल तुम्हे नही दिख रहे है? वूचडखाने मे क्रूरता से कत्ल हो रहे इन मवेशीओ की, जानवरो की कपकपी फैलाने वाली चीखे क्या तुम्हें सुनायी ही नही देती? शिकारी की अगन भोकती वन्दूको से वीधे गये, तीर से घायल होकर जमीन पर गिरे हुए और दर्द के मारे तडपते हुए किसी पखो की वेदनाभरी अवस्था नही देखी! किसी नदी या सरोवर के किनारे वैठकर मच्छीमार जव अपनी जाल मे फसी हुई मछलियो को पत्थर की चट्टानो पर पटक पटक कर मौत के घाट उतारता है, उस समय का थर्रा देनेवाला दृश्य क्या तुमने नही देखा? जीन्दे के जीन्दे मासूम वछडो को गरम गरम खौलते हुए पानी मे डूवो कर उनकी चमडी उतारने वालो के कारनामे क्या नही सुने?

तिर्यंच योनी के ससार की भीपणता के ये तो दो चार ही नमूने हैं, वाकि इतनी ही नही, इससे भी ज्यादा यातनाओ से भरा तिर्यंचो का ससार है।

और नरकगति? चाहे उस दर्द, पीडा और परितापो से भरा ससार आज हम हमारी नजरो से नही देख सकते है, पर प्रत्यक्षदर्शी ज्ञान-दृष्टि के माध्यम से ज्ञानी पुरुपो ने हमे वतलाया है। क्या तुम्हे नजरो से देखना है? आँखो से देखने का आग्रह मत रखो, अपन देख ही नही पायेंगे उन भयकर वेदनाओ को। अपना मानव-हृदय उन नरकवासो

की भयकर वेदनाओ को सह नही सकेगा। दिल और दिमाग बेहोश बन जायेगा। अपन शायद जमीन पर टूट गिरेंगे। अरे, अपन तो बूचडखाने मे हो रही पशुओ की कत्लेआम भी देखने म समर्थ नही हैं। तो फिर इतने भावुक हृदय वाले मनुष्यो के लिए, नरकावास की कातिल वेदनाओ को, नृशंस हत्याओ का देखना कहा तक शक्य होगा? इसलिए देखने की उत्कठा को दबाकर उन वेदनाओ को शास्त्रो के माध्यम से जान लेना ही उचित है।

ऐसी दु खपूर्ण नरक तिर्यंच गति का रास्ता भी इतना ही डरावना है। इतना ही भयकर है। इतना ही दु खपूर्ण एव सक्लेशपूर्ण है। वह रास्ता है हिंसा एव झूठ का, चोरी का, व्यभिचार और परिग्रह का।

अर्थात् हिंसा झूठ चोरी दुराचार और परिग्रह के रास्ते पर चले तो सीधे ही नरक तिर्यच गति मे पहुँच जाय। बीच भूलने–भटकने का सवाल ही नही। रास्ता तो भूले ही कैसे? इस मार्ग का बताने वाले क्रोध-मान-माया-लोभ साथ ही रहते है! इस मार्ग का निर्माण करने वाले ही वे खुद है। रास्ते का निर्देश देने वाले भी वे हैं और रास्ते मे हमसाया-साथी बन कर चलने वाले भी वे स्वय हैं। फिर भटकने की बात ही कहाँ?

दुर्गति के रास्ते का प्रवर्तन करने वाले ये कषाय है। मनुष्यो को जीवो को, इस रास्ते पर चलने की सतत प्रेरणा देने वाले ये कषाय हैं और दुर्गति मे भली भाति पहुँचाने वाले भी ये कषाय हैं।

क्या क्रोध ने परशुराम को क्षत्रिय हत्या का उपदेश नही दिया और नरक म नहीं धकेला? अभिमान ने क्या रावण को युद्ध के मैदान पर नही भेजा और बुरी तरह पराजित करके सीधे ही नरक म नहीं भेजा? माया ने रुक्मी राजा के हृदय की अशुभ भावना को दुर्ध्यान का उपदेश देकर नरक और तिर्यच गतियो म नही भटकाया क्या? क्या लोभ ने मम्मण शेठ को कृपणता के पाठ नही सिखाये? रौद्रध्यान सिखला कर उसे सातवी नरक म नही पहुँचाया? क्रोध के आदेशो अभिमान की प्रेरणाओ, माया की सलाहो और लोभ की लालचो मे फँसे हुए भ्रमित बने हुए जीव, हिंसा झूठ और दुष्ट आचरण के भयानक रास्ते पर चल देते हैं। नरक और तिर्यंच गति के भीषण ससार मे

अपने आप को गिरा देते है। अनत यातनाओ को सहन करते हुए जीवो के प्रति ये क्रोध-मान-माया-लोभ को जरा भी दया या सहानुभूति नही है। इन्हे बराबर पहचानिये। कही पहचानने मे गलती न हो जाय।

कषायों की जड़ें

श्लोक **ममकाराहंकारावेषां मूलं पदद्वयं भवति।**
रागद्वेषावित्यपि तस्यैवान्यस्तु पर्याय· ॥३१॥

अर्थ यह क्रोधादि कपायो की जड मे दो वातें है ममकार [ममत्व] और अहकार [गर्व] उसके ही [ममकार और अहकार के] राग द्वेष आदि अन्य पर्याय है।

विवेचन : क्रोध वगैरह कषायो के दारुण परिणाम जानकर कपकंपा उठा जीव, उन कषायो को अपनी आत्मभूमि मे से खदेड देने के लिए तैयार हो जाता है तव वह उन कषायो की जडे [उसके मूलभूत कारण] खोजता है। जड़ से ही नष्ट कर देने पर पुन. उसका उत्पन्न होना सभव नही। जड यदि सलामत रहे और ऊपर-ऊपर से शायद उसको तहसनहस भी कर दिया जाय तो कभी न कभी तो पुन. पैदा हो सकते है।

अर्थात् अल्पकालीन–कुछ समय के लिए क्रोध नही करने से, मान नही करने से, माया और लोभ नही करने मात्र से काम नही बनने का। मात्र उन कषायो का उपशमन करने से आत्मा अकषायी नही वन पायेगी। उनकी तो जड़े ही नष्ट कर देनी होगी। इसलिए ही ग्रन्थकार महामना महर्षि उन कपायो को जडे वतलाते है :

ममकार और अहकार !

ये है कषायो की जडे !

माया और लोभ की जड है ममकार और क्रोध एव मान की जड है अहकार। ममत्व एव अहत्व की जडे हमारी आत्मभूमि की गहराइयों मे फैली हुई है। वरगद के वृक्ष की जड़े कभी देखी है? कितनी गहरी और जमीन मे चौतरफ फैली हुई होती है? उसमे भी ज्यादा गहरी और ज्यादा फैली हुई उन ममत्व और अहकार की जडे आत्मा की धरती मे रही है। ममत्व को वासना क्या कोई एक प्रकार की है?

'यह मेरा'–यह वासना कितने विषयों से लपट खडी है ? स्वजन मेरे, परिजन मेरे, धन-सपत्ति मेरी, कुटुम्ब परिवार मेरा, यह शरीर मेरा।
जिन जिन पदार्थों को अपना माना ममत्व बध गया। ऐसे भिन्न-भिन्न ममत्व के माध्यम से माया उत्पन्न होती है लाभ पदा होता है। जिसे भी अपना माना, मेरा समझा, उसको पाने की तीव्र चाहना पदा होती है, वो ही लोभ। उसकी रक्षा के लिए फिर माया। जड बतला दी, जान ली न ? अब उन्हे रखनी या काट डालनी, वो तो अपनी अपनी इच्छा पर निर्भर है। क्रोध और मान की जड है अहत्व– "मैं"। अपनपन का ख्याल "मैं"। ऐसा विचार कितना खतरनाक और भयानक है ? 'तू नीच, मुझ गाली सुनाता है ? तू अधम, मुझे मारना चाहता है ?' यह धधक उठा क्रोध। 'मेरा अपमान ? तू मुझे क्या समझता है ?' यह पदा हुआ अभिमान। अह की कल्पना से ही क्रोध और मान पैदा होते हैं। अत क्रोध और मान की जड है अहकार।

ममकार कहिये या राग।
अहकार कहिये या द्वेष।

यह 'अह और मम' मोहराजा का महामत्र है। इस मत्र स तो मोहराजा ने सारे ससार को पागल बना रखा है। उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने 'ज्ञानसार' म कहा है

"अह ममेति मन्त्रोऽय मोहस्य जगदान्ध्यकृत्।

श्री उमास्वाती भगवन्त न "अह-मम' को कषायो की जड बतलाया तो उपाध्यायश्री ने "अह मम को मोह का महामत्र बतलाया। असल मे तो यह दोनो राग और द्वेष के ही दो नाम। यानी कषायो की जड हैं राग और द्वेष। इन राग और द्वेष की जड आत्मा की अथाह गहराईयो मे फली हुई हैं। इतनी मजबूती से ये जडें जमी हुई हैं कि उन्हें उखाड फेंकना कोई मामूली या सहज-सरल कार्य नहीं है, जल्द मिट जाय वसा नहीं है।

जब तक राग और द्वेष की जड जमी हुई हैं तब तक कषायो के जहरीले वृक्ष हरेभरे रहेंगे। ममत्व और अहकार की कामनायें-वासनायें जब तक प्रबल हैं, तीव्र हैं तब तक कषायो की कालिमा रहेगी ही। इसलिए ममत्व और अहकार की वासनाओ का पुन पुन कर याहर

फेकना होगा। तब ही कही कषायो का नाश होगा। कषायो को छेड़ने की कोई जरूरत नही है, राग और द्वेष पर सतत और सख्त आक्रमण करो। कषायो को अपने आप गिरना होगा। कषायो का समूलोच्छेद करने के लिए राग-द्वेष यानी अहंत्व और ममत्व को करारी हार देनी होगी।

अनादि काल से आत्मा की धरती पर अपना अड्डा जमा कर बैठे हुए राग-द्वेष को करारी हार देने से पहले उनके स्वरूप को जानना जरूरी होगा। इसलिए ग्रन्थकार महात्मा उसकी पहचान करवा रहे है। विशेष पहचान कराने के लिए एक विशेष कारिका कह रहे है।

श्लोक मायालोभकषायश्चेत्येतन्राग संज्ञितं द्वन्द्वम्।
क्रोधोमानश्च पुनर्द्वेष इति समास निर्दिष्ट· ॥३२॥

अर्थ : माया और लोभ का युगल [Couple] राग है एव क्रोध-मान का युगल द्वेष है, ऐसा सक्षेप मे-थोडे मे कहा जा सकता है।

विवेचन : चार कषायों का सक्षेपीकरण राग और द्वेष के अन्तर्गत हो सकता है। जब जब राग शब्द सुने तब तब माया और लोभ की कल्पना आनी चाहिए। माया और लोभ का आचरण होते ही तुरन्त 'मैंने राग किया' यह बात समझ मे आनी चाहिए।

'द्वेष' शब्द कर्णपट पर आते ही क्रोध और मान कल्पना मे उभर आने चाहिए। क्रोध से द्वेष का ज्ञान होता है अर्थात् क्रोध द्वेष के रूप मे मशहूर भी है, पर अभिमान द्वेष के रूप मे पहचाना नही जा रहा है, इसलिए अभिमान करने पर भी "मैंने द्वेष किया", यह कल्पना नही आती है! हालाकि अभिमान के साथ ही क्रोध किसी न किसी बहाने आ मिलता है। फिर भी सामान्य बुद्धि का व्यक्ति 'मान द्वेष है,' ऐसा नही समझ पाता है।

'अभिमान द्वेष है'-इस बात की स्पष्टता करके भगवान उमास्वाति द्वेष और मान की प्रगाढ मैत्री-दिलोजान दोस्ती बतला रहे हैं। क्रोधी व्यक्ति अभिमानी होगा ही और अभिमानी व्यक्ति क्रोधी होगा ही! जहाँ क्रोध वहाँ अभिमान, जहाँ अभिमान वहाँ क्रोध। ये दोनों है द्वेष के रूप। ठीक वैसे ही माया और लोभ! राग के बिना माया नही और राग के बिना लोभ नही। राग हो तभी माया होगी और राग

होगा तभी लोभ होगा। लोभी मायावी होगा ही। मायावी व्यक्ति लोभी होगा! लोभवृत्ति व्यक्ति को माया-छल करने के लिए प्रेरित करती है। मनुष्य माया-कपट तब ही करता है जबकि उसे कोई विषय का, कोई वस्तु का लोभ पैदा होता है।

ग्रन्थकार अब आगे चार कषायों की बजाय उसके संक्षिप्त रूप 'राग-द्वेष' के माध्यम से ही हर एक बात बतलायेंगे, अतः जब जब 'राग-द्वेष' शब्द का प्रयोग हो तब क्रोध, मान, माया, लोभ [कषाय] समझने का हैं। वे राग और द्वेष, कर्मबन्धन में कैसे निमित्त-सहायक बनते हैं, वो समझाने के लिए ग्रन्थकार आगे कहते हैं।

कर्मबंध के कारण

श्लोक मिथ्यादृष्ट्यविरमणप्रमादयोगास्तयोर्बलं दृष्टम्।
तदुपगृहीतावष्टविधकर्मबन्धस्य हेतू तौ ॥३३॥

अर्थ मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और मन-वचन-काया के योग ये चार उन राग-द्वेष के उपकारी हैं। ये मिथ्यात्वादि से उपगृहीत राग और द्वेष आठ प्रकार के कर्मबन्धन में निमित्त-सहायक बनते हैं।

विवेचन राग और द्वेष का सहायक मंडल!

इस सहायक मंडल के सहारे सहारे राग और द्वेष ने आत्मभूमि को कर्मों का डरावना जंगल-बीहड़ वन बना रखा है। अपने राग और द्वेष कर्मबन्धन के हेतु नहीं बन पाते। अरे, इस सहायक मंडल के जोर पर तो उनका अस्तित्व टिका हुआ है! सहायक मंडल नहीं तो शायद रागद्वेष भी नहीं। आइये, अपने रागद्वेष के सहयोगी मंडल की जानकारी लें, परिचय करें।

(१) यदि डरावना राक्षस की आकृति सा जो दिखाई दे रहा है वह है मिथ्यात्व। इस जनाब का एक ही काम है — जीवात्मा को सुदेव-सुगुरु-सुधर्म पर राग नहीं करने देना। कुदेव-कुगुरु और कुधर्म पर राग करवाना। जिनोक्त तत्त्वों पर आत्मा श्रद्धान्वित न बन जाए इसकी पूरी निगरानी यह मिथ्यात्व रखता है।

(२) दूसरा सहायक है अविरति। रंग और रूप से बहुत खूबसूरत! हर कोई मोह जाय, हर कोई फँसता जाय ऐसा गजब का

आकर्षण है इसमे। महाजालिम है यह औरत! सारे देवलोक पर इसका अपना वर्चस्व है। समग्र नरक भूमि पर इसका अपना साम्राज्य है। मानवलोक मे इसने सब पर अपने डोरे डाल रखे हैं। बहुत सतर्क रहती हय यह। किसी को भी हिंसा वगैरह पापो को छोडने नही देती। कोई व्रत, नियम या प्रतिज्ञा नही लेने देती। हेय का त्याग और उपादेय का स्वीकार नहीं करने देती। राग-द्वेष की 'केबिनेट' मे यह औरत अपना अनूठा स्थान रखती है।

(३) इधर देखिये, ये जो जनाब मजे से खर्राटे भर रहे है, उनका नाम है प्रमाद। इनका कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक है। क्षेत्र [Area] बहुत विशाल-लम्बा–चौडा है। राग-द्वेष को पूर्ण सहयोग देकर आठ प्रकार के कर्मो के बन्धन का महान् कार्य सम्पन्न कराने वाले प्रमाद भैया बोलने मे बड़े मीठे और रसीले है। देशकथा, राजकथा, स्त्रीकथा और भोजन-कथा के तो ये भैय्या खजाने हैं। भौतिक विषयो के आकर्षण की–खीचाव की कोई कमी नही, कोई सीमा नही। पाचो इन्द्रियो के साथ स्वच्छंद विहार करने मे बडे कुशल और उधने मे कोई सानी नही रखते। यह प्रमाद–भैया भी राग-द्वेष के जिगरजान मित्र है! साथी हैं।

(४) अब जो महाशय हैं वो है योग। जब तक ये जनाब मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद के साथ-साथ राग-द्वेष के मडल मे रहते है तब तक बडी वफादारी से कार्य करते है। वो अपने तन-मन और वचन, तीनो के माध्यम से रागद्वेष को पूरा सहयोग-साथ देते है। राग-द्वेष आठो तरह के कर्मो के बन्धन का भगीरथ कार्य इनसे बड़ी आसानी से करवाते हैं। गन्दे और घिनौने विचार, कर्कश और कडुए बोल और हिंसा-झूठ वगैरह पापो का आचरण।

इस चाडाल चौकड़ी के पूरे सहयोग से राग और द्वेष, कर्मो के बन्धन मे निमित्त बनते है। अर्थात् आत्मा मे जब मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और योग है तब तक राग-द्वेष द्वारा आत्मा गाढ कर्मो को बाधती है! जब तक जीवात्मा सर्वज्ञभाषित तत्वार्थ पर श्रद्धावान नही बनती हे तब तक राग-द्वेष ज्यादा प्रबल रहते है और इस कारण वो गाढ कर्मबन्धन करती रहती है। अविरति का उदय आत्मा को पापत्याग की मनोवृत्ति पैदा नही होने देती है। पापत्याग की प्रवृत्ति नही करने देती है। अतः आत्मा निरन्तर अनत कर्मो से मलीन बनी

रहती है। प्रमाद तो आत्मा को बहुत प्यारा है। विषयलालुपता, इन्द्रियपरवशता, विकथा-प्रचरना और निद्रा-प्रियता में ऐसी तो लीन हो जाती है कि उसे होश ही नही रहता, बुधि ही नही रहती कि 'मैं इतने गाढ और चीकने कर्म बांध रही हूँ। मन, वचन और काया के योग तो इन तीनों का अनुसरण करते है। तीनों का मानसिक, शाब्दिक और शारिरीक शक्ति देते है और उस शक्ति से ताकत में आत्मा मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद का गठ बनाकर कर्मबन्ध करती रहती है।

राग-द्वेष अकेले तो कुछ नही कर सकते। वो इन चाडाल चौकडी के सहारे ही टिके हुए है। यदि ये सहारे छिन लिये जाय तो फिर राग द्वेष महा उपकारी भी बन सकते है। मिथ्यात्व का साथ छोडकर सम्यक्त्व का साथ ले ले, अविरति का सानिध्य छोडकर विरति से प्रेम करा ला जाय, प्रमाद को भूलकर अप्रमाद को मित्र बनाले, यदि ऐसा हो तो आत्मा धन्य बन जाय। आत्मा के पुनित सहयोग में मन वचन काया आ जाय, फिर तो पूछना ही क्या? उन्नति के शिखर मानो चरण चूम लेंगे! प्रगति की पगदडीयां पुष्पों से बिछी हुई होगी।

श्लोक सज्ज्ञानदर्शनावरणवेद्यमोहायुषां तथा नाम्न ।
गोत्रान्तराययोश्चेति कर्मबन्धोऽष्टधा मौल ॥३४॥

अर्थ यो कर्मबन्ध मूलरूप से आठ तरह का होता है (१) ज्ञानावरण का (२) दर्शनावरण का ( ) वेदनीय का (४) मोहनीय का (५) आयुष्य का (६) नाम का (७) गोत्र का और (८) अन्तराय का।

विवेचन ग्रन्थकार महर्षि यहा पर राग द्वेष से होते मौलिक कर्मबन्ध का निर्देश दे रहे है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और योग के सहयोग से राग,द्वेष मूलतया आठ कर्मों का बन्ध करते हैं। आठ प्रकार के कर्मों से आत्मा बंधती है। बन्धन में आती है। इन कर्मों को पहचानिये।

(१) ज्ञानावरण यह कर्म आत्मा के ज्ञानगुण को ढांप देता है। क्षायिक ज्ञान को और क्षायोपशमिक ज्ञान दोनो को आवृत्त करता है। परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों ज्ञानों को आवृत्त करता है। इसलिए आत्मा में अज्ञानता, बुद्धिहीनता आदि नजर आते हैं।

(२) दर्शनावरण यह कर्म आत्मा की वस्तुदर्शन दर्शनशक्ति को आवृत्त करता है। आत्मा के दर्शनगुण को आवृत्त करता है। ज्ञान

तरह की निन्द्राओ का समावेश इसी कर्म मे होता है। क्योकि निद्रा भी दर्शनशक्ति को आवृत्त करती है।

(३) वेदनीय · सुखानुभव और दुःखानुभव इस कर्म के ये दो काम है। यह कर्म आत्मा के सहज स्वाभाविक सुख का अनुभव नही करने देता है।

(४) मोहनीय जिससे आत्मा मोहित हो उसका नाम मोहनीय। उल्टी समझ और क्रोध-मान-माया-लोभ ये सब इस कर्म की देन है। हास्य वगैरह नो–कषाय की विकृतियाँ भी इस कर्म की देन है। आठो कर्मो मे इस कर्म की प्रबलता-जालिमगीरी गजबनाक है।

(५) आयुष्य इस कर्म की रहम नजर से जीव जी रहा है, प्राणो को धारण कर रहा है। जन्म और मृत्यु इस कर्म के ही नजराने है।

(६) नाम जीव को गति (योनि) देना, जाति (एकेन्द्रियादि) सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, यश, अपयश, सौभाग्य, दुर्भाग्य, रूप, रस वगैरह देने का कार्य इस कर्म का है। समुचे शरीर की सरचना इस कर्म को आभारी है। आत्मा के अरुपीपन गुण को यह कर्म आवृत्त करता है।

(६) गोत्र · यह कर्म उत्तम कुल की प्राप्ति, उत्तम जाति की प्राप्ति, प्रतिभा और एश्वर्य आदि देता है। वैसे निम्न कुल-जाति वगेरह भी यह कर्म देता हे। आत्मा के 'अगुरुलघु' गुण को यही कर्म आवृत्त करता है। उच्च-नीच इसी कर्म पर आधारित है।

(८) अन्तराय . यह कर्म, सामने लेने वाला हो, देने की वस्तु भी पास हो फिर भी देने की भावना पैदा नही होने देता है। वैसे इच्छित सुखो की प्राप्ति नही होने देता है। मिले हुए सुखो का उपभोग नही करने देता है। आत्मा की अनत शक्ति को इस कर्म ने आवृत्त कर रखा है।

इस तरह जीव, मिथ्यात्वादि सहित रागद्वेष से मौलिक कर्मबध करता है। अपने किये हुए कर्मो के अनुसार कर्म उदय मे आकर अपना प्रभाव बताता है। चारो गति मे परिभ्रमणशील जीवो का आतरबाह्य सारा व्यक्तित्व इन आठो कर्मो की देन है। आत्मा का मौलिक स्वरूप जो अनतज्ञान, अनतदर्शन, अव्याबाध स्थिति, वीतरागता, अक्षय स्थिति,

अरूपीपन, अगुरुलघुता और अनंत वीर्य हैं, वो आत्मा में दबा पड़ा है, आवृत्त हुआ पड़ा है। कौन-कौन सी प्रवृत्ति से कर्म-कैसे कर्म बंधते हैं और इन बंधे हुए कर्मों का जीवात्मा पर क्या प्रभाव गिरता है, इसकी जानकारी, इसका विज्ञान अवश्य अपने पास होना चाहिए। इस श्लोक में मात्र मूल प्रकृतिबंध आठ प्रकार का बताकर ग्रंथकार अब इनके अवान्तर उत्तर भेद बतायेंगे।

कर्म सिद्धान्त-कर्म विज्ञान बुनियाद है। मौलिक कर्मबन्ध सारे कर्म के तत्त्वज्ञान (Philosophy) की आधार शिला है। इन आठों कर्मों का स्वरूप अच्छी तरह समझना जरूरी है।

आत्मा की स्वभाव दशा-वास्तविक स्थिति को आवृत्त करके विभाव दशा में घुमाने वाले ये आठों कर्म समूची जीवसृष्टि पर छाये हुए हैं। कोई भी सांसारिक जीवात्मा इन कर्मों के प्रभाव से बची हुई नहीं है। इन कर्मों की पहचान अधिक गहराई में करवाने के लिए उसके अवान्तर प्रकार अब बता रहे हैं।

कर्मों के उत्तर भेद

श्लोक पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिश्चतुः षट्कसप्तगुणभेदः ।
द्विपञ्चभेद इति सप्तनवतिभेदास्तथोत्तरतः ॥३५॥

अर्थ इस तरह क्रमशः पांच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, बयालीस (६×७) दो और पांच इस तरह (आठ कर्मों के) सित्तानवें उत्तर भेद होते हैं।

विवेचन मूल कर्मबन्ध आठ तरह का होता है। उत्तर भेदों के रूप में सित्तानवें प्रकार से कर्मबन्ध होता है। यहाँ उन मूल कर्मों के क्रम से उत्तर भेद यहाँ में बतलाये गये हैं। उन भेदों के नाम संक्षेप में बता रहे हैं।

(१) ज्ञानावरण १ मतिज्ञानावरण, २ श्रुतज्ञानावरण, ३ अवधिज्ञानावरण, ४ मनःपर्यवज्ञानावरण और ५ केवलज्ञानावरण

(२) दर्शनावरण १ चक्षुदर्शनावरण, २ अचक्षुदर्शनावरण, ३ अवधिदर्शनावरण, ४ केवलदर्शनावरण, ५ निद्रा, ६ निद्रा निद्रा ७ प्रचला, ८ प्रचला प्रचला, ९ स्त्यानर्द्धि

(३) **वेदनीय** १ शातावेदनीय २ अशातावेदनीय

(४) **मोहनीय** १ सम्यक्त्व मोहनीय, २ मिश्र मोहनीय, ३. मिथ्यात्व मोहनीय, ४ अनन्तानु वन्धि क्रोध, ५ अ मान, ६. अ माया, ७ अ लोभ, ८. ९, १०, ११ अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ १२, १३, १४, १५. प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ १६, १७, १८, १९ सञ्ज्वलन क्रोध. मान, माया, लोभ २०. हास्य २१ रति २२ अरति २३ भय २४ शोक २५ जुगुप्सा २६ पुरुषवेद २७ स्त्रीवेद २८ नपुसकवेद

(५) **आयुष्य** १ नारक आयुष्य २ तिर्यंच आयुष्य ३ मनुष्य आयुष्य ४ देव आयुष्य

(६) **नाम** . १ गतिनाम २ जाति नाम ३ शरीर नाम ४ अगो पाग नाम ५ निर्माण नाम ६ वधन नाम ७. सस्थान नाम ८ सघात नाम ९ सहनन नाम १० स्पर्श नाम ११. रसनाम १२ वर्णनाम १३ गधनाम १४ आनुपूर्वीनाम १५ अगुरुलघु नाम १६. उपघात नाम १७ पराघात नाम १८ आतप नाम १९ उद्योत नाम २० उच्छ्वास नाम २१ विहायोगति नाम २२ प्रत्येक शरीर नाम २३ साधारण शरीर नाम २४ त्रसनाम २५ स्थावर नाम २६. शुभ नाम २७ अशुभ नाम २८ सुभग नाम २९ दुर्भग नाम ३०. सुस्वर नाम ३१ दु स्वर नाम ३२ सूक्ष्म नाम ३३ वादर नाम ३४. पर्याप्त नाम ३५. अपर्याप्त नाम ३६ स्थिर नाम ३७ अस्थिर नाम ३८. आदेय नाम ३९. अनादेय नाम ४० यशो नाम ४१ अयशो नाम ४२ तीर्थंकर नाम

(७) **गोत्र** . १ उच्च गोत्र २. नीच गोत्र

(८) **अन्तराय** १. दानान्तराय २ लाभान्तराय ३ भोगान्तराय ४ उपभोगान्तराय ५ वीर्यान्तराय

इस तरह ५+९+२+२८+४+४२+२+५=९७ उत्तर भेद होते है। दूसरी रीति से गणना करने पर १२२ उत्तर प्रकृति होती है। इस गणना मे मात्र **नामकर्म** के भेदो को ज्यादा व्यापकता से गिना जाता है। अर्थात् नामकर्म की ६७ और वाकी के सात कर्मो की ५५=१२२ भेद होते है।

नाम कम के ६७ भेद इस तरह हाते हैं

गति ४+जाति ५+शरीर ५+अगोपाग ३+सघयण ६+सस्थान ६+वर्णादि ४+आनुपूर्वी ४+विहायोगति २=३९+त्रसदसक+स्थावर दशक+प्रत्यक ८=६७

इस तरह आठ कर्मों की १२२ प्रकृति उदय मे होती ह। बध म तो १२० प्रकृति ही होती ह। मोहनीय कम के मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व माहनीय का बध नहीं हाता है। बध ता मात्र मिथ्यात्व मोहनीय का ही होता ह। जबकि उदय मे मिथ्या० मा० मिश्र० माह० और सम्यक्त्व मो० तीनो आती हैं। हालाकि नाम कम की उत्तर प्रकृतिया का अब भी विस्तार हो सकता है, और जब यह विस्तार करत ह तब आठो कर्मों की १५८ उत्तर प्रकृति हाती हैं।

प्रस्तुत म ग्रथकार का कमबध समझाना है, अत उन्हा ने ६७ भेद बतलाये हैं। यद्यपि कमबध का प्रचलित विचार १२० प्रकृति के माध्यम से ही है पर उनका सक्षप ६७ प्रकृति मे हा सकता ह। इन कर्मों के बध के बारे में और भी कहते है।

कमबन्ध चार प्रकार से

श्लाक प्रकृतिरियमनेकविधा स्थित्यनुभागप्रदेशतस्तस्या।
तीव्रो मन्दो मध्य इति भवति बन्धोदयविशेष ॥३६॥

अर्थ इस तरह यह प्रकृति अनक प्रकार की (६७ प्रकार की) है। इस प्रकृति का स्थितिबध रसबध और प्रदेश बध हाता है। जिसस विशिष्ट प्रकृतिबध हाता है वा तीव्र, मन्द और मध्यम बन्ध होता है। उदय भी (प्रकृतिया का) तीव्रादि भेद वाला होता है।

विवेचन कर्मों की प्रकृति का अथ है कर्मों के प्रकार। कम आत्मा के साथ कसे बन्धते हैं, उसकी वज्ञानिक प्रक्रिया यहा पर बतला रह हैं। मूल तो कर्मों क आठ प्रकार हैं, अवातर प्रकार ६७ हैं। कर्मों के ६७ प्रकारो का कसे बध होता है उसका शास्त्रीय विश्लेषण यहाँ किया जा रहा है।

जव ये कर्म वधते है तव उनकी स्थिति [कालमान-समयनिर्णय] उनका रस और उनके प्रदेश भी साथ साथ ही वंधते है। स्थिति, रस और प्रदेश के वध से प्रकृति वध विशिप्ट होता है।

जीव जव तीव्र आशययुक्त हो अथवा तीव्र विचारशील हो तव प्रकृतिवध तीव्र होता है। जव मन्दाशययुक्त और मन्द विचारशील हो तव प्रकृतिवध मन्द होता है। मध्यम विचारो से युक्त जीवो को कर्मो का मध्यम वन्ध होता है। [न ज्यादा तीव्र और न ज्यादा मन्द] तीव्र कर्मवन्ध का उदय तीव्र अनुभूति देता है, मन्द वन्ध मन्द अनुभूति देता है और मध्यम कर्मवध मध्यम अनुभव करवाता है। जैसा वध वैसा उदय।

(१) स्थितिबंध	उत्कृष्ट स्थिति	जघन्य स्थिति
१ ज्ञानावरण	३० कोड़ा कोडी सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त
२ दर्शनावरण	,, ,, ,, ,,	,,
३ वेदनीय	,, ,, ,, ,,	१२ मुहूर्त
४ अतराय	,, ,, ,, ,,	अन्तर्मुहूर्त
५ मोहनीय	७० ,, ,, ,,	,,
६ नाम	२० ,, ,, ,,	८ मुहूर्त
७ गोत्र	,, ,, ,, ,,	,,
८ आयुष्य	३३ सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त

कर्मपुद्गलो का आत्मा मे [आत्म-प्रदेशो के साथ] अवस्थान [रहना] उसे स्थिति कहते है। अर्थात् कर्मो का आत्मा मे अवस्थान निर्णय [समय का निश्चित होना] को स्थितिवध कहते हैं।

(२) **रसबंध** शुभाशुभ कर्मो के वध के समय ही रस का वध होता है, उसका [फल] नाम कर्म के गति आदि स्थानो मे रहा हुआ जीव अनुभव करता है। सुख-दु ख की तीव्र या मद, ज्यादा या कम सवेदनाए इस रसवध पर आधारित है। तीव्र अध्यवसाय से यदि शुभ कर्म का वध किया है तो उस कर्म के उदय के समय सुख की सवेदना भी तीव्र होगी और यदि अशुभ कर्म का वध तीव्र अध्यवसाय से हुआ है तो फिर दु ख की अनुभूति भी तीव्र होगी।

(३) **प्रदेशबंध** जीवात्मा अपने मन-वचन और शरीर को अपने

सारे प्रदेशों से कर्मस्कंधों का ग्रहण करती हैं, उसे प्रदेशबंध कहते हैं। एक एक आत्मप्रदेश मे ज्ञानावरण आदि हर एक कर्म के अनन्त अनंत पुद्‌गल बंधे हुए हैं। इस तरह आत्मा के साथ प्रकृतिओं का बंध होता है।

बंध ! ज्ञानावरणादि कर्म-पुद्‌गलों के साथ आत्मा का जुड़ना यानि परतंत्रता की बेड़ियों मे जकड़ा जाना, उसे 'बंध' कहते हैं। आत्मा का एक एक प्रदेश अनंत अनंत कर्मपुद्‌गलो से बंधा हुआ है। कर्मों का आत्मा के साथ एकीकरण-एकीभाव होना उसे कहते हैं प्रकृति बंध। उस एकता के समय ही स्थिति-रस और प्रदेश का निर्णय हो जाता है। इस तरह प्रकृति बंध की विशिष्टता बनती है।

जब तक आत्मा इस तरह कर्मबंध करती रहती है तब तक दुःख और सुख, पीड़ा और प्रसन्नता के द्वन्द्व चलते ही रहते हैं। संसार परिभ्रमण चलता ही रहता है। तब तक आत्मा अपने वास्तविक रूप को पा नही सकती। 'कर्मबंध' समझाने का लक्ष्य एक ही है कि जीवात्मा कर्मों का बंध न करे।

योग कषाय लेश्या

श्लोक तत्र प्रदेशबन्धो योगात् तदनुभवनं कषायवशात्।
स्थितिपाकविशेषस्तस्य भवति लेश्याविशेषेण ॥३७॥

अर्थ [चार प्रकार के कर्मबन्ध में] प्रदेश बन्ध योग (मन वचन-काया के) से होता है। उस प्रदेशबद्ध कर्म का अनुभव कषाय के वश होता है और स्थिति का पाक विशेष [जघन्य मध्यम उत्कृष्ट स्थिति का विशिष्ट निर्माण] लेश्या से होता है।

विवेचन प्रदेशबन्ध यानी ? आत्मा के असंख्य प्रदेशों में ज्ञानावरण आदि कर्मों के पुद्‌गलों का प्रवेश होना और रहना। आत्मप्रदेशों में कर्मपुद्‌गल ऐसे प्रविष्ट हो जाते हैं कि राग द्वेष से आवृत्त आत्मा को उसका पता ही नहीं लगता, ख्याल ही नहीं आता है।

प्रश्न तो क्या ये कर्मपुद्‌गल आत्मा में यों ही चले आते हैं ?

उत्तर नहीं, कर्मपुद्‌गल अकारण ही आत्मा में नहीं चले आते, परन्तु आत्मा मन से विचार करती है, वचन से बोलती है और शरीर

से पाचो इन्द्रियो से प्रवृत्ति करती है इसलिए कर्मपुद्गल आत्मा मे आते है और स्थिर वन जाते हैं।

यह एक वहुत ही पैनी प्रक्रिया ..है। प्रतिक्षण . प्रतिपल, हरसमय यह प्रक्रिया हर एक जीवात्मा मे चालु रहती है। मन वचन और काया के यंत्र (Machines) निरन्तर चालु रहते है। अतः कर्मपुद्गलो का आत्मा मे प्रवेश भी निरन्तर वना रहता है।

शायद यह जानना चाहोगे कि ये कर्मपुद्गल कहा से आते है। हॉ, 'कार्मण वर्गणा' के अनत-अनत पुद्गल चौदह राजलोकमय विश्व मे ठूस ठूस कर भरे हुए है। अनत-अनत जीवात्माए एक पल का विश्राम लिये विना प्रतिसमय अनंत-अनत कर्मपुद्गलो को ग्रहण करती रहती हैं। फिर भी कार्मण वर्गणा का विपुल सग्रह कभी भी कम नहीं होता है। ज्यो विश्व में कार्मण वर्गणा के अनत-अनत पुद्गल इस समग्र चौदह राजलोक मे भरे है त्यो और भी २५ तरह की [कुल २६] वर्गणाए इस लोक मे भरी पड़ी है। सचमुच, इस विश्व मे क्या कुछ नही है? अपन नही जान पाते वैसा तो अपार एव अनत-अनत से भरा पडा है यह विश्व !

मन, वचन और काया से कोई भी सूक्ष्म या स्थूल, छोटी या वडी प्रवृत्ति की और आठो तरह के कर्मपुद्गल आत्मा मे आये समझो। इन कर्मपुद्गलो का अच्छा या वुरा अनुभव **कषाय** के माध्यम से होता है।

क्रोध-मान-माया-लोभ ये चार मुख्य कषाय हैं। आत्मप्रदेशो मे रहे हुए कर्मपुद्गलो की सुखात्मक और दुःखात्मक सवेदनाए, इन कषायो के विना हो नही सकती। आत्मा से आवद्ध कर्मो की स्थिति का निर्णय कषाय नही कर पाते, वो कार्य तो **लेश्याओ** का है।

१. मन-वचन-शरीर के योगो से प्रदेश वध।
२ क्रोधादि कषायो से प्रदेशवद्ध कर्मो की अनुभूति।
३. लेश्याओ से जघन्य-मध्यम एव उत्कृष्ट स्थिति का निर्माण।

मुख्य ये तीन वाते हैं। क्यो हमारे तीर्थकरो ने मन को पाप विचारो से मुक्त करने का और शुभ-शुद्ध विचारो से मन को निर्मल करने का उपदेश दिया? क्यो पापवाणी अप्रिय, कर्कश और कठोर वचन वोलने की मना की और हित-मित-पथ्य, प्रिय और सत्य वचन वोलने

का ही आग्रह किया हमारे सत्पुरुषों ने ? समझ म आ रही है वात ? क्या पाचो इद्रियो का निग्रह करके इन्द्रियसयम करने का उपदेश हमारे ऋषिमुनियो ने दिया ? समझ मे आयी ना यह रहस्यमयी वात ?

शुभ विचार वाणी एव वर्तन से आत्मप्रदेशो के साथ शुभ कर्मों का वध होता है। अशुभ से अशुभ। सुख-दुःख का अनुभव कपाय करवाते हैं। कपायो का क्षय होने के पश्चात् वे प्रदेशवद्ध कर्मपुद्‌गल आत्मा में दुःख सुख की सवेदनाएँ पैदा नही कर सकते। प्रशस्त लेश्याओ मे रहने से उन प्रदेशवद्ध कर्मों की स्थिति भी अच्छी वधती है। इस तरह कर्मो का प्रदेशवध उसका अनुभव और उसकी स्थिति के निर्माण की प्रक्रिया समझा कर अब 'लेश्या' को समझाने के लिए ग्रथकर्ता आगे वढते है।

लेश्या

श्लोक ताः कृष्णनीलकापोततैजसीपद्मशुक्लनामानः।
श्लेप इव कर्मवन्धस्य कर्मवन्धस्थितिविधात्र्य ॥३८॥

अर्थ वे [लेश्याएं] कृष्ण, नील कापोत तेजस, पद्म और शुक्ल नामक लेश्याएं कर्मबन्ध म स्थिति का निर्माण करने वाली हैं जैसे कि रगो को वाधने म गोंद।

विवेचन एक चित्रकार भित्ति पर जब चित्रांकन करता है, लाल, पीले, आसमानी और अन्य मिश्रित रगो से एक सुन्दर नयनरम्य चित्रांकन भित्ति पर, केनवास पर या फिर रेक्जीन पर करता है, वो कभी आपने देखा है ? हा, हो सकता है यदि आप उडती निगाहो से चित्र को देख भी ले और चल दे तो तो फिर उस चित्र के निर्माण की गहराइया म नही उतरेंगे, उस पर चिंतन नही करेंगे। क्या कभी आपने ऐसा सोचा भी कि ये लाल पीले रग दीवार पर या केनवास इत्यादि पर ठहरते कैसे ? दीवार पर रगो को दीर्घकाल पर्यन्त टीकाने वाला ऐसा कौनसा तत्व हैं ? पानी ? नही, पानी के सहारे रग दीर्घकाल तक नही रह सकते। पानी सूख जाय तो फिर रग भी उखड जाय। तो दूसरा कौनसा ऐसा तत्व है ? श्लेप ! सरेप ! गोद ! रगो मे यदि श्लेप-सरेप को घोल दिया जाय, सरेप का घोला जाय फिर अन्य कोई

ऐसा पदार्थ जो कि रंग और दीवार के बीच के सम्बंध को दीर्घकालीन बनाये रखे, ऐसा पदार्थ घोलकर यदि रगो का चित्रांकन मे उपयोग किया जाय तो वह चित्र दीवार पर लम्बे अरसे तक बना रहेगा।

आत्मा दीवार है और कर्म-पुद्गल रग हैं। कर्मपुद्गलो के रग योंही आत्मा की दीवार पर नही चिपकते। बीच में कोई श्लेप चाहिए, कोई गोद चाहिए। आत्मा से कर्मो का दीर्घकालीन सम्बन्ध तो ही टिक सके। उसे श्लेप कहे या गोद कहे, वो है लेश्याएं।

फलाँ कर्म पुद्गल आत्मा पर पच्चीस साल तक बने रहते है और फलॉ कर्मपुद्गल पाँचसो साल तक बने रहते हैं, इस समयमर्यादा (Time Limit) का नियन्त्रण लेश्याएँ करती है। अमूक तरह के रंग दीवार पर दो या चार बरस ही टिकते है जबकि अमुक रग पचास, सो या इससे भी अधिक बरसो तक बने रहते हैं, वो किस के कारण? रंगो मे कौनसा श्लेप-गोद मिलाया गया है, इस पर चित्राँकन के बने रहने का आधार है।

इन छ लेश्याओ को दो विभाग मैं बाटी गई है: शुभ एव अशुभ। अशुभ के अन्तर्गत कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्या, जबकि शुभ के अन्तर्गत तैजस लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या आती है।

जब कर्मबंध मे तीव्र परिणामयुक्त अशुभ लेश्याएँ मिलती है तब कर्मो का ऐसी सुदीर्घ स्थिति का बंध होता है जो अतिदु:खद होता है। कर्मबंध मे जब शुभ लेश्याएँ मिलती है तब विशुद्धतम शुभ परिणामयुक्त कर्मस्थिति का बंध होता है।

लेश्या की परिभाषा करते हुए महान् पूर्वाचार्यो ने कहा:

'कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात् परिणामो य आत्मनः।
स्फटिकस्येव तत्राय लेश्या शब्द प्रयुज्यते ॥'

जिस तरह स्फटिक मणि भिन्न भिन्न रगो के माध्यम से भिन्न रगवाली प्रतिभासित होती है वैसे कृष्णादि द्रव्यों का सानिध्य प्राप्त करके आत्मा के परिणाम उसी रूप में परिणत होते है। आत्मा की इस परिणति के लिये लेश्या शब्द का प्रयोग किया गया है। इस परिणति को **भावलेश्या** कही जाती है। जिन कृष्णादि द्रव्यो का निर्देश किया गया है उन्हे **द्रव्य लेश्या** कही जाती है। द्रव्य लेश्या पौद्गलिक

है जबकि भावलेश्या आत्मपरिणामरूप है। श्री अभयदेव सूरिजी ने भी कहा है कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यजनिताऽऽत्मपरिणामरूपा भावलेश्या।'

परिणाम, अध्यवसाय और लेश्या इन तीनों का घनिष्ट संबंध है। जहा परिणाम शुभ होते हैं, अध्यवसाय प्रशस्त होते हैं वहाँ लेश्या विशुद्धमान होती है। कर्मों की निर्जरा मे परिणाम का शुभ होना, अध्यवसायों का प्रशस्त होना और लेश्याओं का विशुद्ध होना बहुत महत्त्व रखता है। इससे विपरीत परिणाम जब अशुभ होते हैं तब अध्यवसाय अप्रशस्त होते हैं और लेश्या संक्लिष्ट होती है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कर्मबंध मे और कर्मनिर्जरा में परिणाम अध्यवसाय और लेश्या का सम्पूर्ण मिलाजुला योगदान रहता है। यानि कि मनुष्य को यदि शुभ कर्म का बंध करना हो तो, कर्मों की निर्जरा करनी हो तो अपने परिणाम अध्यवसाय और लेश्याओं को शुभ रखनी चाहिए।

लेश्याओं के माध्यम से जब आत्मा के साथ कर्मों का बंध होता है तब आत्मा की क्या स्थिति होती है इसका विवेचन करने के लिये महर्षि आगे बढ रहे है।

सुख और दुःख

श्लोक कर्मोदयाद् भवगतिर्भवगतिमूला शरीरनिर्वृत्तिः।
देहादिन्द्रियविषया विषयनिमित्ते च सुखदुःखे ॥३६॥

अर्थ उन कर्म के विपाकोदय से [illegible] गति प्राप्त होती है और देहनिर्माण का बीज भी यही [illegible] भवगति है। उस [illegible] से इन्द्रियां व विषय और विषयनिमित्तक सुख और दुःख। [सुखानुभव एवं दुःखानुभव होता है]

विवेचन जीवात्मा ने जो कर्म बांधे हुए हैं वे ही कर्म उदय में आते हैं। जब जीव कर्म बांधता है तभी यह निश्चित हो जाता है कि यह कर्म कितने समय के बाद उदय में आयेगा। हाँ, पर एक बात अच्छी तरह जान लेनी चाहिए कि बंध हुए सारे कर्म विपाकोदय में न भी आयें। अर्थात जब वो उदय में आयें तब जीवात्मा को सुख दुःख का अनुभव न भी हो, फिर भी उदय में आ जाय और हम उन्हें भोग भी लें। इस प्रक्रिया को 'प्रदेशोदय' कहा जाता है।

कर्म के आठ प्रकारो मे जो '**नामकर्म**' है उसके अवातर प्रकार १०३ है। उसमे एक **गतिनाम कर्म** भी है। जीवात्मा वर्तमान मे जिस गति मे होती है, वहा अपनी अगली गति का निर्माण यानि कि आगामी गतिनाम कर्म का वध कर लेता है। इसे जरा समझ ले। वर्तमान में एक जीवात्मा मनुष्य गति-मनुष्य भव में है तो वह जीवात्मा अपनी इसके वाद की गति [मृत्यु पश्चात् का भव] का निर्णय इसी मनुष्य भव मे करेगी। यद्यपि मनुष्य को यह जानकारी होना जरुरी नही कि उसने कौनसी गति का नामकर्म कव और कैसे बाधा। पर वो निर्णय [गति नाम कर्म का वध] हो ही जाता है। गोत्र कर्म भी ठीक इसी के अनुरुप वध जाता है और आयुष्य कर्म भी उसी गति का वधता है।

मृत्यु के वाद मे जीवात्मा जिस भव मे, जिस गति मे उत्पन्न होती है, वहा उस भव के अनुरुप शरीर का निर्माण वो स्वय ही करती है। ऐसा नही होता कि शरीर तैयार [Readimade] हो और जीवात्मा उसमें प्रविष्ट हो जाय। जैसे कि वगला तय्यार हो और मनुष्य उसमें रहने के लिए चला जाय। नही, जीवात्मा अपने शरीर की रचना, उसका निर्माण स्वय करती है। नरक गति में जाये तो नरक का शरीर वनायेगी और देवगति मे जायेगी तो देव के शरीर का निर्माण करेगी। मनुष्य गति में मनुष्य के शरीर की रचना और तिर्यच गति में पशु-पक्षी के शरीर की रचना करेगी।

शरीर निर्माण के साथ-साथ ही इन्द्रियो का निर्माण होता रहता है। देव-नारक और मनुष्य के भव में तो शरीर निर्माण के साथ-साथ ही पाचो इन्द्रियो की रचना हो जाती है, पर एक तिर्यच गति ही [पशु-पक्षी इत्यादि का भव] ऐसी है कि जहा एक, दो, तीन, चार और पाच इन्द्रियो की योग्यतानुसार रचना होती है। जैसे किसी को एक, किसी को दो, किसी को तीन, किसी को चार और किसी को पाँच इन्द्रियों होती है।

जीवात्मा इन इन्द्रियो के माध्यम से विपयो को ग्रहण करती है। हर एक जीवात्मा को स्पर्शनेन्द्रिय तो होगी ही। शरीर का निर्माण हुआ यानी स्पर्शनेन्द्रिय की रचना तो होगी ही। शुभ और अशुभ, अच्छा और वुरा, मुलायम और रूखे स्पर्श का अनुभव इस इन्द्रिय से

होगा। रसनेन्द्रिय को जब प्रिय विषय मिलेगा तो जीवात्मा को सुख की संवेदना होगी और यदि अप्रिय, कड़ुवा, अनचाहा रस मिला तो दुःख की अनुभूति होगी। घ्राणेन्द्रिय [नासिका] को सुगंध-सुवास मिलेगी तो खुश खुश हो जायेगी। जीवात्मा को यदि दुर्गन्ध-बदबू मिलेगी तो दुःखी दुःखी बन जायेगी। चक्षुरिन्द्रिय [आँख] को यदि सुंदर सलोना रूप मिला तो जीवात्मा बड़ी प्रसन्न बन जायेगी और बेढंगा बदसूरत कुछ देखने को मिला तो वो बौखला उठेगी। श्रवणेन्द्रिय [कान] को मीठे-मधुर मंजुल स्वर सुनायी दिये तो आत्मा आनन्द में डूबी रहेगी और जरा भी तीखे, कटु या दाहक शब्द सुनायी दिये तो वो नाराज हो जायेगी, उसे बड़ी बेचैनी बनी रहेगी।

इष्टनिमित्तविषयः सुखानुभव है।

अनिष्ट निमित्तविषयक दुःखानुभव है।

एक बात जरा साफ-साफ समझ लीजिए। अपने अपने विषयों को ग्रहण करने का काम इन्द्रियों का है। जबकि सुख-दुःख का अनुभव करता है हमारा मन! जीवात्मा इन्द्रियों से विषय ग्रहण करता है और मन से सुख-दुःख के अनुभव करता है। हाँ, संसार में ऐसे भी अनंत जीवात्माएँ हैं जिन्हें शरीर है, इन्द्रिय है, पर मन नहीं है। ऐसा मात्र मनुष्य गति एवं तिर्यंच गति में ही होता है। देव गति एवं नरक गति में तो पांचों इन्द्रियाँ और मन होता ही है।

एकेन्द्रिय से लगाकर पंचेन्द्रिय तक जीवात्माओं को मन नहीं होता है पर उन्हें संज्ञा तो होती ही है। मनरहित जीवों को भी इच्छा तो होती ही है। खाने की इच्छा, चलने की इच्छा, द्रव्य इकट्ठा करने की वगैरह मन के बिना भी जीवात्माएँ इच्छाएँ कर सकती हैं। पर उन इच्छाओं में और मन के द्वारा पैदा होती इच्छाओं में गहरा अंतर है। इनमें तमवध की दृष्टि से भी अंतर होता ही है।

अपन मनयुक्त मानव हैं। यदि हमारा मन प्रिय-अप्रिय, मन चाहे-अनचाहे विषयों में सुख और दुःख के अनुभव न भटकाने लगा तो फिर वर्तमान जीवन में अशांति, क्लेश और पीड़ा तथा परलोक-अगले जन्म में घोर दुःख अपना स्वागत करने के लिए तैयार है।

श्लोक दुःखद्विट् सुखलिप्सुर्मोहान्धत्वाददृष्टगुणदोष ।
यां यां करोति चेष्टां तया तया दु खमादत्ते ।।४०।।

अर्थ दु ख का द्वेपी और सुख की लालसा वाला [जीव] मोहान्ध हो जाने से गुण या दोप नही देखता है, वो जो जो चेष्टाए करता है [मन-वचन-काया की क्रिया करता है] उससे दु ख प्राप्त करता है। [दु ख की अनुभूति करता है]

विवेचन दु ख का द्वेप ! सुख का राग !

सारे दु खो की जड यह राग और द्वेप है। दु ख अच्छा नही लगता, सुख प्यारा लगता है। दु खो को दूर करना है, सुखो को प्राप्त करना है! पाचो इन्द्रियो के इष्ट और प्रिय विपय प्राप्त करने है। जवकि अनिष्ट-अप्रिय विषयो से मुक्त होना है। ससारी जीवो में अर्थात् जिनके पास ज्ञानदृष्टि नही है ऐसे जीवो मे यह वृत्ति और प्रवृत्ति ज्यादातर नजर आती है। कही कोई अपने दु खो को दूर करने के प्रयत्न में त्रस्त वनकर घूम रहे हैं तो कोई मन चाहे सुख-सुविधाए प्राप्त करने के लिए एडी से चोटी तक का पसीना वहा रहे है।

जहा पर राग और द्वेप प्रवल वनते है वहा जीवात्मा मोह-रोग से ग्रसित हो जाता है। जीवात्मा की ज्ञानदृष्टि आवृत्त हो जाती है। आतर-चक्षुओ पर मोह का पडदा गिर जाता है। मोह का अधापन ! वडा खतरनाक है यह! आँखो का अधापन तो फिर भी अच्छा, उससे हमारी वुद्धि में कोई विकार तो नही आता! जवकि मोह का अधापन तो जीवात्मा को गलत रास्ते पर ही ले जाता है। उल्टी वात समझाकर विकृत प्रवृत्ति की तरफ जीवात्मा को वलात् खीच लेता है।

आप कहेगे 'ऐसा क्यो होता है?' चूकि दु खो के द्वेप से और सुखो की चाहना से 'मोहनीयकर्म का असर प्रवल वनता है। यह वेरहम मोह जीवात्मा की ज्ञानदृष्टि का छीन लेता है। 'दर्शन मोहनीय' और 'चारित्र मोहनीय' कर्मो के गीध आत्मभूमि पर चक्कर लगाने लगते है और मौका पाकर वे कुहराम मचाते हुए आत्मभूमि पर अपना अड्डा जमा लेते है। तव आत्मा का साम्राज्य तहस-नहस हो जाता है।

'मोहनीय-कर्म' तो चमगादड की भाति आत्मा को अपनी पाशों में जकड लेता है। 'दर्शन मोहनीय' समझ को उल्टी बनाता है और चारित्र मोहनीय प्रवृत्ति को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। कषायो का तीव्र जहर जब मन-वचन और काया की प्रवृत्तिया में घुनता है फिर क्या बचेगा? आत्मगुणो का महाविनाश होना प्रारम्भ हो जाता है।

राग और द्वेष, ये दोनो मोहनीय कर्म की पैदाइश है। जब राग और द्वेष तीव्र बनते हैं तब मनुष्य के मन पर, वाणी पर और काया पर उसके अमुक नियत प्रभाव अवश्य गिरते हैं। मन अशान्त एव अस्वस्थ बन जाता है। बोली दिनताभरी, उत्तेजित या बावलायी हो जाती है। इन्द्रियाँ चचल और बेकाबू बन कर भटक जाती हैं। 'ऐसा बोलने से, ऐसा सोचने से, ऐसे कार्य करने से आत्मा प्रचड कर्मों से लिप्त हो जायेगी,' ऐसी सूझ, इस तरह की ज्ञानदृष्टि मृतप्राय बन जाती है। कर्मबध की प्रक्रिया देखने के लिए उसकी आँखे मूद जाती है। मन-वचन काया की प्रवृत्तियो के गुण-दोष देखने की दिव्यदृष्टि फूट जाती है। वो बेझिझक और बेवकूफीभरे विचार, वाणी और वर्तन करता रहता है। परिणाम? पाप कर्मों का बध और उनका उदय आने मे भयकर वेदना यातना और बरबादियो के बीच उलझना!

जो व्यक्ति दुखो से डरता है, दुखो को सहन के लिए जो तैयार नहीं है दुखो के सहवास में जीने के लिए जो सम्मत नही है उन व्यक्तियो को [जीवात्माओ को] सुखो की तरफ तीव्र राग होगा ही। उनकी कल्पना के सुखो के पदार्थों के प्रति उनका खीचाव रहेगा ही। जड हो या चेतन, निर्जीव हो या सजीव, जिस पदार्थ के प्रति उसे राग हुआ उसे प्राप्त करने की प्रबल चाहना उसे बनी ही रहेगी और उन पदार्थों को प्राप्त करने की वो भरसक कोशिश करेगा। पुण्यकर्म का उदय न हो या मिल भी गये तो उन पदार्थों पर उसे गाढ ममता बनी रहेगी। मोहनीय कर्म की विशाल सेना के व्यूहचक्र में वो घिर जायेगा। असार को सार मानेगा, अनित्य को नित्य मानेगा, इस मान्यता के पीछे प्राय मान माया और लोभ करेगा। कभी खुश होगा कभी नाराज हो जायेगा। कभी आनन्द के अतिरेक में नृत्य करेगा तो कभी दुख की आग में झुलसता हुआ चीख उठेगा। कभी उद्धत बनकर जीवात्माओ के प्रति तिरस्कार, नफरत की निगाहो से देखेगा तो कभी भीषण भय की कल्पना से कांप

उठेगा। कभी मदोन्मत्त बनकर विषयवासना में डूब जायेगा तो कभी अशक्त, हतवीर्य बनकर करारी कामपीडा से छटपटायेगा !

इन सब से निरतर अनत अनत कर्मों का बध। जब वे कर्म उदय में आयेंगे तब फिर नरक-तिर्यंच गति का परिभ्रमण और सुदीर्घकालीन दुःखो की परपरा ! दुःखो के द्वेष एवं सुखो के राग की यह करुण कहानी है...। एक-एक विषय ..इन्द्रियो के विषयो के राग...एक-एक विषय का द्वेष जीवो को किस तरह मृत्यु की पीडा तक खीच ले जाता है उसकी कुछ बाते ग्रन्थकार अब करेंगे। ध्यान से पढियेगा इन बातो को।

इन्द्रियपरवशता के विपाक

श्लोक कलरिभितमधुरगान्धर्वतूर्ययोषिद्विभूषणरवाद्यैः।
श्रोत्रावबद्धहृदयो हरिण इव विनाशमुपयाति ॥४१॥

अर्थ कलायुक्त [मात्रायुक्त] रिभित [गावर्व आवाज] एव मधुर [ऐसे] गन्धर्व के वाजित्रो की ध्वनि और स्त्रियो के आभूषणो मे से उत्पन्न होता हुआ ध्वनि आदि, ऐसे मनोहारी शब्दो से श्रोत्रेन्द्रियपरवश हृदय है उन हिरणो की भाति [प्रमादी] विनाश पाता है।

विवेचन . आज तो अपने देश में हिरनों का शिकार बन्ध प्रायः हो चुका है और शायद कही गुप्त रूप से होता भी हो तो आम जनता से वो सम्बन्धित नही है। वो उसे देख नही सकती।

पर वो समय तो था राजाशाही का [The period of Monarchy] और अधिकाश राजा होते थे शिकार के शौखीन ! उसमें हिरन का शिकार करने वाला तो बडा प्रशसनीय एव बहादुर माना जाता था। क्योकि हिरनो की टोली [A Flock of Deers] चाहे क्यो न जगल मे नाचे, कूदे और मस्त बनकर दौड़ती फिरे पर वो मनुष्यों से बड़ी सावधान रहती है। उनकी चकोर दृष्टि मनुष्य को जल्दी पहचान लेती है और वे शिकारी को देखते ही चारो पैरो से कूदते हुए जगल मे अदृश्य हो जाते हैं।

सम्राट श्रेणिक जो कि तत्कालीन मगध का पराक्रमी एव जनप्रिय शासक था। भगवान महावीर के परिचय मे तो वो बहुत बाद मे आया, उससे पहले वो शिकार का बडा शौखीन था। उसे भी हिरन का शिकार

करना ज्यादा पसन्द था और उसी शिकार के रस में श्रेणिक ने नरक में जाने का कर्म बांध लिया था। हिरन के बजाय वो हिरनी के पीछे दौड़ गया हिरनी बड़ी तेज भाग रही थी पर वो थी गर्भिणी [pregnent] वो ज्यादा न दौड़ सकी, सम्राट का तीर सनन नन करता आया और उसके पेट में घुस गया। पेट फट गया। हिरनी तो मरी ही, पर उसका कोमल बच्चा भी मृत्यु का शिकार बन गया। मगध सम्राट इस दृश्य को देखकर झूम उठा, 'एक तीर से दो शिकार! शिकार इसे कहते हैं।' और इस पाशवी नृत्य का बदला उसे मिला नरकगति के आयुष्य कर्म के बंध से।

जब सरलता से हिरन नहीं पकड़े जाते थे तब हिरनों के मांस के लोलुपियों ने हिरन का शिकार सरलता से करने के लिए हिरन की एक कमजोरी [Weak point] का लाभ उठाया। हिरन को संगीत के सूर बड़े अच्छे लगते हैं। उन सूरों से खींचा हुआ हिरनों का यूथ मन्त्रमुग्ध सा बनकर उन सूरों की तरफ चला आता। सूरों के पीछे छुपे हुए यमदूत सरीखे शिकारियों को वो देख नहीं पाता। संगीत के सूर उन्हें इतने प्यारे लगते हिरनों की इस संगीतप्रियता का गैरलाभ उठाया बुद्धिमान माने जाने वाले मनुष्यों ने!

जंगलों में संगीतकार जाने लगे। स्त्री-पुरुष की संगीत मंडली ऐसी जगह पर अपना पड़ाव [Camp] डालती की जहां से थोड़ी दूरी पर हिरन रहते हों। गीत-संगीत और नृत्य की महफिल गूंज उठती। मधुर गीत मन को डोला देने वाला संगीत और तालबद्ध नृत्य। हिरन धीरे धीरे नज़दीक आते। संगीत के सूरों में तल्लीन बनकर झूमते हुए आगे बढ़ते। शिकारियों की टोली उन हिरणों की तरफ तीर को ताके हुए तैयार रहती थी। तीर के छूटते ही एक दो हिरन मौत के मूँह में चले जाते और अन्य हिरन भयविह्वल बनकर भाग खड़े होते।

पर 'वो हिरन बींधे क्यों गये?' इस प्रश्न का जवाब ग्रन्थकार स्वयं ही दे रहे हैं आसक्तिबद्धता के कारण। गीत और संगीत यह श्रवणेन्द्रिय का प्रिय मनचाहा विषय है। उस मनचाहे विषय में जब-जब मस्त भोला हिरन लीन बनता है सूरों की रस-माधुरी में मस्त बनकर डूबकियां लगाता है तब क्रूर शिकारी उसके प्राण छीन लेते हैं।

हॉ, यह ससार ऐसा ही है ..चाहे हमने इस वर्तमान जीवन मे किसी का कुछ भी न विगाडा हो ..किसी का ग्रहित सोचा भी न हो, फिर भी कोई हमारा जीवन वरवाद कर सकता है। हमारे जीवन को तहस-नहस कर डालता है। हमारे पर दु ख-त्रास एव वेदना के साये छाये ही रहते है। वेचारे हिरनो ने क्या विगाडा है शिकारियो का ? कुछ भी नही। फिर भी वे हिरन को वीध डालते है अपने स्वार्थ की पूर्तिहेतु।

एक ही शोख हिरनो को, सगीत की सूरावली को सुनने का। एक ही इन्द्रिय की परवशता, पर वो परवशता भी उसकी करुण मृत्यु का कारण बन जाती है। तो क्या इन्द्रिपरवशता मात्र हिरन के मौत का कारण बनती है ? ग्रन्य जीवो का नही! ग्रन्थकार एक प्रसिद्ध उदाहरण देकर मनुष्यो को गम्भीर चेतावनी दे रहे है "ग्रो मानव! यदि एक इन्द्रिय की परवशता भी मौत का माहौल खडा कर देती है तो फिर तेरा क्या होगा ? तू तो पॉचो इन्द्रियो का गुलाम जो वन वैठा है।

श्लोक **गतिविभ्रमेङ्गिताकारहास्यलीलाकटाक्षविक्षिप्त ।**
रूपावेशितचक्षु शलभ इव विपद्यते विवशः ॥४२॥

ग्रर्थ सविकार गति, स्निग्ध दृष्टि, मूँह-छाती ग्रादि ग्राकार, सविलास हास्य ग्रौर कटाक्ष से विक्षिप्त [मनुष्य], स्त्री के रूप मे जिसने ग्रपनी दृष्टि स्थापित की है ग्रौर जो विवश वना है वो मनुष्य पतगे की भाति जलकर नष्ट होता है।

विवेचन पागल पतगे को देखा है कभी ? बिजली के वल्बो की चकाचौध मे शायद पतगे नही पाये जाते, पर किसी ग्रामीण प्रदेश मे चले जाय तो वहा हमे रात के समय घी या तेल के जलते दिये के ग्रासपास पतगे चक्कर काटते मालूम पडेंगे। उस दीपक की लौ की चौतरफ मस्त वनकर दो चार दीवाने पतगे ग्रवश्य घूम रहे होगे।

उस दीपक की लो मे हमे कोई सुन्दरता या सौन्दर्य भरे वातावरण की पहचान नही होती। हमे उस लौ मे कोई सौन्दर्य नजर नही आता जवकि पतगे ने उस लौ मे अप्रतिम सौन्दर्य का दर्शन किया है। पतगे को दीपक और उसकी लौ का रूप वडा प्यारा लगता है। वो उस लौ के ग्रासपास चक्कर काटता रहता है। और उस सुन्दर लौ को चूमने के

लिये आगे बढता है। पर ज्यो ही वो लौ का स्पर्श करता है त्यो ही दीपज्योति उसे जलाकर राख बना देती है।

उस बेचारे भोले पतग को कहा इतनी समझ होती है कि लौ का रूप जितना आल्हादक है उसका स्पर्श उतना ही खतरनाक है। ऐसा कोई नियम नही कि जिसका रूप सुखद हो शीतल हो उसका स्पर्श भी सुखद और शीतल हो हो। मान लें कि अज्ञानी और भोले जन्तु पतग को इस नियम का ज्ञान न हो, पर समझदार और बुद्धिमान कहलाते मानवी भी इस सिद्धात को न समझ पायें यह बात कैसे मानी जाय?

जब पुरुष किसी सौदयवती नारी की मटकती चाल देखता है और उसका मन चचल हो जाता है लावण्यवती ललना की मदमाती आँखो में स्नहल स्निग्धता और प्यारभरा आदर पाता है तो उसका मनो मस्तिष्क झूम जाता है। उस कमनीय काता का चाद सा मुँह देखकर उसके अन्य अगा पर नजर जाते ही पुरुष का हृदय कसमसा उठता है। उन चन्द्रवदना मुग्धा के साकेतिक हास्य को पाकर वो उसकी तरफ बलात खीचा हुआ चला जाता है। अपलक नेत्रो से टकटकी लगाकर वो पुरुष उस कामिनी को देखता ही रहता है।

और वो नियम तो है ही जिसको देखा उसके स्पर्श की, उसको छूने की चाहना उठेगी ही! रूप का राग स्पर्श की इच्छा पैदा करेगा ही! पर उस समय वो बात याद नही रहती कि जिसका रूप हमें आनद दे जिसका दर्शन हमें प्रसन्नता दें उसका स्पर्श भी आनद और प्रसन्नता ही दे ऐसा कोई नियम नही! चाहे क्यो न स्त्री का बाह्य रूप कामी पुरुष को आनद दे, उसकी आँखो में वासना के डोरे खीच दे, पर उसका स्पर्श तो उसे जलायेगा ही।

अरे, स्पर्श की बात छोडिये, स्त्री का रूप-दर्शन ही वासनाविवश पुरुष के चित्त को जलाता है। झुलसा देता है। उसका सर्वनाश कर डालता है। उस श्रेष्ठिपुत्र रूपसेन को जरा स्मृति में लाइये, उसने भी सुनदा का मात्र रूप ही देखा था न? न तो सुनदा के मीठे शब्द सुने थे या न ही उसने सुनदा की कमनीय काया का स्पर्श किया था, फिर भी मात्र रूप के दर्शन ने ही रूपसेन का सर्वनाश कर दिया था! क्या उसका मन उस सुनदा के यौवन के रूप की चाह में जल नही गया?

क्या उसके दिल में सुनदा के रूप ने आग नही जलायी ? क्या रूपसेन के भाव प्राण नष्ट नही हो चुके थे ?

राजमहल के झरोखे मे बैठी हुई राजकुमारी सुनदा की स्निग्ध दृष्टि के साथ रूपसेन की आँखे मिल गयी। रूपसेन ने सुनंदा को देखा। उसके लावण्यपूर्ण यौवन को देखता ही रह गया। उसके मोहक मुँह पर रूपसेन की आँखे जम गयी। उसकी आँखो मे रम रहे विलास और होठो पर खेलते हास्य ने रूपसेन के दिल को छलनी-छलनी वना डाला। सुनदा ने अपने रूपके पूजारी वन वैठे रूपसेन को इशारे से आमत्रण दिया और...रूपसेन सुनदा की तरफ खीच गया। पर सुनदा को पाना उसके वस में नही रहा। वह सुनदा के पास पहुँच ही न सका। वो जा रहा था सुनदा से मिलने...पर रास्ते मे ही अकस्मात् एक मकान की दीवार टूट गिरी और रूपसेन का शरीर मलवे के नीचे दव गया। रूपसेन को मृत्यु ने अपनी गोद मे खीच लिया। सपनो की सुनदा सपनो में ही समायी रही और रूपसेन की आत्मा ने अपना रास्ता वदल दिया।

उसकी मृत्यु हुई...उसकी आत्मा उसी सुनदा के उदर मे गर्भ के रूप में पैदा हुई। कितना भयकर सर्वनाश ? इस सर्वनाश का कारण ? समझ मे आया न ?

रूपदर्शन की तीव्र लालसा ! ज्यो स्त्री के रूप में मोहित वासना-विवश पुरुष अपना सर्वनाश करता है त्यो पुरुष के रूप में मोहित वासनाभिभूत नारी भी अपना सर्वस्व लुटा देती है।

चक्षुरिन्द्रिय की परवशता। यदि मात्र एक ही इन्द्रिय की परवशता पतगे को वरवाद कर डालती है तो फिर मनुष्य ? जो कि पाच इन्द्रियो का गुलाम वन वैठा है, उसका सर्वनाश कैसा हो ?

परपुद्गल के रूप देखने की चाहना, आत्मा से भिन्न द्रव्यो के रूप देखने की तमन्ना जीवात्मा को दुर्गति के हवाले कर देती है। जीवात्माओ का सर्वनाश करके अनेक जन्मो तक दु:ख और सत्रास के सागर में उसे वकेल देती है।

श्लोक स्नानाङ्गरागवर्तिकवर्णकधूपाधिवासपटवासैः ।
गन्धभ्रमितमनस्को मधुकर इव नाशमुपयाति ॥४३॥

अर्थ स्नान, विलेपन, (विविध) वर्णीय अगरबत्ती, अधिवास [मालती आदि फूलों की] और सुगन्धित द्रव्य चूर्णों के गन्ध से भ्रमित (आकृष्ट) मनवाला [मनुष्य] भ्रमर की भांति नाश पाता है।

विवेचन निसर्ग की गोद में जीना तो शायद इन्सान भूल ही गया!

कृत्रिमता के संग और तकनीकी व्यवस्था के व्यामोह में जीवन जीने की मानो स्पर्धा हो रही है। इन्सान ने समूचे जीवन के आसपास निरी कृत्रिमता, तकनीकीपन और खोखलापन बिखरा पड़ा है। फिर उन कागज के या प्लास्टिक के कृत्रिम फूलों पर मृदुल मधुर गुन्जन करते हुए भँवरे कहाँ दिखेंगे? और उनका मीठा कर्णप्रिय गुंजारव कैसे सुनायी देगा? उन बनावटी फूलों का विकास और महक कहाँ से नजर आयेंगे! उन फूलों का खिलना और बिखरना कहाँ से होगा?

अच्छा! महर्षि हमें एक अति रमणीय महक-महक करते बगीचे में ले जा रहे हैं। अनेक प्रकार के विविध रंगी अगण्य फूल वहाँ पर खिले हैं। बगीचे के मध्य में एक सरोवर है। कमल-पत्रों से सुशोभित और कमल के सुन्दर खिले हुए फूलों से भराभरा! देखिये सामने कितना सुन्दर दृश्य है! कमल पर भँवरे गुंजारव करते हुए घूम रहे हैं। कुछ भँवरे तो कमल के सुवास का पान करने के लिए पत्तों के मध्य में आसीन होकर सुगन्ध सागर में गहरे लीन हो गए हैं।

इन भ्रमरों का दौर यहाँ खींच लाता है, जानते हो? महर्षि प्रश्न भी कर रहे हैं और प्रत्युत्तर भी स्वयं दे रहे हैं! इन कमलों की सुवास! सुवास उन्हें खींच लाती है और कमल की पंखुड़ियों में छिपा देती है।'

कितना प्यारा दृश्य है! किसी की आवाज आयी।

तुम्हें बहुत प्यारा लगता है यह नजारा न?

'हाँ, वहुत ही सुन्दर !' इस वीच वहाँ उद्यान का माली आ पहुँचा...महर्षि ने उसके कानो मे कुछ कहा, माली चला गया और कुछ ही देर मे वो एक मुरझाये हुए कमल को लेकर आ पहुँचा । माली उस वन्द कमल की एक एक पखुडी को अलग करने लगा...मेरी नजर उस फूल में रहे भँवरे पर गिरी । वो मर चूका था । महर्षि ने मेरी तरफ आँखे घुमायी और वोले :

'यह करुण अजाम है उस गन्धप्रियता का, गन्धरसिकता का । कमल की सुगन्ध में दीवाने वने भँवरे को इतना होंश कहाँ कि....'शाम को ये पखुडिया वन्द हो जायेगी और वो उसमें से निकल नही सकेगा... उसके प्राण चले जायेंगे ।'

मेरे सामने दो दृश्य थे । एक तो सरोवर मे फूल-कुसुम पर झूमते हुए भँवरे और दूसरा था चिरनिद्रा मे सोये हुए भ्रमर का । ये दोनो दृश्य थे । इसमे मानव जीवन की आध्यात्मिकता का रहस्य छिपा है । इसलिये तो महर्षि ने उद्यान की सेर करायी । ये दो दृश्य वताकर वो हमे कहते है

'अरे, भाई । तुम जड पुद्गलो की गन्ध मे आसक्त न वनो । सुगन्धित जल (Scented water) से तुम्हे स्नान करना है ? पफ-पावडर और लाली का विलेपन करना है ? सदेव तेरे आवास मे सुगन्ध-भरपूर अगरवत्ती जलाये रखना है ? सुगन्धी पुष्पो के फूलों के गजरे तेरे हाथो मे सदा रखना है ? खुशवू से महकते तैल और इत्र शरीर पर छीट कर सुगन्ध के सागर मे डुवकियाँ लगाना है ? पर सच तो तू विनाश के महासागर में गोते लगाने लगेगा !'

प्रश्न . तो क्या हमे सुगन्ध लेना ही नही ? सुवास लेनी ही नही ?'

उत्तर महर्षि उसमें आसक्त होने की मना कर रहे है। मन को उसमे लीन करने से इनकार कर रहे है । सहज और स्वाभाविक यदि सुवास आती है तो कोई गटर या गन्दी नाली के पास जाकर खडे रहने की जरुरत नही है । चाहे कैसी भी सुवास मिले, शायद वो मन को आल्हाद भी दे जायँ, पर फिर भी मन उस सुवास में वधना नही चाहिए । वार वार सुगन्धी पदार्थो में मन रमना नही चाहिए । वो यदि उन

पदार्थों में खो गया तो फिर आत्मरमणता या परमात्मरमणता केवल शब्दों में बनी रहेगी, जीवन में नहीं आ सकती।

चाहे क्यों न भ्रमर की भांति द्रव्य प्राण न चले जायें, पर भाव-प्राण, जो कि पवित्रतम हैं, वो और शुभ विचार हमेंशा-हमेशा के लिये दूर-सुदूर चले जायेंगे।

श्लोक मिष्टान्नपानमांसौदनादिमधुरविषयगृद्धात्मा।
गलयन्त्रपाशबद्धो मीन इव विनाशमुपयाति ॥४४॥

अर्थ अत्यन्त स्वादिष्ट भोजन मद्यपान मांस ओदन [चावल] और मधुर रस [शक्कर इत्यादि] [रसना के] इन विषयों में आसक्त आत्मा लोहयन्त्र में और तंतुजाल में फंसी हुई परवश बनी मछली की भांति मृत्यु पाती है।

विवेचन क्या कभी किसी तालाब, सरोवर या बाघ-नदी के जल में उछलती कूदती मछलियों को देखा है? पानी की सतह पर आती पल दो पल बाहर की ओर झांकती और फिर गहरे पानी में डुबकी लगाती, बिजली की भांति एक क्षण भर के लिए ऊपर आती और बाद में अनालोक में चली जाती उन मछलियों को देखा है? वो मछलियाँ मात्र एक ही रसनेन्द्रिय की परवश होती है और इंद्रिया उसे होती तो हैं पर परवशता तो एक रसनेन्द्रिय की ही होती है। यह परवशता रसनेन्द्रिय की लालच, उसकी मौत का संदेशा ले आती है। उन मछलियों की जैसे अपने रस के विषय की खोज होती है वैसे इस दुनियाँ के कई मनुष्यों को मछलियों की खोज होती है। चूंकि मछली उनका खुराक होता है। उनकी रसना मछली पर ही लालायित होती है। मछली को देखते ही उसको पकडने के लिए वे पानी में जाल बिछाते हैं। लोह के तीक्ष्ण कांटे पर मांस का टुकडा या गुंधे हुए आटे को लगाकर डोरी से बांधकर वो कांटा पानी में फेंकते हैं। मछली ज्योंही उस मांस के टुकडे या आटे को खाने के लालच में उस कांटे का मुंह में दबाती है त्योंही कांटा उसके तालु को बींध डालता है। उस धीवर को मालूम पड़ते ही डोरी को ऊपर खींच लेता है। मछली उसका शिकार बन जाती है। उस जाल में एक साथ अनेकों मछलियाँ आ जाती हैं। कारण समझ में आया? रसनेन्द्रिय के प्रिय एवं मिष्ट विषय की लालुपता!

वो लोलुपता ही उसे मार डालती है। 'मुझे तो अत्यन्त स्वादिष्ट, रसपूर्ण और वैविध्ययुक्त खाना ही पसन्द आता है। शरवत के बिना तो चले ही कैसे? भई, चाय कॉफी तो अपन को चाहिए ही। शराव भी अपन को चाहिए—मास भी कभी कभी चलता है।' ऐसा आग्रह हो, ऐसे भोजन और पेय पदार्थों की आसक्ति हमेशा बनी रहती हो, यही लालच हमेशा दिलो-दिमाग मे छायी रहती हो और ऐसे भोजनादि मिलने पर उन पर टूट ही पड़ते है तो यह 'विषयगृद्धि' कहलाती है।

श्रीराम के पूर्वजो के इतिहास मे अयोध्या के राजसिंहासन पर सोदास नाम का एक राजा हो गया। अयोध्या के सुज्ञ मन्त्रीगण ने उसको पदभ्रष्ट करके उसके पुत्र को क्यो राजसिंहासन पर बिठलाया था? जानते हो? क्यो सोदास को अयोध्या छोड़कर, पुत्र, परिवार, धन वैभव को छोडकर जगलो के भयकर वातावरण का आश्रय लेना पडा था? एक ही आदत की मजबूरी! मनुष्यमास की लोलुपता उसे बरबादी के शामियाने तले खीच गयी! सैकडा मानव-शिशुओ की हत्या करवा कर अपनी रसनेन्द्रिय की रसलोलुपता को मासाहार से तृप्त करने की लत! बीहड जगलो की घाटियो मे खून से सनी तलवार लेकर घूमते हुए नरपिशाच जैसे सोदास के ये हालात किसने किये?

सैकडो शिष्यो के गुरु एव लाखो अनुयायीओ के आराध्यपाद वो मगु आचार्य मर कर क्यो मथुरा की गदगीभरी गटर मे व्यंतर का रूप लेकर जन्मे? हर एक की जबान पर जिनके गुणगान थे! हर एक के मनोमन्दिर में जिन्होने अद्‌भूत स्थान प्राप्त किया था, तीव्र बुद्धि और अद्‌भूत शासनप्रभावना की शक्ति एव तलस्पर्शी शास्त्रज्ञान जिनके पास था, क्यो एक ऐसे महान् और अप्रतिम प्रतिभाशील आचार्य की अवनती हुई? केवल रसनेन्द्रिय के पाप से। भक्तो द्वारा हो रही मिष्टान्न और गरिष्ठ पदार्थ प्रदान करनेरूप भक्ति का उन्होने सहर्ष स्वीकार किया। रसना की लोलुपता मे वो ऐसे फँसते चले कि उनकी सूक्ष्म बुद्धि मे भी यह बात न आ सकी! क्षुधा-शमन के लिए खाना, तृषातृप्ति के लिये पीना कोई रसगृद्धि नही है। परन्तु जिह्वा को स्वादानुभूति करानी, निरन्तर उन्ही प्रिय, मनोज्ञ रसयुक्त पदार्थो का चितन करना, उसी के विकल्पो की जाल गूथते रहना, उन प्रिय पदार्थो

के मिलने पर खुशी के मारे नाच उठना और ठूस ठूस कर खाना यह रसगृद्धि है।

उन कंडरिक मुनि का सर्वहारा पतन क्या हुआ? पुंडरिक राजा जो कि मुनि के पूर्वावस्था के भाई थे, मुनि के देह को निरोगी बनाने के लिये राजमहल में रखा था। देह तो निरोगी हो गया, परन्तु देह को पुष्ट करना था, ताकि वो साधना के कष्टदायी मार्ग पर चल सकें। देहपुष्टि हेतु स्वादिष्ट और पौष्टिक आहार लेने लगे! जनम-जनम की रसनेन्द्रिय की अतृप्त वासना जाग उठी। रसनेन्द्रिय की लोलुपता सीमा लांघ गयी, परिणाम कितना खतरनाक आया? संयम जीवन का त्याग किया और राजमहल के भोजनालय में जा डटे! मन चाहे भोजन किये, ठूस ठूस कर खाया, रात को पेट मे भयंकर दर्द होने लगा। शूल रोग की घातक वेदना ने उन्हे जकड लिया। वासना के साथ वेदना जुडी हुई है, दोनो एक दूसरे के साथ सलग्न हैं। मरकर सातवी नरक में चली गयी उन कंडरिक मुनि की आत्मा! इससे बढकर और क्या बरबादी का नमूना चाहिए? एक रसनेन्द्रिय की गुलामी-पराधीनता जीवात्मा को सर्वहारा बना रखती है! सम्भलना कहीं रसना की ललचायी वासना हमें न हथियार बना दे! नहीं तो फिर सर्वनाश का रास्ता खुला है।

श्लोक शयनासनसंबाधसुरतस्नानानुलेपनासक्तः।
स्पर्शव्याकुलितमतिर्गजेन्द्र इव बध्यते मूढः ॥४५॥

अर्थ शय्या आसन अंगमर्दन, चुंबन, आलिंगनादि, स्नान विलेपन इत्यादि स्पर्श में आसक्त स्पर्श के सुख से मोहित बुद्धिवाला मूढ [जीव] हाथी की भांति बंध जाता है।

विवेचन प्राचीन समय मे राजा, श्रीमंत और महंत हाथी और घोडे बडी तादाद मे रखते थे। चूंकि उनका उपयोग युद्ध आदि के दौरान किया जाता था। कौन से राजा के पास कितना हस्ति-दल है, कितना अश्वदल है, इसके आधार पर उस राजा की शक्ति को मापा जाता था। जैसे कि वर्तमान मे वायुयान और सामुद्रिक युद्धजहाजों की संख्या के आधार पर देश की शक्ति का मापा जाता है।

राजाओं के राजमहल पर हाथी झूलते थे, श्रेष्ठियों की हवेलीयों पर हाथी झूमते थे, महंतो के मठो में भी हाथी शान्त बनकर वेदा की

ऋचाएँ सुनते थे। पर क्या यह जानते हो कि ये हाथी जन्मते कहा पर हैं? इन हाथियो को पकडा कैसे जाता है? ग्रन्थकार महात्मा हमे अपने विशाल ज्ञान का परिचय दे रहे है।

हाथी को पकडने वाले मात्र वलप्रयोग से हाथी को नही पकड सकते है। वे हाथी को वश-परवश वनाने का सादा-सरल तरीका ढूंढते हे और इसके लिए वो हाथी की कमजोरी (Weak Point) खोज लेते हैं। हाथी को हथिनी का स्पर्श वहुत प्यारा लगता है। जगलो मे हाथी अधिकतर हथिनीयो के टोले मे ही घूमता है। हाथी को पकड़ने के लिए उसकी यह मानसिक कमजोरी का गैर फायदा उठाया जाता है।

हथिनीयो मे भी वेश्या जेसी हथिनिया होती है, जो हाथी को खुश करने मे वडी कुशल होती हैं। कोई हथिनी हाथी के शरीर से अपना शरीर रगडती है। कोई उसे कान मे पंखा डालती हैं। कोई उस पर पानी के छीटे डालती है। कोई उस पर फूल फेकती है। कोई हथिनी उसके आगे, कोई पीछे, कोई समीप मे चलती है। स्वच्छन्दतया क्रीडा करते हुए उस हाथी को पिन्जरे में लाया जाता है। वस, फिर तो महावत उस पर अपना अंकुश लेकर चढ वेठता है। वार-वार अकुश के प्रहारो से हाथी परवश वन जाता है और दु ख का तीव्र अनुभव करता है। हथिनी की तीव्र आसक्ति हाथी को परवश वना डालती है। स्पर्शनेन्द्रिय के सुखो मे आसक्त मनुष्य भी इसी तरह परवश वनता हुआ दारुण दुःख पाता है। स्पर्श के असख्य विपयो मे जव जीवात्मा लुव्ध वना जाता है तव उसे यह पता नही लगता कि वो विनाश की कगार पर कदम रख रहा है।

सुशोभित शयनगृह मे सुन्दर, मुलायम, सप्रमाण शय्या मे लेटना उसे अच्छा लगता है। मृदु-कोमल, मुलायम आसनो पर वैठना उसे भाता है। स्नानगह मे जाकर सुगधी द्रव्यो से शरीर की मालिश करवाना वो अच्छा समझता है। चमड़ी को स्निग्ध रखने के लिए अनेक प्रकार के क्रीम, पावडर वगैरह का उपयोग करता है। सुकोमल शरीर का स्पर्श मन को अच्छा लगता है। अंग क्रीडा और अनंग क्रीडा मे वो पूरी तरह आसक्त वन जाता है। इसका परिणाम? क्या स्पर्शनेन्द्रिय के विपयों के सुखो का आनन्द वो सतत ले सकता है?

परिणाम पूछिए उस ललिताग कुमार को। राजा की रानी के सौन्दर्यपाश मे आवद्ध उस श्रेष्ठिपत्र ने रानी के साथ स्पर्शसुख का

अनुभव तो किया पर जब अचानक राजा अन्त पुर मे चला आया तब रानी ने ललितांग को शौचालय में छिपा दिया । राजा ने अन्त पुर म आने के साथ ही शौचालय मे जाने की इच्छा व्यक्त की । ललितांग भयभीत हो गया । वो शौचालय की लम्बी पाईप में उतर गया । नरक सी दारुण वेदना सहन करता वो गटर मे बहता हुआ गाव के बाहर नाबदान मे पहुच गया । कई दिनो तक उस गदगी मे ललितांग का पूरा शरीर सड गया । बेहोशी की स्थिति म उसको उसके पिता खोज कर घर पर आये ।

पुरुष को ज्यो स्त्री के शरीरस्पर्श की आसक्ति आ घरती है त्यो स्त्री को पुरुष के स्पर्श की कामना जलाती है । इस स्पर्शसुख मे आसक्त यदि बने, दिन रात मन, वाणी और वतन से जो जीवात्मा स्पर्श सुख मे लीन बने, उन्होने अपने ही हाथो अपना विनाश करना कबूला ह ।

श्लोक एवमनेके दोषा प्रणष्टशिष्टेष्टदृष्टिचेष्टानाम् ।
दुर्नियमितेन्द्रियाणा भवन्ति बाधाकरा बहुश ॥४६॥

अर्थ विवेकी पुरुषो को इष्ट ऐसे ज्ञान और क्रिया (उभय दोनो) जिनके नष्ट हो चुके हैं और दोषो म दौडती इन्द्रियाँ जिनकी नियन्त्रित नही हैं उनको इस तरह (और भी) अनेक दोष बार-बार पीडा कारी बनते ह ।

विवेचन सतत सन्मार्ग की प्रेरणा देने वाला ज्ञान नही ह और यदि है तो उस ज्ञानप्रकाश म आलोकित पथ पर कदम बढाने की इच्छा नहीं होती । ज्ञान नहीं और क्रिया नहीं, दोनो नष्ट हो चुके हैं । ऐसी जीवात्माए हलाहल से भी ज्यादा विघातक विषयो के साथ मौज से घूमते हैं । प्रिय विषय, मन चाहा पदार्थ मिलना चाहिए, वे स्वच्छदतया क्रीडा करने लगते हैं ।

उन बेचारो के पास दृष्टि ही कहा हैं ? सच्ची समझ ही नहीं है । परलोक के बारे म सोचने की शक्ति नही है । फिर उन्हें कौन समझाए कि 'पुण्य कर्म के उदय से यहा इस जीवन मे पाचो इन्द्रिया के अनुकूल और प्रिय विषय मिले हैं, यदि इन विषय भोगो म लीन बन गये, मूढ बन गये तो फिर नरक और तिर्यच गति मे जाना होगा ।

अनेक दु ख और त्रासदायी वेदनाए उठानी होगी । दुर्गतियों मे ये सारे विषय हजारों और लाखो साल तक नही मिल पायेंगे ।

पर कौन समझाए उन्हे ये सारी बाते ? समझाने वाला हो पर समझने वाला ही न हो तो क्या होगा ? ज्ञानदृष्टि के बिना ये बाते समझी नही जा सकती । फिर क्यो न समझाने वाले स्वय तीर्थंकर परमात्मा हो ! चरम तीर्थंकर श्रमण भगवन्त महावीर स्वामी गोशालक को न समझा सके । अपने ही दामाद जमाली को न समझा सके । अनेक पाखडियो को वे सन्मार्ग पर न ला सके । तो क्या उनकी अपूर्णता थी ? नही, परमात्मा की ज्ञानशक्ति तो परिपूर्ण ही थी परन्तु समझने वाले के पास वो ज्ञान, वो सन्मार्गगामी दृष्टि नही थी । वे परमात्मा के ज्ञानामृत को न पी सके । नही वीतराग की ज्ञानस्पर्शना को ग्रहण कर सके । दूरविक्षेपक Transmitter कितना ही शक्तिशाली powerful क्यो न हो, पर यदि यन्त्र मे ग्राहक शक्ति Receptive power ही न हो तो क्या होगा ?

ग्रन्थकार महामना ने अपन को दुनिया के प्रत्यक्ष उदाहरण देकर यह बात समझायी कि एक एक इन्द्रिय की परवशता जीवात्माओ को कैसे भीपण दु खो की ज्वालाओ में फेक देती है। पशुसृष्टि में से एक एक उदाहरण लेकर कितनी अद्भूत शैली में उन्होने निरुपण किया है ! मनुष्यो को लालबत्ती (Red Signal) बताते हुए वे कह रहे हैं ।

'मैंने जो ये प्रत्यक्ष उदाहरण दिये है इन्द्रियपरवश जीवात्माओ के, उन जीवो के दु:ख तो अल्पकालीन है पर जब इन विषय मे लोलुप और आसक्त जीव नरक गति में जाता है, तिर्यञ्च गति मे जा पहुँचता है, वहा उसे जो दीर्घकालीन दु ख सहने पडते है उनकी तरफ जरा नजर करो । चाहे तुम परोक्ष नरक गति को अपनी आँखो से नही देख सकते, चू कि मनुष्य की आँखो की शक्ति इतनी नही कि वो दूर-सुदूर लाखो करोडो मील दूर के दृश्य देख सके । दिव्यदृष्टा ज्ञानीपुरुषो ने उस सारे दृश्य को अपने आत्मप्रकाश मे देखा है और विश्व को दर्शाया है। उस नरक गति मे जीवात्माए जो दुःख सहन करती है वो देखकर करूणावत महर्षियो का हृदय चीख उठता है । उन दुर्गति में कहीं अन्य जीवात्माएं न चली जाए इसलीए कभी वो स्नेह से, कभी गुस्से से भी चिल्ला-चिल्ला कर रोकने का प्रयत्न कर रहे है ।

'इन्द्रियों के विषय में लोलुप मत बनना। उनका उपयोग जितना अनिवार्य हो उतना ही करना। उस में भी सावधानी बरतना। तुम्हारा मनोयोग उसमें शामिल ना हो। मनोयोग के बिना भी विषयोपभोग हो सकता है। मान लो कि, मन उसमें मिल जाता है, तुम उसे रोक नहीं सकते, तो भी उस मन को राग में ज्यादा समय तक डूबने मत देना। आसक्ति में न बँध जायें इसकी सावधानी रखना।'

ये सारी बातें कौन समझे!! जिन्हां की सन्मार्गगामी दृष्टि खुली नहीं है, जो सन्मार्ग पर चलने के लिए भी तय्यार नहीं, जो अपनी इन्द्रियों को उनके शब्द-रूप-रस-गंध और स्पर्श के विषयों में जाने से रोक नहीं पाते, जिनकी इन्द्रियाँ स्वच्छंदतया इष्ट और प्रिय विषयों में भूमती हैं, उन जीवों को ये सारी बातें पसन्द ही नहीं आयेंगी। वो इन्हें स्वीकार नहीं कर पायेंगे। विषयान्धता के करुण विपाक को सोच ही नहीं सकते। उनकी विचारशक्ति ही कुंठित हो जाती है।

परमज्ञानी करुणावंत पुरुष अपनी ज्ञानदृष्टि से जब समूचे संसार का एवं समग्र जीवराशि को देखते हैं, दुर्गतियों में अत्यन्त वेदनाएं, शारीरिक और मानसिक त्रास का शिकार बना देखते हैं तो उनकी आत्मा क्रन्दन कर उठती है। संसार-समुद्र से उन जीवों को बाहर निकालने के लिए वे तन तोड़ कर मेहनत करते हैं। भगवन्त उमास्वाती भी तो इस ग्रन्थ के बहाने ऐसी मेहनत ही तो कर रहे हैं!

पंचेन्द्रियपरवशता

श्लोक एकैकविषयसंगाद् रागद्वेषातुरा विनष्टास्ते।
किं पुनरनियमितात्मा जीवः पंचेन्द्रियवशात्? ॥४७॥

अर्थ एक एक विषय के संग में राग द्वेष से रोगी बने [हिरन वगैरह] जीव नष्ट हो चुके तो फिर पांचों इन्द्रियों की परवशता से जो व्याकुल हैं और जो आत्मा को नियमित नहीं रख पाते उनका क्या होगा?

विवेचन वो भोला हिरन, वो पागल पतंगा, वो मुग्ध भँवरा, वो मीन और वो हाथी क्यों मौत की गोद में जा बैठते हैं? स्वच्छंदी इन्द्रियों की विषयों में आसक्ति! विषयराग जीवात्माओं को विषयों की तरफ ले जाता है। जीव उनमें फँस जाते हैं और बुरी मौत मरते हैं।

सोचिए, आत्मा को साक्षी वनाकर अपने आपको टटोलिये। एक-एक विपय की पराधीनता उनके प्राण ले लेती है। उन्हे घोर पीडाए देती है। तो फिर मनुष्य की क्या दशा होगी, इसकी कल्पना भी की है कभी? उन तिर्यंच जीवात्माओ के पास मनुष्य सा विकसित मन नही होता, भूतकाल या भविष्य काल का विचार भी ये जीव नही कर पाते। ज्ञानी पुरुपो का उपदेश वे सुन नही पाते। समझ नही पाते। फिर ये वेचारे जीव कैसे अपनी आत्मा को अनुशासित रख सकते हैं? कैसे इन्द्रियनिग्रह कर सकते है?

पाच-पाच इन्द्रियो को परवश मानवी, यदि अपनी आत्मा को वश में नही रख पाता है, अपने मन को इन्द्रियजन्य सुखो मे आसक्त वनाने से रोक नही पाता है, तो उसका कितना और कैसा सर्वनाश हो सकता है, यह वात गम्भीरता से सोच लेनी चाहिए। आत्मा, मन और इन्द्रियाँ एकमेक वनकर पारस्परिक गाढ सहकार से जव विषयो की गलियो में रगरेलियाँ मनाते है तव जीवात्मा इतनी मूढ हो जाती है, इतनी लुब्ध वन जाती है कि उसे यह सोचने का अवकाश ही नही रहता कि 'मेरे भावप्राणो का निकदन निकल रहा है।'

जव मनुष्य को मीठे, मधुर वोल शब्द सुनने को मिलते है तो वह घटो तक उसमें खो जाता है। चाहे शिकारी जैसे हिरन को वीध डालता है वैसे यहा उसे कोई वीधता नही और नही कोई गोली चलाता, पर उस वक्त जो पाप कर्म वधते है उन कर्मो की दारुणता उस शिकारी से भी ज्यादा भयानक होती है। जव कोई मनुष्य किसी मन चाहे रूप-सौन्दर्य के पाश में वद्ध वनकर टुकुर-टुकुर रूप को निहारता है तव कर्म उसका सर्वस्व छीनने उतारु हो जाते है। इसका ख्याल भी उसे कहाँ होता है? सुगधी फूल, महक-महक करते चम्पा चमेली के इत्र, खुशवू को विखेरते इन्टीमेट वगैरह में लीन वनी जीवात्माए। उन्हे उस वक्त अपने ही शरीर के भीतर भरी दुर्गन्द-वदवू का ख्याल नही आता। उस वक्त वधते कर्मो की वदवू, सडे हुए साप की दुर्गन्ध से भी अनतगुनी ज्यादा है, यह कहाँ से समझी जा सके? जव मानवी मन-पसद रस में, रसोपभोग मे लीन वन जाता है, छहो रसो से भरपूर भोजन पर टूट पडता है, उसमे एकमेक वन जाता है उस समय मछली के जवडे को वीधते उस लौह के काटे से भी भयकर कर्मो के तीक्ष्ण शूल आत्मा

वो कैसे चुमते जाते हैं, वो तो प्रत्यक्ष द्रष्टा ज्ञानीपुरुष ही बतला सकते हैं। मन चाहे और मनमाने विषयों की गोद में रागराग की होली खेलते विषयांध मानवों को कौन समझाने जायें कि 'भाई, यह इन्द्रियपरवशता तुझे रौरव नरक की वेदनाओं के बीच धकेल देगी। छोड़ दे इन परवशता के पाशों को। अपने आपको अनुशासित कर। मानवजीवन को यूं कौड़ी के मोल न बीकने दे।' पर सुने भी कौन?

शब्द रूप रस-गन्ध स्पर्श के विषय सुखों में पांचों इन्द्रियों के माध्यम में डूबे मनुष्य कैसे बेहाल होते हैं और संसार में खो जाते हैं इसकी कल्पना भी कंपा देती है।

जिन मनुष्यों को अपने मन चाहे विषय नहीं मिले, उन विषयों की तीव्र अभिलाषा करते हुए, उन विषयों के उपभोग की कल्पना में तड़फते और रात दिन उन विषयों को प्राप्त करने के लिए तनतोड़ मेहनत करते हुए मनुष्यों की मनोव्यथा तुम जानते हो? अप्राप्त विषयों को प्राप्त करने की तीव्र अभिप्सा और प्राप्त विषयों के रक्षण की सतत चिन्ता इन्द्रियपरवश जीव को कितनी घोर पीड़ा देती है, उसका विचार तो करो जरा! पांचों इन्द्रियों की परवशता! स्वच्छंद आत्मा की वो परवशता उसे भवसमुद्र में खूब गहरे डूबा देती है।

शब्दादि विषयों के साथ प्रीति बधती और अठखेलियां करती आत्मा को रोको। समझा कर रोको। वरना भविष्य के असंख्य भव अंधकारमय और दुःखमय बन जायेंगे।

सदैव अतृप्त इन्द्रियाँ

श्लोक नहि सोऽस्तीन्द्रियविषयो येनाभ्यस्तेन नित्यतर्षितानि।
तृप्तिं प्राप्नुयुरक्षाण्यनेकमार्गप्रलीनानि ॥४८॥

अर्थ ऐसा कोई भी विषय नहीं है इन्द्रियों का कि जिसका पुनःपुनः आसेवन करते से हमेशा प्यासी और अनेक मार्गों में [इन्द्रादि विषयान्तर अनेक प्रकारों में] खूब लीन बनी हुई इन्द्रियाँ तृप्ति पाये।

विवेचन तुम्हें तृप्ति चाहिए ना? तृप्ति के अमृत से भरा अविरत डकार लेनी है ना? तो तुम जिस रास्ते पर हो उससे यह नहीं मिलने की। इस रास्ते पर अनेक पुरुषार्थी चलते रहे अधिकांश वे सब अतृप्ति

की अगन ज्वालाओ में ही झुलस गये, कुछ उस रास्ते से लौटकर तृप्ति के रास्ते के यात्री वन गये।

तुम ऐसा मान रहे हो कि इन्द्रियो को प्रिय विपयो का उपभोग मिले तो तृप्ति हो जाय ? ऐसी मान्यता में तुम क्यो ववे, जानते हो? विषयोपभोग से इन्द्रियो ने तुम्हे तृप्ति का आभास वताया। क्षणिक तृप्ति के इस आभास में तुम मुग्ध वनते चले! मीठे-मीठे वोल सुनने को मिले, तुम्हे मजा आ गया। . तुम उस पल दो पल के मजा को तृप्ति समझ वैठे। किसी मोहक रूप पर निगाहे जा गिरी...आँखे मन्त्र-मुग्ध सी बन गई। हवा की लहर सी मजा को तुम तृप्ति समझ वैठे। हवा मे फैली खुशवू को सू घा, नाक को मजा आ गया और तुमने समझा चलो तृप्ति हो गयी। किसी मीठे, तीखे, कडुए रस के आस्वाद मे जिह्वा खो गई और वो क्षणिक मजा तुम्हे तृप्ति सा लगा। किसी मुलायम गौरे-गौरे जिस्म का स्पर्श मिला और दरिये की लहरो सी मजा को तृप्ति समझने की भूल तुम दोहरा वैठे।

यह तो निरी माया-मरीचिका है भाई, यह कोई तृप्ति नही। तृप्ति के पश्चात् यदि अतृप्ति की अगन तन-मन को पागल सा वना दे उसे तृप्ति कहना क्या उचित होगा ? लाख रुपये मिल भी गये, पर यदि अल्प समय मे ही चले जाय तो उन रुपयो का मिलना क्या मायना रखता है? रोजाना इन इन्द्रियो को तृप्त करो और रोज ये अतृप्त वनती चले! यह कोई आश्चर्य नही, इनका स्वभाव ही है। ये हमेशा प्यासी ही रहती है। कभी शान्त वनने की नही।

इन इन्द्रियो की एक अन्य विशेषता भी जान लो साथ-साथ। इन्हे एक ही विपय मे कभी लगाव नही रहता। इनके विषय वदलते ही रहते है। कल्पना की दीवार पर रग-विरगी विपयो के चित्र सजते ही चले जाते है। एक ही गीत हमेशा सुनना पसद नही, कुछ नवीनता चाहिए। रोज नये गाने की फरमाईश। वताओ, श्रवणेन्द्रिय तृप्त होगी कैसे ? आँखे एक ही रूप पर टिकती नही, रोज नये चेहरे, रोज नये रूपरग चाहिए। चेहरो का सागर होते हुए भी नयनो की नन्ही गागर भरती ही नही! नाक को एक गुलाव या हीना, रजनीगधा या चमेली की खुशवू पसद नही। रोजाना नयी खुशवू! नये इत्र, नये फुलेल! नयी नयी मागे तय्यार ही रहती है।

रसना की तो बात ही छोड़ो। नये-नये भोजन, नये-नये पेय पदार्थ, नये-नये मुखवास चाहिए! रसना तृप्त होगी ही नहीं। त्वचा को भी एक ही व्यक्ति या एक ही वस्तु का स्पर्श पसंद नहीं। उसे भी नवीनता चाहिए। बदलाहट ही बदलाहट! पूरी जिंदगी बदलाहट के बादलों में घिर गयी है। एक बादल छितराया तो दूसरा तैयार ही है।

असंख्य जड़-चेतन विषयों में फँसी हुई इन्द्रियों की लोलुपता इस तरह शान्त होगी ही नहीं। ज्यों ज्यों तुम इन्हें विषय देते चलोगे त्यों त्यों इनकी अतृप्ति की अगनज्वालाएँ ज्यादा धधकेगी। इनकी तृषा बढ़ती ही चलेगी। अग्नि में लकड़ियाँ और घी डालते रहने से तो वो ज्यादा तेज होगी, बुझेगी नहीं। यदि सचमुच तृप्त बनना ही हो, तृप्ति की अभिप्सा तुम्हारे रोएँ रोएँ में जाग उठी हो तो इन्द्रियों को विषयोपभोग से रोकनी होगी।

हैं इसके भी अनेक उपाय। यदि तुम अंतःकरण से चाहोगे तो उपाय तुम्हें अवश्य मिलेगा। यात्री को राह मिलता ही है। सर्वप्रथम इन इन्द्रियों के स्वभाव को जान लेना चाहिए। हमेशा की भूखी और प्यासी इन्द्रियों को बराबर पहचान लेना चाहिए। अमृत्य विषयों में लुब्ध बनी इन्द्रियों के सारे मुखौटे उतार कर उनका असली चेहरा जानना बहुत जरूरी है। एक बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि इन्द्रियाँ वास्तव में कभी तृप्त बनती ही नहीं।

शुभ-अशुभ कल्पनामात्र

श्लोक कश्चिच्छुभोऽपि विषय परिणामवशात्पुनर्भवत्यशुभ ।
कश्चिदशुभोऽपि भूत्वा कालेन पुन शुभीभवति ॥४६॥

अर्थ कोई इष्ट विषय भी परिणाम के कारण (देश व काल भेद से) अनिष्ट बनता है और कोई अशुभ विषय भी कालान्तर में (समय के परिणाम) से इष्ट बनता है।

विवेचन मन की लीला अपरंपार! मन की अथाह गहराइयों की थाह पाना बड़ा मुश्किल है। इसको कल जो प्रिय था आज वो ही बिलकुल नापसंद। जो कल अच्छा नहीं लगता था वो ही आज जी-जान से प्यारा लगता है। विषय वही, मन भी वही। इस दृष्टान्त से यह बात ज्यादा स्पष्ट हो जायेगी।

सोचिए, दो दिन पहले ही बाजार से विख्यात कम्पनी के नये 'मोडल' का Television दूरदर्शक ले आये। परिवार के साथ, मित्रों स्वजनो के साथ बडे आराम से घटो तक टी वी. पर प्रसारित कार्यक्रम देखे। बडी प्रसन्नता व्यक्त की। टी. वी. की वैज्ञानिक शोध पर आफरीन होकर प्रशसा के फूल भी बिखेरे। दूसरे दिन सुबह से ही दुकान पर अत्यधिक व्यस्तता के कारण शाम को घर लौटने में देर हो गयी। भूख भी जोरो से लगी थी। मन में सोचा था घर पर जाकर सबसे पहला कार्य भोजन करने का करेंगे। घर पर पहुँचे। सारा घर स्त्री-पुरुषो से भरा था। टी वी. पर एक बढिया फिल्म चल रही थी। घर के सभी सदस्य कार्यक्रम देखने में तल्लीन थे। तुमने पत्नी को भोजन के लिए कहा और पत्नी ने कह दिया : 'कैसी बात करते है आप, अरे खाना तो बाद में खा लेना अभी तो Picture चित्र देखिये, कितनी बढिया फिल्म है!' तो क्या उस समय आप पत्नी के आमत्रण का सस्मित स्वागत करेंगे? भोजन करने की बजाय टी वी देखना पसद करेंगे या फिर पत्नी पर गुस्सा आयेगा? तुम्हे भूख का दु ख था तो तुमने टी वी देखना पसद नही किया। जब तुम्हे भूख नही, प्यास नही, दिमाग पर चिन्ता या भार नही, उस समय टी. वी. देखना अच्छा लगता है, मानो कि आप टी वी. देखने मे तल्लीन हो और आपकी पत्नी आपको भोजन के लिए बुलाए तो क्या होगा? गुस्सा आयेगा न पत्नी पर? टी. वी सेट वही है, कार्यक्रम भी वही है, और भोजन भी वही है! विषय मे कोई परिवर्तन नही, परिवर्तन होता है मानव के दिमाग मे। परिवर्तन होता है जीवो के अध्यवसाय एव परिणामो मे।

जब मन राजी होता है तो एक विषय प्रिय लगता है और जब मन द्वेषी होता है तो वही विषय अप्रिय लगता है। हनुमान के पिता पवनजय के मन मे अजना के प्रति द्वेप था तब तक यानि कि बाईस-बाईस वर्प तक पवनजय ने अजना का मु ह तक नही देखा था, उसके शयनखड मे पैर नही रखा था, बाईस साल के बाद मानसरोवर के किनारे पर मन के भाव बदले और तुरन्त मित्र के साथ आकाश मार्ग से वो अजना के महल मे दौड गया। क्या था यह? अंजना वही थी। पवनजय भी वही, महल भी वही। पवनजय के मन मे परिवर्तन आ गया। द्वेष के स्थान पर राग हो गया। उसे अजना अच्छी लगी, निर्दोष लगी, स्नेहार्द्र लगी।

बाईस-बाईस वर्ष तक अंजना का नाम न लेने वाला वो पवनंजय, जब जंगलों की एक एक कंदरा में भटकने पर भी अंजना न मीली तो उस भूतवन में चिता सुलगा कर उसमें जल मरने को तयार हो गया था। अंजना के बिना जीना उसे दुश्वार लगा था।

विषयों की तरफ का इन्द्रिय एवं मन का प्रेम, राग, स्नेह अनवस्थित है। एक विषय या व्यक्ति पर इसका प्रेम स्थायी नहीं होता, बदलता ही रहता है। अतः इन्द्रियजन्य सुख भी अस्थायी होता है। जो मिठाई आज अच्छी लगती है, अगले दिन वही बुरी लगेगी। जो मीठाई कल तक बिल्कुल खराब लगती थी आज वो बडी अच्छी-स्वादिष्ट लगती है। जिसको कल तक छूना भी पसंद न था आज उसे ही सीने से लगाये फिरता है इन्सान। क्या है यह सब? ये सारे मन के बदलाते राग और द्वेष के खेल हैं। विषय तो वे ही हैं। विषय अच्छा हो या बुरा, इससे कोई ज्यादा फर्क नहीं पडता। रागी को बुरा विषय भी प्यारा लगेगा और द्वेषी को मनचाहा विषय भी अनचाहा लगेगा। इसलिये तो उस कवि की आवाज गुंज उठी —

'ओ मन, कौन तुझ समझाये?'

कल्पना की दुनिया

श्लोक कारणवशेन यद्यत प्रयोजनं जायते यथा यत्र।
तेन तथा तं विषयं शुभमशुभं वा प्रकल्पयति ॥५०॥

अर्थ जिन कारणों से जिस तरह जो जो प्रयोजन पैदा होते हैं त्यों त्यों उत्पन्न हुए प्रयोजन से वो विषय को अच्छा या बुरा मानता है।

विवेचन कोरी कल्पना मात्र है प्रिय और अप्रिय की। इष्ट और अनिष्ट की। मन की कल्पना के अलावा कुछ भी वास्तविकता नहीं है। कल्पना की दीवार पर जब राग के रंग छा जायँ तो वो पदार्थ, वो व्यक्ति प्रिय जन बन जाता है। मन चाही लगती है सारी दुनिया। जब उसी दीवार पर द्वेष के रंग बिखर जाते हैं तो वही दुनिया और वो ही व्यक्ति सब कुछ अप्रिय अनचाहा प्रतीत होता है।

पदार्थ बुरा है इसलिए अप्रिय लगता है, व्यक्ति खराब है इसलिए अनचाहा लगता है, यह मान्यता यहाँ झूठी हो जाती है। पदार्थ अच्छा है इसलिए प्रिय लगता है, या व्यक्ति खूबसुरत है इसलिए प्यारा लगता

है।' यह धारणा बचकानी लगती है। वस्तु मे अच्छेपन या बूरेपन का ख्याल जीवात्मा करती है। और इस कल्पना के प्रेरक (inspirer) होते है राग और द्वेष।

मनचाहे विषयो मे इन्द्रिया प्रवृत्त वनी रहती है और अनचाहे विषयो से इन्द्रिया निवृत्त वनती चलती है। इस प्रवृत्ति और निवृत्ति के पीछे दोरीसचार (wire-pulling) होता है मन की रगीन कल्पनाओ का। इसलिए इन्द्रियो को विपयो मे प्रवृत्त व निवृत्त वनने से रोकने के लिए ग्रन्थकार महर्षि एक अभिनव कल्पना दे रहे है। नयी दृष्टि, नया दृष्टि-कोण (Sight angle) दे रहे है। वो कह रहे है —

'यह गीत मीठा है, वड़ा प्यारा है, यह सगीत के सूर कितने आल्हादक है!' यो मान कर तुम कानो को गीत–सगीत मे जोडते हो। पर यह तो सोचो कि तुम्हे यह गीत, यह सगीत कौन पसद करवाता है? तुम्हारी रागदशा उस गीत सगीत मे अच्छेपन की कल्पना सजो लेती है। ठीक उसी तरह कोई गीत या सगीत अच्छा नही लगता 'यह गीत अच्छा नही है।' यह कल्पना तुम्हारी द्वेषदशा को मुवारक है। इसी तरह पाँचो इन्द्रियो के विपयो मे समझ लेना चाहिए।

जीव की रागदशा न तो स्थायी होती है और नही द्वेषदशा स्थायी होती है। राग के वाद द्वेप और द्वेप के वाद राग। चलता ही रहता है यह क्रम। इसी कारण प्रिय-अप्रिय की कल्पनाए वदलती रहती है। रागदशा में जो पदार्थ अच्छा लगता है, द्वेपदशा मे वही पदार्थ वुरा लगता है। पदार्थ तो वही होता है।

एक व्यक्ति पर जव राग होता है तव उसका रूप-रग-शव्द-स्पर्श सव कुछ वडा प्यारा लगता है, पर जव उसी व्यक्ति पर द्वेप घृणा या नफरत का मुखौटा पहन कर नजर डालते हैं तो वो हमें वडा बुरा लगता है। उसकी हर खासियत हमे वेहूदी लगने लगती है। व्यक्ति वही है, कोई परिवर्तन नही, परिवर्तन होता रहता है हमारी रागदशा का, हमारी द्वेपदशा का।

'व्यक्ति अच्छा है, इसलिए हमे पसद है।' यह मान्यता सरासर झूठी है। हमारे भीतर राग है, अनुरक्ति है इसलिए व्यक्ति पसद है। व्यक्ति खराव है वुरा है यह धारणा विलकुल गलत है। द्वेपभाव हमे व्यक्ति को वुरा मानने के लिए मजवूर वना देता है।

देखा, अनंतसिद्ध भगवंत अपने केवलज्ञान में संसार की तमाम जीवात्माओं को देखते हैं ना ? पहचानते हैं ना ? जीवात्माओं के, पदार्थों के सारे गुण-दोष जानते हैं ना ? फिर उन्हें 'यह अच्छा है या बुरा है।' ऐसी कल्पना क्यों नहीं आती ? चूँकि वो वीतराग हैं। उन्हें न तो राग है नहीं द्वेष है। अतः उनका ज्ञान रागद्वेष के रंगों से रंगा हुआ नहीं है। इस कारण उनकी ज्ञानदृष्टि परम विशुद्ध है।

यदि दृष्टिकोण (The angle of sight) हमारा अपना बन जाय तो जीवात्मा और जड़ पदार्थों में अच्छेपन, बुरेपन का ख्याल करने का बचकानापन अपने आप छूट जायेगा। अपने राग-द्वेष कम करने का पुरुषार्थ चालू हो जायेगा।

यह ज्ञानदृष्टि यदि हमें मिल जायें तो विषयों की तरफ दौड़ती अपनी इन्द्रियाँ रुक जायेंगी। दौड़धूप कम हो जाएगी। राग द्वेष की मंदता के साथ इन्द्रियों के विषयसंचार में क्रमशः भी अल्प, अल्पतर होता चलेगा। ऐसी अद्भुत है यह रहस्यपूर्ण बात! यह तत्त्वदृष्टि है, ज्ञानदृष्टि है, दिव्य दृष्टि है। इस के माध्यम से हम हमारी कल्पनाओं की दीवारों पर जमे हुए राग द्वेष के रंग धो डालें। अपनी आत्मा को सहज निर्मल बनाने में प्रयत्नशील बनें।

श्लोक अन्येषां यो विषयः स्वाभिप्रायेण भवति तुष्टिकरः ।
स्वमतिविकल्पाभिरतास्तमेव भूयो द्विषन्त्यन्ये ॥५१॥

अर्थ दूसरों को जो विषय [शब्द, रूप वगैरह] अपने मनोभिप्राय में परितोष करने वाले लगते हैं वे ही विषय अन्य पुरुषों के लिए जो कि अपने मन के विकल्पों में डूबे रहते हैं द्वेष का कारण बनते हैं।

विवेचन जरा स्वस्थ बनकर विचार तो कीजिये! चिंतन की कितनी आश्चर्यकारी पगडंडी बता रहे हैं ये महामना महर्षि! वे कह रहे हैं जो विषय तुम्हें अच्छे लगते हैं सुन्दर और मनोहारी लगते हैं, वे विषय यदि सचमुच सुन्दर हैं, मनोहारी हैं तो फिर सब को वे अच्छे लगने चाहिये ना ? पर ऐसा नहीं बनता। जो विषय, जो पदार्थ एक व्यक्ति को पसन्द आ जाता है उस विषय को दूसरा पसन्द करे ही, ऐसा नहीं

कोई वात नही । यदि विषय की ही महत्ता हो, विषय में ही अच्छा-पन या वुरापन हो तो फिर सभी को वो एकसा पसन्द या नापसन्द आना चाहिए ।

कितनी अकाट्य दलील है ! वस्तु यदि सुन्दर है, वस्तु मे ही सुन्दरता व सुखदायकता है तो फिर वो सभी को अच्छी लगनी चाहिए, सभी को मनोहारी महसूस होनी चाहिए, सभी को उससे सुखानुभूति होनी चाहिए । पर ऐसा नही वनता इस ससार मे । जो विषय आपको वडा प्यारा लगता है मुझे उसी से नफरत हो जाती है । आईये, अपन एक-एक इन्द्रियो के विषय को लेकर कुछ वाते करे ।

देखिये, यह जो गीत आप सुन रहे हैं यह है श्रवणेन्द्रिय का विषय ! क्या आपको यह गीत पसद है ? नही । क्योकि आपने इसको वहुत वार सुन रखा है, अव तो आप इसे सुनते सुनते वोर हो जाते हैं, पर मुझे यह गीत वडा प्यारा लगता है । लगता है, जैसे सुनता ही रहूँ इसे । इसकी स्वरसुधा मे मैं अपने आपको हमेशा तरोताजा महसूस करता हूँ । गीत तो वही है पर आपको कतई पसद नही, मुझे वडी खुशी मिलती है इसे सुनकर । देखिये, इस मंदिर का शिल्प कितना सुन्दर है ! सचमुच इस प्राचीन शिल्प पर मेरा मन मोहित हो जाता है । तुम्हे अच्छा लगा यह शिल्प ? क्यो अच्छा नही लगा ? तुम्हे ऐसी पुरानी स्थापत्य-कला के प्रति कोई लगाव नही, पर मुझे तो वडा प्यारा लगता है यह । स्थापत्य तो वो ही है, तुम्हे नापसद है, मुझे वडा खूवसूरत लगता है ।

क्या आपको सभी इत्रो की सुवास प्रिय है ? सारे फूलो की सुगध तुम्हे अच्छी लगती है ? तुम्हे "हीना" पसद है पर मुझे पसद नही है । तुम्हे रजनीगधा के फूल अच्छे लगते हैं, मुझे तो गुलाव ही पसंद है । वस्तु तो वही है, तुम्हे अच्छी लगती है पर मुझे नही लगती, मुझे अच्छी लगती है पर तुम्हे नही लगती ।

आईये, रसोईघर मे चले । तुम्हे शायद गुलावजामुन वडे स्वादिष्ट लगते है पर मुझे गुलावजामुन विलकुल नापसद है । तुम इस करेले की सव्जी देखकर नाक सिकोडते हो । मुझे खूव अच्छी लग रही है यह सव्जी । होता है ऐसा भी । तुम्हे जो अच्छा लगे, मै उसे पसद न

करू ! चार को जो खाना पसद है, अन्य चार को वो नापसद है। अपन स्पशनेंद्रिय का विषय लें। तुम्हे यह खादी का कपडा पहनना अच्छा लगता है। तुम्हें पसद है खादी, पर मुझे बिलकुल पसद नही खादी पहनना। खादी के कपडे का स्पश तुम्हें मनपसद है पर मैं उसे पसद नही करता। मुझे तो सिन्थेटिक [Synthetic] कपडे पसद है पर तुम उनसे कतराते हो।

यह पसद और नापसद आखिर बला क्या है? प्रिय और अप्रिय ह क्या? मात्र अपने अपने मन की तरगें। राग की तरगे और द्वेष की तरगें। सभी आत्माओ का मन एक ही साथ रागी नही होता और एक ही साथ द्वेषी नही होता। एक विषय पर सभी को राग नही होता, सभी को द्वेष नही होता। भिन्न भिन्न जीवा के राग-द्वेष भी भिन्न भिन्न होते हैं। रागद्वेष से प्रेरित होकर जीवात्माएँ विषया मे अच्छाई या बुराई का आरोप करती हैं।

यह है वास्तविकता का सही एव समूचा दशन। शब्द - रूप - रस - गध और स्पश-पाचो इन्द्रियो के इन असख्य विषयो मे सुखदायकता या दुखदायकता नही है, अच्छाई या बुराई नही है, अपितु जीव का राग ही उसे 'फला विषय अच्छा है, फला विषय बुरा है,' ऐसी मनोवृत्ति पैदा करता है। महामना ग्रन्थकार विवेकी आत्माओ को अन्तमु ख बनाने की चाहना रखते हैं। जीव के अपने राग और द्वेष को दिखलाना चाहते ह। और उन्हे समझने के लिये प्रेरणा दे रहे हैं। उसी बात की विशेष स्पष्टता आगे कर रहे हैं।

श्लोक तानेवार्थान् द्विषतस्तानेवार्थान प्रलीयमानस्य।
निश्चयतोऽस्यानिष्ट न विद्यते किंचिदिष्ट वा ॥५२॥

अथ उन्ही [इष्ट] शब्दादि विषया का द्वेष करते हुए और उन्ही [अनिष्ट] विषया म तन्मय बनते हुए इस को [विषयभागी को] पारमार्थिक, रूप से न तो कुछ इष्ट हैं और नहीं अनिष्ट है।

विवेचन केवल शब्दो के स्थूल अथ को पकडना नही चाहिए, अपितु शब्दो के रहस्यभूत परमार्थिक अर्थों तक पहुँचना चाहिए। पांचो इन्द्रियो के विषय न तो प्रिय हैं और नही अप्रिय हैं यह परमार्थिक

दृष्टि है, यह रहस्यभूत बात है । रहस्यपूर्ण बाते हर एक की समझ मे नही आ सकती । सूक्ष्मबुद्धि वाले मनुष्य ही इस बात को समझ सकते हैं । मात्र स्थूल व्यवहार मे ठहरे हुए मनुष्य परमार्थिक दृष्टि वाले नही होते । निश्चय नय की दृष्टि उनमे नही होती ।

क्या इस ससार मे ऐसी जीवात्माएँ नही है जो सुन्दर-मनोहारी विषयो - पदार्थो पर भी नफरत-घृणा करती हो ? अरे, एक बार जिसको गले से लगाया हो, दूसरी वार उसी का क्रूर तिरस्कार करे और जिससे एक वार नफरत को हो, दूसरी वार उसी की चापलूसी करते फिरे ! क्या ऐसा सभी के जीवन मे नही वनता है ? ऐसा क्यो वनता है ? कैसे वनता है ? यह सोचने का अवकाश है ? नही ! वास्तव मे जिसका विचार करना है, जिसके लिए कुछ गम्भीरता से सोचना है, उसकी तरफ तो हम आखमिचौली करते है और जिसे सोचने की कोई जरूरत नही, उसका विचार हर हमेशा करते रहते है ।

यह परमार्थिक वात, रहस्यपूर्ण बात ग्रन्थकार सूक्ष्म बुद्धि, पैनी दृष्टि वाले मनुष्यो को कह रहे है । इन श्रुतधर महर्षि की बाते सुनने की योग्यता औरो मे तो है ही नही ! हाँ, पात्र मनुष्य को ही उसकी योग्यता के अनुसार तत्त्वोपदेश देना चाहिए । जिनकी बुद्धि निर्मल नही बनी है, शुद्ध नही बनी है, सूक्ष्म और पैनी नही है, विवेक से युक्त नही है, ऐसे जीवो के लिये यह उपदेश है ही नही । ऐसे जीव इस बात को समझ ही नही सकते । ज्यादा से ज्यादा तो ऐसे जीव दो-चार धर्मक्रियाएँ करले अथवा आठ दस उपवास करले, इतना ही । उनकी चित्तशुद्धि तो होती ही नही, मन की गन्दगी दूर होती ही नही ।

'यह पदार्थ अच्छा और यह पदार्थ बुरा'......'यह मनुष्य अच्छा, भला, और यह आदमी तो खराव...बुरा', वस, ऐसे आर्तध्यान की आग मे ही जीवात्माएँ झुलसती रहेगी । वे अपना आतरनिरीक्षण कर ही नही पायेंगी । पदार्थ का विश्लेषण नही कर पायेगे । अपने प्रिय विषय सुखो प्राप्त करने के लिए और प्राप्त विषयो के उपभोग मे डूबे रहने के लिए ही ऐसे जीव प्रयत्नशील रहते है । 'ये विषय कही चले न जायँ,' ऐसी चिन्ता उन्हे सतत वनी रहती है । उन्हे आर्तध्यान की समझ नही होती । अपने मन के परिणामो के प्रति कोई जागरू-

कता नहीं होती। ऐसे जीवों को कैसे समझाया जाय कि 'भाई, कोई विषय न तो अच्छा होता है, नहीं बुरा होता है। न तो कोई पदार्थ अनचाहा होता है और न ही कोई मनचाहा है। न कोई प्रिय है, इष्ट है और नहीं कुछ अप्रिय, अनिष्ट है। यह तो सब तेरे राग द्वेष की मायाजाल है। राग वस्तु को मनचाही बनाता है, द्वेष इसी को अनचाही बना देता है। राग-द्वेष के परिवतन के साथ-साथ यह सब कुछ बदलता रहता है। सुख दुख की कल्पनाएँ भी परिवर्तित होती रहती हैं।'

आग्रह छोड दो, निराग्रही बनो! 'यह व्यक्ति तो अच्छा है, पर वो खराब है। वो तो कभी सुधरेगा ही नहीं यह तो मुझे जरा भी पसन्द नहीं मैं इसके सामने भी देखना नहीं चाहता।' ऐसा सोचना बड़ी बेवकूफी है। बोलना भी मूर्खता है। किसके ऐसे आग्रह हमेशा बने रहे हैं? जिस सीता के विरह में रामचन्द्रजी पागल बनकर जगलों में भटकते रहे, जिस सीता के खातिर उन्होंने लंकापति दशानन से भयंकर युद्ध खेला सीता पर उन्हें कितना राग था? कैसी मानते थे वे सीता को? जिस सीता के बिना एक पल भी उन्हें बेचैनीभरी लगे उसी सीता को रामचन्द्रजी ने जगल में असहाय धकेल दिया। कहा गया सीता के प्रति राम का अक्षुण्ण स्नेह? वर्षों तक राम ने सीता के बिना जीवन बिताया। सीताजी तो वही थी। रामचन्द्रजी के राग-द्वेष ने उन्हें सीता में प्रिय-अप्रिय की कल्पना बाँधने को मजबूर कर दिया।

सीताजी के पास तत्त्वदृष्टि थी। वो समझती थी कि 'जो मेरे पर राग करेगा वो ही मुझे प्रिय मानेगा। पर जब वही व्यक्ति द्वेष करेगा तो उसे मैं आँखों कि किर-किरी की भांति लगूंगी। दूसरों के राग द्वेष पर अपना नियंत्रण तो है ही नहीं।' इसलिए सीताजी को राम के प्रति तनिक भी गुस्सा नहीं आया। उन्हें जरा भी बौखलाहट नहीं हुई। विश्व में इष्ट-अनिष्ट, प्रिय-अप्रिय की तमाम कल्पनाएँ जीवात्मा के राग-द्वेष में से उत्पन्न होती हैं, यह बात हमें गम्भीरता से समझ लेनी चाहिए। विषयों में अच्छापन या बुरापन परमार्थिक दृष्टिकोण से, निश्चय की नजर में नहीं है, यह बात समझने के लिए हम गहराई में जाना जरूरी है। तब ही हम राग-द्वेष के दुष्प्रभावों से बच सकेंगे।

श्लोक : रागद्वेषोपहतस्य केवलं कर्मबन्ध एवास्य ।
नान्यः स्वल्पोऽपि गुणोऽस्ति य· परत्रेह च श्रेयान् ॥५३॥

अर्थ . राग और द्वेप से उपहत [मनवाले] उसको केवल कर्मबन्ध ही होता है, इस लोक मे या परलोक मे, दूसरा अल्प भी गुण [उसमें] नही है।

विवेचन भीषण भववन मे भटकाने वाले कर्म किस से बंधते है, यह वात स्पष्ट शब्दो मे ग्रथकार महर्षि ने बतलायी है । या फिर, राग और द्वेष की अगन मे झूलसे हुए मन को सिवा कर्मबन्ध और कुछ लाभ नही मिलता है, यह बात महामना ग्रन्थकार बडे तीखे शब्दो में कह रहे हे ।

किसी भी विषय मे मन गया, उस विषय में मन आसक्त बना या द्वेषी बना कि कर्मों के बन्धन जकड़ ही लेगे आत्मा को ! आप कहेगे . 'भला यह भी कोई बात है ? राग-द्वेष करे मन और कर्मो से बध जाय आत्मा ? कुछ जचती नही यह बात । ऐसा हो कैसे सकता है ?' हाँ, ऐसा ही बनता है । विषयरागी बने मन, विषयद्वेषी बने मन और कर्मो से लिप्त बने आत्मा ! चूंकि मन और आत्मा के बीच एक सम्बन्ध है, कड़ी है । मन जड यन्त्र सा है आत्मा का ! आत्मा ने ही मन के यन्त्र का निर्माण किया है, विचारो को पैदा करने के लिये यन्त्र से यदि त्रुटिपूर्ण उत्पादन हो तो नुकसान मालिक को ही होगा न ? मन का मालिक आत्मा है, अत मन के राग–द्वेपादि का नुकसान 'कर्मबन्ध', आत्मा को ही भुगतना पडता है।

एक बात है, यदि कोई बडा लाभ होता हो और थोडा नुकसान भी भुगतना पडे तो तो उसे भुगत लेना बुद्धिमत्ता है, व्यापारिक बुद्धि है । पर अन्य किसी अल्प या बडे लाभ के बिना केवल नुकसान ही नुकसान होता रहे तो ? व्यक्ति निर्धन, दरिद्र एव किकर्तव्यविमूढ बन जाय ।

इष्ट-मनचाहे विषयो में राग करने से और अनिष्ट-अनचाहे विषयो मे द्वेप करने से बताईये, आपको कुछ लाभ हुआ है ? अरे, किसी को भी हुआ है ? वर्तमान मे या पारलौकिक जीवन मे कही भी कुछ लाभ

हुआ है ? 'लाभ' को अच्छी तरह समझ लें वर्ना गलत धारणाएँ बनी रहने की संभावना है। 'लाभ' अर्थात् आंतर बाह्य सुखानुभूति। अच्छे शब्द, रूप-रस गंध और स्पर्श के प्रति अनुरक्त बन कर कौनसा सुख पाया ? क्षणिक आनन्द ! अल्प आह्लाद ! पल दो पल का मनोरंजन ! अल्प दिन या महिनों-बरसों का सुखोपभोग ! यही 'लाभ' मानते हैं ना आप ? इसी को आप 'लाभ' मानकर चल रहे हैं ना ?

बन्धु ! ये सारे लाभ तो सध्या के रंगों की भांति पल दो पल की चमक दिखाकर गत के अंधेरे में विलीन हो जायगे। फिर पाप और सन्ताप, आधि और व्याधि में ऐसे आकंठ डूब जाओगे कि वो लाभ तुम्हारी याद के सहारे भी नहीं बन पायेंगे। परलोक में तो बांधे हुए पाप-कर्मों के उदय से तीव्र वेदना और रौद्रतम दु खो को ही भोगना होगा।

'कर्मबन्ध' यह बड़ा भारी नुकसान है', यह बात जब तक हम नहीं समझेंगे तब तक राग-द्वेष करना कम होगा ही नहीं ! कैसे-कैसे राग-द्वेष से कैसे-कैसे कर्म बंधते हैं और उन आबद्ध कर्मों के कैसे-कैसे विपाक जीवात्मा का विनाश की कगार पर ला रखते हैं, इस विषय का सर्वांगीण और गहराई से जाकर अध्ययन किये बिना, विषयराग और विषयद्वेष की आग में झुलसता मन नहीं पा सकता जिनवचन के शीतल सलिल के छिड़काव को।

श्लोक यस्मिन्निन्द्रियविषये शुभमशुभं वा निवेशयति भावम्।
रक्तो वा द्विष्टो वा स बन्धहेतुर्भवति तस्य ॥५४॥

अर्थ इन्द्रियों के जिन विषयों में रागयुक्त या द्वेषयुक्त जीव शुभ या अशुभ चित्तपरिणाम स्थापित करता है उसका वो चित्तपरिणाम कर्मबन्ध का हेतु बनता है।

विवेचन इन्द्रियों से परोक्ष यह कर्मबन्ध की बात समझायी भी कैसे जा सकती है ? इन्द्रियों को प्रत्यक्ष हो ऐसी ही बातों में मानते आग्रस्त बने व्यक्ति के गले कर्मबन्ध का तत्त्वज्ञान उतरेगा कैसे ? इन्द्रियों से परोक्ष परंतु शास्त्रप्रत्यक्ष बातों को तो मानना ही होगा। उन शास्त्रों के रचनाकार ज्ञानी एवं करुणाशील महापुरुषों पर पूरा भरोसा

रखना होगा। हाँ, कर्मबन्ध एव कर्म-उदय के सिद्धान्त को तुम तुम्हारी बुद्धि से समझने का प्रयत्न कर सकते हो।

समग्र ससार मे जी रहे अनत-अनत जीवात्माओं के सुख-दु ख की आधारशीला यह कर्मबन्ध हे। कर्मों को बाधने वाला भी जीव है और उन्हे भोगने वाला भी जीव है। वर्तमान मे जो सुख-दु.ख का अनुभव होता है उसका कारण पूर्वजन्मकृत पुण्यकर्म का उदय एव पापकर्म का उदय है। जीवात्मा स्वय ने गत जन्मो में, गत जीवन मे जो कर्म बाधे थे, उन्ही कर्मों में से कितनेक कर्म उदय में आकर तुम्हे सुख-दु ख की अनुभूति करवाते है।

वो कर्मबन्ध होता कैसे है? यह बात समझ लेना जरूरी है! जीवात्मा का चित्त-परिणाम कर्मबन्ध का असाधारण कारण है। मन के विचार ही कर्मबन्ध मे मुख्य हिस्सा रखते है। शब्द, रूप, रस-गंध और स्पर्श के असख्य विषयो में मे किसी भी विषय में जीवात्मा रागी बनती है अर्थात् उसके विचार 'यह तो अच्छा, यह तो मनपसन्द।' ऐसे बनते है, तभी कर्म उसकी आत्मा के साथ चिपक जाते है। उसी भाति द्वेषी बनी हुई जीवात्मा विषयो के लिये 'यह तो बहुत बुरा...यह तो अनचाहा .' वगैरह विचारो में गयी कि कर्म उस आत्मा को आवृत्त कर देते है।

कर्म-पुद्गलो के साथ विचारो की कितनी घनिष्टता है? विचार करने के साथ ही उपस्थित हो जाते है कर्म! आत्मा के साथ दूधपानी की भाति घुलमिल जाते है। मन के विचार ही कर्मबन्ध के प्रमुख हेतु बनते है। रागी व्यक्ति रागभरपूर विचार करेगा, द्वेषी व्यक्ति द्वेष-परिपूर्ण विचार करेगा! विचारो का विषय (Subject) होता हैं पाँच इन्द्रियो के विषयसुख!

मन से विचार करने वाला रागी हो या द्वेषी, और विचारो का विषय यदि पाच इन्द्रियो के विषयसुख है तो फिर वहाँ अनत-अनत कर्मों का बध होगा ही। जब कर्मो का बध होता है तब तो जीव को किसी भी प्रकार की पीडा का अनुभव होता ही नही, परन्तु जब वे कर्म उदय में आते है तभी वे अपना प्रभाव बतलाते है। अर्थात् रागी और द्वेषी जीवो के इष्ट और अनिष्ट विचारो का विषय (Subject)

यदि पाँच इन्द्रियों के विषय-सुख ही तो कर्मबन्ध का असाधारण कारण बनते हैं। आत्मा के साथ ये कर्म कैसे बंधते हैं, इस बात को अब ग्रंथकार एक उदाहरण के द्वारा प्रस्तुत कर रहे हैं।

कर्मबन्ध कैसे होता है ?

श्लोक स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम् ।
रागद्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवम् ॥५५॥

अर्थ चिकनाहट [तेल इत्यादि की] से लिप्त व्यक्ति के गात्र पर ज्या धूल चिपक जाती है वैसे राग और द्वेष से चिकनी [स्निग्ध] आत्मा पर कर्म चिपकते हैं।

विवेचन शरीर पर सरसों के तेल की मालीस करके खुल्ले बदन कभी बाहर घूमने निकले हो ? तालाब या बाव (Swimming Pool) में स्नान करके गीले, पानी टपकते बदन कभी तालाब के किनारे खडे रहे हो ? हवा में उडते रजकणों से तुम्हारा बदन भर जायेगा। शरीर के साथ धूल चिपक जाती है। पर उसे चिपकाने वाली तो तेल की चिकनाहट या पानी का गीलापन है।

राग और द्वेष एक तरह की चिकनाहट है। आत्मा में जब तक राग और द्वेष की चिकनाहट रहती है तब तक कर्म के पुद्गल उसे चिपकते हैं। हाँ, यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि वो पुद्गल आते कहाँ से हैं ? कहाँ से आकर चिपकते है ?

चौदह राजलोक में जहाँ भी जीवात्माएं हैं वहा सर्वत्र 'कार्मण वर्गणा' के पुद्गल रहे हुए ही हैं। बस, जीव कषायिक विचार करे, व्यक्त या अव्यक्त, तुरत ही कर्म आत्मा को चिपक जाते हैं। आत्मा के असंख्य प्रदेश राग-द्वेष की चिकनाहट से लिप्त हैं। उस कार्मण वर्गणा के पुद्गल आत्मा को चिपकते ही, ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय, अन्तराय नाम, गोत्र, आयुष्य और वेदनीय इन आठ कर्मों के रूप में परिणत हो जाते हैं। अर्थात् उस कार्मण वर्गणा के पुद्गलों में से कुछ पुद्गल ज्ञानावरण-रूप बन जाते हैं कुछ दर्शनावरण-रूप, कुछ मोहनीय-रूप इस तरह आठ कर्मों में विभाजित हो जाते हैं। जिस तरह सोने की एक लगडी (Bar of gold) में से कुछ सोने की अंगूठी

वनायी जाय, कुछ का हार वनाया जाय, कुछ को कंगन रूप मे वदल दिया जाय, वैसे! हा, सव कर्मो मे उस कार्मण वर्गणा के पुद्गल समान भाग में नही वंटते पर किसी मे अल्प या किसी मे ज्यादा। यह विभागीकरण रागी और द्वेषी जीवों के विचारो पर अवलवित रहता है। जैसे जीवात्मा के विचार! विचार करने वाली जीवात्मा को इस कर्मवध की प्रक्रिया का अहसास नही होता, चू कि यह प्रक्रिया आखों से दृश्य नही है ना! इसे देखने के लिये तो केवलज्ञान की आंखे चाहिए।

प्रतिक्षण, प्रतिसमय आत्मा के साथ कर्मपुद्गल चिपकते हैं। अनत-अनत पुद्गलो के ढेर आत्मप्रदेश मे वनते चलते है। परन्तु राग-द्वेष मे मूढ वनी जीवात्मा को इसका ख्याल सरीखा भी नही रहता है। वो तो सर तव पटकता है जव वधे हुए कर्म उदय मे आकर भयकर त्रास वरसाते हैं। शारीरिक और मानसिक वेदनाओ से उसको परेशान वना डालते है। इसलिये कर्मवध के समय जाग्रत रहे।

श्लोक . एवं रागद्वेषौ मोहो मिथ्यात्वमविरतिश्चैव।
एभिः प्रमादयोगानुगैः समादीयते कर्म ॥५६॥

अर्थ ऐसे राग, द्वेप, मोह, मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद-योगो [मन, वचन काया के] का अनुसरण करता हुआ [जीव] कर्म ग्रहण करता है।

विवेचन . कर्मवन्ध की प्रक्रिया में राग-द्वेप को असाधारण कारण वतलाकर अव और भी जो जो कारण कार्य करते है, उनका निर्देश करते हैं। हालाकि अन्य जो कारण यहाँ वतलाए जा रहे है वो सव मोहनीय के ही प्रकार हैं, पर यहाँ पर उनको अलग इसलिये वतला रहे है ताकि उन उन कारणो का अपना अलग प्रभाव वतला जा सके।

(१) **राग और द्वेष** . इन दो में क्रोध, मान, माया, लोभ का समावेश हो जाता है। ये चारो कषाय मोहनीय कर्म के ही भेद हैं।

(२) **मोहनीय** : हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुत्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसक वेद, इन नौ को 'नोकषाय' कहा जाता है। मोहनीय मे इन नोकषायो को समाविष्ट किया गया है।

(३) **मिथ्यात्व** : यह भी दर्शन मोहनीय का ही एक प्रकार है। मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय मे जीव गाढ कर्मवध करता है।

(४) **अविरति** 'अनतानुबन्धी' एव 'अप्रत्याख्यानी' कषायो के उदय के साथ यह अविरति जुडी हुई ह। पापो में अविराम प्रवृत्ति! किसी भी तरह के पापत्याग की भावना ही पैदा न होने दे! जीवात्मा को पापवृत्ति मे ही प्रेरित किया करे। इन राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्व और अविरति से ही कर्मबन्ध होता है, परन्तु ये भी मन, वाणी और शरीर के सहयोग के बिना कुछ भी नही कर सकते हैं। वो सहयोग भी कैसा? प्रमादी मन, वचन और काया का सहयोग चाहिए, तभी कर्म-बंध होता हैं।

राग-द्वेष से कर्मबंध होता है पर उसमें प्रमादग्रस्त मन वचन और शरीर के योग होते है इसलिये ही कर्मबंध होता है। इसी तरह नोकषाय, मिथ्यात्व और अविरति से कर्मबंध होता है पर प्रमत्त योगो के सहयोग मे होता है, स्वतत्र नही।

कितनी महत्वपूर्ण बात ह, ग्रन्थकार जो कर रहे हैं! रागद्वेषादि से कर्मबंध और कर्मबन्ध के कारण राग द्वेष। यानि कि राग द्वेष स्वय ही स्वय का सर्जन करते हैं। मिथ्यात्व स्वय ही स्वय को बनाता है, अविरति का उत्पत्तिस्थान अविरति ही है।

यह कैसे बनता है इसका भेद भी खोल दिया है। मन, वाणी और शरीर प्रमादी बनते हैं तब! फिर वो प्रमाद चाहे विकथा का हो या निद्रा का, मद्यपान का हो या विषयवासना का! इससे कोई फर्क नही पडता। राग-द्वेषयुक्त इन प्रमादी योगो के सहकार से ही आत्मा के साथ कर्म चिपकते ह। कर्मबन्ध होता है!

इस तरह ग्रन्थकर्ता ने कर्मबन्ध के हेतुओ का स्पष्टीकरण किया और उपसहार भी कर लिया!

भवपरपरा का मूल

श्लोक कर्ममय ससार ससारनिमित्तक पुनर्दु खम्।
तस्माद रागद्वेषादयस्तु भवसन्ततेर्मूलम ॥५७॥

अर्थ कर्म या विकार ससार हैं। ससार के कारण ही दुःख है। अत राग द्वेषादि ही भवपरपरा, ससारयात्रा के मूल हैं। ऐसा सिद्ध होता है।

विवेचन : असख्य योजन के विस्तार में एव चारगति के विभाग मे बंटा हुआ यह ससार क्या है ? यह नरकावस्था, तिर्यचावस्था, मनुष्यावस्था, देवावस्था, क्या है यह सब ? क्या यह नरकावस्था वगैरह आत्मा का स्वरूप है ? नहीं, यह सारा ससार कर्मो का विकार है।

आत्मा की विभावदशा कर्मो के कारण ही है ना ? कर्मो ने ही आत्मा की स्वभावास्था को ढाप रखा है। देवत्व हो या मनुष्यत्व, पशुत्व हो या नारकत्व, ये सारी अवस्थाएँ आत्मा की विभावदशा है। विकारी दशा है। आत्मा के साथ लगे हुए कर्मो के द्वारा उद्‌भवित विकारी दशा है। समग्र ससार कर्ममय है, चू कि समूचा ससार जीवमय है। ससार की ऐसी एक इचमात्र, एक सूत जितनी भी जगह नही कि जीवात्माएँ न हों और जीव हैं तो कर्म उसे चिपके हुए ही हैं। संसार की चार गति मे परिभ्रमणशील सभी जीव कर्मो से सलग्न है। इसलिए ही ससार कर्ममय है।

ऐसा ससार ही सभी दु:खो का कारण है। शारीरिक एव मानसिक तमाम दु खो का कारण ससार है। जीवात्मा नरक मे जाती है इस-लिए ही उसे परमाधामी के द्वारा और क्षेत्रजनित घोर पीडा का अनुभव होता है। हम नरक मे नही हैं अत हमे ऐसी किसी वेदना की अनु-भूति नही होती। वैसे ही जो जीवात्माएँ पशु-पक्षी की तिर्यचावस्था मे हैं, वो वहा की पीड़ा, वहा की वेदना का अनुभव करते हैं। मनुष्यो को वो पीडा नही भोगनी पड़ती। चू कि वे तिर्यंचगति के ससार मे नही है। वैसे तो देवलोक के देवो को भी अल्प मानसिक दु.ख की सवेदना तो होती ही है।

यह विधान एक नयी तत्त्वदृष्टि खोल रहा है। 'ससार मे सुख को खोजना छोड दो। ससार मे कही भी शुद्ध और शाश्वत् सुख है ही नही।' वैसे ही ससार की चार गति मे से किसी भी गति मे जब तक तुम जीते हो तब तक शारीरिक और मानसिक दु ख रहेगे ही। ससार मे दु खो के साथ ही जीना है। इसलिए दु.खो से डर कर गतियो की गलियो मे चक्कर लगाना छोडो। चारगति की गलियो मे कही भी सुख एव शाति नही है। कही भी दु खरहित स्थान नही है। जहा जाओगे वहा एक नही तो दूसरा दु.ख स्वागत करने तैयार ही बैठा है।

हा बदलते रहते दु खो में तरतमता के माध्यम से आश्वासन लें कि 'उस दु ख से तो यह दु ख सहना Far batter अच्छा है । यह एक अलग बात है । कही शारीरिक दु खा की अत्यधिकता तो कही मानसिक पीडाओ की पराकाष्ठा । पर है तो समूचा ससार ही कममय और कममय ससार ही दु खो का असाधारण कारण कहा गया है ।

ससार की चार गति में और चौराशी लाख यानि म जीवात्माएँ परिभ्रमणशील हैं । जन्म होता है मृत्यु होती है एक गति म से दूसरी गति म, एक जीवात्मा मनुष्य के रूप म है, मरकर वो पशु के रूप में देव के रूप में नरक के रूप म भी जनमती है । जन्म-जीवन और मृत्यु की यह अतहीन परपरा चल रही है । कौन ह इस भवपरपरा का मूल-भूत कारण ? कौन भटकाता है जीवात्माओ को इस चार गतिरूप ससार में ? वो ही राग और द्वेष । मिथ्यात्व और अविरति । मन वचन काया के योग और प्रमाद ! क्या जीवात्मा ऐसी भूल करती है ? इसका मूल कारण एक ही है अज्ञान ! जीवात्मा को इस बात का ज्ञान ही नही कि राग द्वेष वगरह करने से आत्मा के साथ कम बधते हैं और कर्मो के उदय से ससार की चारगति में विविध दु ख सहने पडत हैं । गहन अज्ञानता छायी हुई है । यदि इस अज्ञानता के बादल को चीरा जाय और ज्ञान की तेजरेखा झिलमिला उठे तब कही इन राग द्वेष मिथ्यात्व मोह वगैरह की भयकरता समझ में आ सकती ह और तब ही इन दोषो को निमू ल करन का विचार आ सकता है । इसके लिए प्रयत्न किया जा सकता है । उसके चित्त म एक विचार पदा होता है कि 'इन राग-द्वेषादि दोषो को कसे दूर किया जाय ? इन दोषो में से पैदा होते ससार परिभ्रमण को कसे रोका जाय ।'

आईए ग्रथकार स्वय ही इस जिज्ञासा को तृप्त कर रहे है स्थिर-मन से पढें ।

कर्मजाल को तोडो

श्लोक एतद्दोष महासचयजाल शक्यमप्रमत्तेन ।
प्रशमस्थितेन घनमप्युद्वेष्टयितु निरवशेषम ॥ ५८ ॥

अर्थ इन दोषों के [राग द्वेषादि और उनके कारण उत्पन्न होने कर्मों के] बडे समूह गहन ऐसी जाल का समूलोच्छेदन करना प्रमादरहित और प्रशम म स्थिर (आत्मा) के लिये शक्य है ।

विवेचन : गहन जाल मे फसा हुआ हस ! मजबूत लोह के पिजरे मे वद केसरीसिह ! जब तक उस हस और सिह को यह ज्ञान न हो कि 'मैं तो निर्बंधन हूँ, अनत नीलाकाश में उडने के लिए समर्थ हूँ, वो मेरा जीवन है ! उसी मे मेरा आनद है, मैं तो समूचे जगल का राजा हूँ, जगल, पहाड, गुफाए, मेरा स्थान है, मेरा आनद, मेरी मस्ती, मेरा मजा सब कुछ वहा है, इस पिजरे में नही। इन सलाखो के पिछे नही ! इस जाल के फन्दे मे नही ! तब तक ही उसे वो जाल और वो पिंजरा अच्छा लगता है।

अपन एक भयकर जाल मे फसे हुए है, यह वात जानते हो ? अपन यानी मैं, तुम और वो नही, अपितु समग्र ससार के अनत-अनत जीव ! हाँ, जाल बिना का मुक्त जीवन यदि नही होता तो जाल को जाल भी कहा भी नही जाता। मुक्त जीवन है, ऐसा मुक्त जीवन जीने वाली अनत अनत आत्माए भी है। उन्होने उस जाल मे से मुक्ति पायी, जाल को तोड कर वे निकल गये...कोई काल का, कोई क्षेत्र का, कोई द्रव्य का या कोई भाव का बधन उन्हे बाँध नही पाया। पूर्ण मुक्त जीवन है उनका !

कभी ललचायी निगाहो से देखा है मुक्त जीवन को ? कभी कल्पना के पखो से उडान की है मुक्त जीवन की दुनिया मे ? कभी मन अकुला उठा है इस गहन और विकट कर्मो की जाल में ? अरे, क्या इतना भी समझ पाये हो कि 'मैं राग द्वेष आदि अनत अंनत कर्मो की जाल मे फँसा हूँ ?' सर्वप्रथम तो यह समझ स्पष्ट हो जानी चाहिए। पर हाँ, इस समझ के आने पर भी यदि जीवात्मा निराश बन जाये......मायूस बन जाय कि 'हाय कितनी मजबूत है यह जाल ! अपन कैसे तोड सकते हैं इस जाल को ? अच्छा, तो फिर इस जाल मे फसे हुए ही जीवन वितायेगे और फिर खाना, पीना, पहनना, ओढना, बिछाना, रहने का, घूमने का सब कुछ यहा भी तो मिलता ही है ना !' इस तरह यदि जीवात्मा जाल मे जीना ही स्वीकार ले तो फिर वो कुछ भी संकल्प इस जाल को तोडने के लिए नही कर सकता। जाल को तोडने के उपाय भी वो नही सोचेगा। वो तो बस, इस जाल मे ही कैसे जम जाना, इसी की कल्पनाएँ, योजनाएँ, बनाता रहेगा।

जाल को कहाँ से काटना ? जाल में से कैसे मुक्त बनना ? क्या प्रयत्न करना ? इसका कोई विचार वो नहीं कर पाएगा। फिर तो वो इस जाल को तोड़ने से रहा !

मैं अनंत दोषों की, अनंत कर्मों की जाल में बंधा हुआ हूँ, फँसा हुआ हूँ' यह विचार उसी जीवात्मा को आ सकता है जो कि प्रशमभाव में स्थिर है। उसके अन्तरंग दोष क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि शान्त बैठे हों। इन्द्रियों की विषयानुकूल दौड़धूप जरा कम हो चुकी हो। निद्रा, आलस्य, विषयभोग और अर्थहीन बातों से मन वाणी और शरीर के योग अल्प समय के लिए भी सुषुप्त बन चुके हों। शान्त बन चुके हों।

मन प्रशमरस में निमग्न हो, वाणी मौन में परावर्तन पा चुकी हो और शरीर स्थिरता को प्राप्त कर चुका हो, तब कहीं उस अदृश्य जाल की कल्पना आ सकती है। उस जाल में जैसे स्वयं की आत्मा दिखे, वैसे अनंत अनंत जीवात्माएँ उसकी निगाहों में आ जायँ और जाल को तहस नहस करके मुक्त बनकर जीने वाली अनंत अनंत सिद्धात्माओं की ओर वो भावविभोर नजरों से देखता रहे। उसका मन शीघ्र ही योजना बनाना चालु कर दे जाल को तोड़ने की और मुक्त बनने की। योजना बनाकर वो कार्य प्रारंभ करदे, पुरुषार्थ प्रारंभ करदे।

जाल को तोड़ने के लिए जाल को पहचानना जरूरी है। वो जाल किसकी बनी है ? किस तरह गूंथी हुई है ? कैसे वो गहन बनती चली जाती है ? कहाँ से उसे तोड़ा जा सकता है ? वगैरह दोषों की एवं कर्मों की जाल को जीवात्मा बराबर पहचान ले। स्वयं को यदि जानकारी न हो तो जाल में रहे अन्य समझदार और जाल को पहचानने वालों का सहयोग लेकर, उनका मार्गदर्शन लेकर वो प्रयत्नशील बने। घर बनाना है ! पर कैसा बनाना ? कहाँ बनाना ? कैसे बनाना ? वगैरह की समझ जिन्हें नहीं होती है वे लोग अभियन्ता [Engineer] के पास जाकर उनसे विचार विमर्श करते हैं। सलाह-सूचना लेते हैं, उन्हें पैसे देकर योजना plan वगैरह प्राप्त करते हैं।

कर्मों की जाल को, इसकी रचना को, इसकी विशेषताओं को समझाने वाले बुद्धिमान पुरुष अपने समीप ही हैं। इसकी जानकारी

एवं इसका व्यवस्थित विवरण देनेवाले ग्रन्थ भी हमें इस जाल में ही मिल रहे हैं। फिर क्यों न अप्रमत्त बनकर, प्रशमरस मे लीन बन कर, यह सब करना प्रारभ करे ? ताकि सफलता हमारे कदम चमे !

आत्मसाधक की तेरह विशेषताएं

श्लोक : अस्य तु मूलनिबन्धं ज्ञात्वा तच्छेदनोद्यमपरस्य ।
दर्शनचारित्रतप स्वाध्यायध्यानयुक्तस्य ॥ ५६ ॥

प्राणवधानृतभाषणपरधनमैथुनममत्वविरतस्य ।
नवकोट्युद्धमशुद्धोञ्छमात्रयात्राधिकारस्य ॥ ६० ॥

जिनभाषितार्थसद्भावभाविनो विदितलोकतत्वस्य ।
अष्टादशशीलांगसहस्रधारिण कृतप्रतिज्ञस्य ॥ ६१ ॥

परिणाममपूर्वमुपागतस्य शुभभावनाध्यवसितस्य ।
अन्योन्यमुत्तरोत्तरविशेषमभिपश्यत: समये ॥६२॥

वैराग्यमार्गसंस्थितस्य संसारवासचकितस्य ।
स्वहितार्थाभिरतमतेः शुभेयमुत्पद्यते चिन्ता ॥६३॥

अर्थ : इसका (दोष समूह के जाल का) मूल कारण जानकर (१) उसके उच्छेदन हेतु उद्यत बने हुए को, (२) दर्शन, चारित्र-तप-स्वाध्याय और ध्यान से युक्त को, (५६)

(३) हिंसा-असत्यवचन-परधनहरण-मैथुनसेवन और परिग्रह से विरक्त को (४) नवकोटि शुद्ध, उद्गम शुद्ध और उछवृत्ति से यात्रा का (सयमयात्रा का) जिन्हे अधिकार है उनको, (६०)

(५) जिनकथित अर्थ के सद्भाव से भावित होने वाले को (६) लोकपरमार्थ के ज्ञाता को (७) अठारह हजार शीलाग के धारक एव उसका पालन करने की जिन्होने प्रतिज्ञा ली है उनको, (६१) (८) अपूर्व परिणाम (मन के) प्राप्त करने वालो को, (९) शुभ भावनाओ (अनित्यादि एव पाँच महाव्रतो की वगैरह) के अध्यवसाय वालो को, (१०) सिद्धान्त मे परस्पर एक दूसरे से विशेष (श्रेष्ठ) के भावज्ञान से देखने वालो को [६२]

(११) वैराग्य मार्ग में रहे हुए को (१२) संसारवास से त्रस्त बने हुए को (१३) स्वहितार्थ मुक्तिसुख में जिनकी बुद्धि अभिरत है उनको-यह शुभ चिन्ता पैदा होती है [६८]

विवेचन राग द्वेष वगैरह दोष एवं तद्जन्य कर्म, इन दोषों और कर्मों के तानों बानों (Warps and woofs) में गूंथी हुई जाल को समझ लेना जरूरी है। जाल कैसे गूंथी हुई है और वह कैसे टूट सकती है यह समझना अति आवश्यक है। अपनी जानकारी और समझ ऐसी होनी चाहिए कि आत्मा में उस जाल को तोड डालने का उत्साह जगे। 'मैं इस जाल को काट दूं।' जिनके मन में जाल में से मुक्त बनने का, अनंत ज्ञानाकाश में मुक्त मन से उडने की उत्कंठा जगे तडपन पैदा हो, फडफडाहट जगे उन जीवात्माओं का व्यक्तित्व कैसा निखरता है, उसका स्पष्ट चित्रण यहां किया गया है। तेरह विशेषताओं से महान् उस व्यक्तित्व का विश्लेषण यहां करेंगे। ऐसे अद्भुत व्यक्तित्व को धारण करने वाले उत्तम पुरुष के मन में एक चिन्ता पैदा होती है, पर उस चिन्ता को बताने से पूर्व इन पांचों श्लोकों के माध्यम से ग्रन्थकार उस साधक आत्मा की तेरह विशेषताएं जो बता रहे हैं, वो अपन जरा देखें।

१ महाजाल का उच्छेदन करने के लिए उद्यमशील

महाजाल को जान कर निष्क्रिय बना बैठा न रहे, न तो प्रमाद से और नहीं भय से। देखते हैं 'क्या जल्दी है जब पुरुषार्थ करेंगे तब इस जाल को काट छांट कर ' ऐसी बड़ी बडी बातें कर के इसी महाजाल में आराम से बैठे रहना प्रमाद छोडना नहीं आलसी बने रहना ऐसे व्यक्ति भला, कैसे इस जाल को काट सकते हैं? वैसे ही भय से 'अरे बाबा यह महाजाल अपन अकेले कैसे काट सकते हैं? अपन तो दुर्बल अपन तो यथाशक्ति धर्माराधना करते हैं, बाकी तो संसार में जितना भटकना होगा उतना तो भटकना ही पडेगा।' यदि ऐसे निमाल्य विचारों में उलझ जाय तो भी वह जाल को कभी काट नहीं सकता।

जाल को वही मनुष्य तोड सकता है, काट सकता है जो कि प्रमाद को मन में या तन में जरा भी घुसपैठ नहीं करने देता। महाजाल का

काटने के धर्मपुरुषार्थ मे आने वाले विघ्नों से डरता नही है, भयो मे भ्रमित नही हो जाता है। आन्तर उत्साह विघ्नो की गिनती करता नही है। उत्साह से भरापूरा वो महामानव ऐसे आलसी और डरपोक मनुष्यों की वातो पर कान धरता ही नही। क्या श्रमण भगवन्त महावीर स्वामी को श्रावस्ती की ओर आगे बढते देखकर गाँव के लोगो ने चेतावनी नही दी थी कि 'महात्मन्, इस रास्ते से मत जाईए, इधर गया हुआ कोई भी वापस नही आया, इस रास्ते पर एक भयकर नागराज रहता है, जिसकी एक नजर ही जलाकर राख कर देती है।' क्या महावीर ने उनकी वातो पर ध्यान दिया था? नही, उसी रास्ते से महावीर गये। सर्प मिला भी सही, दश भी दिया, फिर भी चंडकौशिक महावीर के देह को न तो जला सका, नही भस्मसात् कर सका। महावीर की करुणा ने उसके गुस्से को पानी पानी कर दिया! जरा स्मृति की दीवारो पर लाईये, उन महामुनि नदिषेण का चित्र!

मगध का राजकुमार! श्रेणिक का लड़का और धारिणी का इकलौता वेटा! भगवान महावीर की करुणामयी वाणी ने उसकी सुषुप्त चेतना को झकझोर दिया। उसने अपनी आत्मा को अनत-अनंत दोष एवं कर्मो की जाल मे फसी हुई देखी! 'काट डालू इस जाल को... निर्वन्धन एव निरावाध वन जाऊ!' जाग उठी आतर वेदना। देवी ने आकर कहा. 'नदिषेण, अभी तुझे सांसारिक सुखोपभोग करना है, तू जल्दवाजी मत कर, चारित्र के मार्ग पर चलने की।' नदिषेण कहा मानने वाले थे? 'चाहे कोई भी कर्म आये, मैं डटकर सामना करुंगा, मैं अनत-अनंत शक्ति का स्रोत हू।' नदिषेण ने उस महाजाल को काट छांट कर तहस-नहस कर डालने के लिये कमर कस ली। श्रमण भगवान महावीर के चरणो में उनके ही शिष्य वनकर प्रवल पुरुपार्थ प्रारभ कर दिया। उस प्रवल पुरुपार्थ का स्पष्ट चित्रण ग्रन्थकार महर्षि कर रहे है।

२. दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप-स्वाध्याय और ध्यान से युक्त :

'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' तत्त्व और अर्थ की श्रद्धा वही सम्यग्दर्शन है। यदि तुम्हे सम्यग्दृष्टि वनना है तो तत्त्व एवं तत्त्वो के अर्थो को जानना होगा। दोनों पर श्रद्धा रखनी होगी। श्रमण भगवान महावीर ने तीन प्रकार के तत्त्व वतलाये हैं : हेय, ज्ञेय और उपादेय।

त्याग करने योग्य, जानने योग्य और स्वीकार करने योग्य। भगवत ने छोडने का, जानने का और स्वीकारने का अर्थ समझाया। मुनि नदिषेण ने उसका बुद्धिपूर्वक स्वीकार किया। कर्मो की महाजाल को तोडने के लिये यह तो करना ही होगा। नदिषेण ने किया। राजमहल, वैभव-विलास और सासारिक विषयोपभोग-सब कुछ त्याग दिया। मनने भी इन सबका त्याग दिया। उन्हो ने आत्मतत्त्व को जाना। उस परम तत्त्व को पाने के लिये उन्हो ने चारित्र अगीकार किया। तपश्चर्या की, ज्ञानोपासना प्रारभ की और ध्यान की गहराइयो मे खो गये। यह है सच्चा अर्थ इन सबका। अध बनकर या सम्मूच्छिम मनरहित बनकर यह सब नही करना है, खुल्ली आखो और सतत जागृति के साथ यह पुरुषार्थ करने का है। ताकि हेय जो है वह उपादेय न लगेगा, उपादेय जो है वह हेय नही लगेगा, ज्ञेय का ज्ञान स्मृति मे रहेगा।

चारित्र अगीकार करना यानी दृढ प्रतिज्ञापूर्वक पापो के त्याग का जीवन अगीकार करना। 'हे भगवत, मैं सामायिक चारित्र का स्वीकार करता हू, सारे सावद्य पापमय भोगो का त्याग करता हू, जीवन पर्यत ये सारे पाप न मैं स्वय करु गा, न मैं औरो से करवाऊगा और नहीं करते हुए का अनुमोदन करु गा। मन से, वाणी से और कर्म से नही करु गा ये सारे पाप।' ऐसी प्रतिज्ञा से बद्ध होकर वो महात्मा निष्पाप जीवन जीने का अभ्यास करता है। पाच महाव्रतो को धारण करता है। रात्रिभोजन नही करता है, पदयात्रा करता है, साधु जीवन की कठोर साधना मे जुडा रहता है, उत्तरोत्तर आत्म विशुद्धि करती हुई जीवात्मा 'यथाख्यात चारित्र' को प्राप्त करती है। चारित्र की उत्तरोत्तर पांच विकास भूमिकायें बतायी गयी है

(१) सामायिक चारित्र (२) छेदोपस्थापनीय चारित्र (३) परिहार विशुद्धि चारित्र (४) सूक्ष्म सपराय चारित्र (५) यथाख्यात चारित्र।

चारित्रधर्म की आराधना मे तप का स्थान अनूठा है। बाह्य और अभ्यन्तर बारह प्रकार की तपश्चर्या बतलायी गयी है। अनशन, उनादरी, वृत्तिसक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश और सलीनता (शरीर-गोपन) ये सारे बाह्य तप हैं, जबकि प्रायश्चित, ध्यान, वैयावृत्य, विनय, कायोत्सर्ग और स्वाध्याय-ये छह हैं अभ्यन्तर तप।

चारित्र-धर्म की जान है स्वाध्याय। पाँच प्रकार के स्वाध्याय मे आत्मा लीन बनी रहती है। विनयपूर्वक गुरुचरणो मे बैठकर 'वाचना' ले। अप्रमत्त एव एकाग्र चित्त से वाचना ले। सूत्र एवं अर्थ को ग्रहण करे। किसी भी तरह का प्रश्न उस समय न करे जब वाचना ले रहा हो। तत्पश्चात् सूत्र को याद करे, अर्थ पर चिंतन करे। उस में कोई प्रश्न पैदा हो तो गुरुदेव के पास जाकर उसका विनयपूर्वक समाधान पूछे। समाधान प्राप्त करके अर्थनिर्णय की अवधारणा करे। सूत्र और अर्थ कही भूल न जाये इसलिए परावर्तन करे, प्राप्त सूत्रार्थ को मूल्य-वान रत्नो की भांति सहेज कर रखे। बाद मे सूत्रार्थ पर अनुप्रेक्षा करे। मात्र शब्दार्थ मे ही न उलझकर उसके ऐदंपर्यार्थ तक पहुँचने की कोशिश करे। शब्द के वक्ता, लेखक एव कथक के आशय को समझने का प्रयत्न करे। वे शब्द किस अपेक्षा से कहे गये है, वो अपेक्षा समझे। किस नय से कहे गये है वो जाने। जब उसे इस सूत्रार्थ के गहन चिंतन से रहस्यभूत तत्त्व मिलते जाये तब फिर 'धर्मकथा' के द्वारा योग्य भव्य जीवो को विवेकपूर्वक ज्ञानदान करे। इस स्वाध्याय की पाँचो भूमिकाओं की आदरपूर्वक आराधना करे। वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा। दिन और रात के चौबीस घन्टो मे से १५ घन्टे तो पाँच प्रकार के स्वाध्याय मे बीते। उसे इस ज्ञान-साधना के द्वारा जो अपूर्व आनन्दानुभूति होती है, उसको शब्दो मे बाधना शक्य नही।

ज्ञान के बिना ध्यान नही और ध्यान के बीना केवलज्ञान नही। मुनिजीवन मे ध्यान अनिवार्यतया चाहिए। आर्तध्यान और रौद्रध्यान त्याज्य हैं, ये अशुभ ध्यान हैं। अशुभ ध्यान से बचने के लिये शुभ ध्यान होना ही चाहिए। यदि तुम्हारे पास धर्मध्यान नही है तो तुम्हारा मन अवश्य आर्तध्यान या रौद्रध्यान मे चला ही जायेगा।

धर्मध्यान के चार प्रकार बतलाये गये हैं, अर्थात् धर्मध्यान मे विविधता मान्य की गयी है। आखिर तो मानव मन [Human mind] है ना? उसे विविधता तो चाहिए ही। मन जैसे भिन्न-भिन्न अशुभ विचारो मे–ध्यानो मे भटकता है, उसे यदि शुभ विचारो मे, शुभ ध्यानों मे जोड़ दिया जाये तो वह शुभ ध्यान की विविधता में ही खेलेगा। धर्मध्यान के चार प्रकार इस तरह है :

१ आज्ञा विचय २ अपाय विचय ३ विपाक विचय ४ संस्थान विचय। एक बात याद रखनी होगी कि ये ध्यान के प्रकार हैं, विचारों के नहीं। मात्र विचार करना, वो ध्यान नहीं है। मन जब किसी एक विषय पर एकाग्र बन जाता है, तन्मय बन जाता है, तब ध्यान बनता है। अशुभ विचार अलग है और अशुभ ध्यान अलग है। यह भेद अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। ठीक वैसे ही शुभ विचार अलग और शुभ ध्यान अलग। स्वाध्याय में शुभ विचार होते हैं, ध्यान इसके बाद की भूमिका है।

१ जिनाज्ञा का ध्यान २ हिंसा, असत्य इत्यादि पापों के नुकसानों का ध्यान ३ पुण्यकर्म, पापकर्म के विपाकों का ध्यान और ४ समग्र चौदह राजलोक का ध्यान। यह ध्यान प्रारंभ में विचयरूप होने से अर्थात अनुचिंतन रूप होता हैं, अर्थनिर्णयरूप होता है, धीमे-धीमे वो एकाग्र चित्तरूप बन जाता है।

'विचयस्तदर्थनिर्णयनम्' इन्ही ग्रंथकार ने 'विचय' शब्द की परिभाषा की है 'अर्थनिर्णय'। जिनाज्ञा का अर्थनिर्णय करके उसके ध्यान में प्रवेश करने का। हिंसादि दोषों के नुकसानों का आत्मसाक्षी से निर्णय करने का और उसके ध्यान में तन्मय बनने का। कर्मों के विपाकों का ज्ञान अपने पास होना ही चाहिए। चूंकि उसका अर्थनिर्णय करके उसमें ध्यानस्थ बनना है और चौदह राजलोक के स्वरूप का चिंतन करते करते उसमें लीन हो जाना है।

यद्यपि धर्मध्यान की ये चारों भूमिकाएं विशेषतया चिंतनप्रधान है, परन्तु साधक को चिंतन में से ध्यान में जाना ही चाहिए। तो फिर कभी भी वह शुक्लध्यान में प्रवेश पा सकता है। अत्यंत विशुद्ध आशयवाली आत्मा ही शुक्लध्यान में प्रवेश पा सकती है। उसके भी चार प्रकार हैं

१ पृथक्त्व-वितर्क-सविचार २ पृथक्त्व-सवितर्क-अविचार ३ सूक्ष्मक्रिया अनिवृत्ति और ४ व्युपरतक्रिया-अनिवृत्ति।

साधनाकाल की पूर्वभूमिका में रही हुई जीवात्माओं को धर्मध्यान में पुनः पुनः जाने का प्रयत्न चालु रखना चाहिए। इस तरह १ कर्मों

की महाजाल को काटने में तत्पर २. सम्यग्दर्शन युक्त ३. चारित्रवत ४, तपस्वी ५. स्वाध्यायशील और ६. धर्मध्यानी महात्मा के चित्त मे एक चिता पैदा होती है। वो चिंता भी अपूर्व है। असख्य चिताओ को चूर-चूर कर देने वाली है यह चिता। वो चिता कौन सी है? यह जानने से पहले वो चिता जिन्हे पैदा होती है, उनकी कुछ विशेषताओं के बारे मे और ज्यादा सोचना है।

३. हिसा - असत्य - परधनहरण - मैथुन - ममत्व से विरक्त :

१ हिसा यानी कि **प्राणवध**। **"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा"** प्रमाद से त्रस और स्थावर जीवो की हिसा से जो महात्मा विराम पा चुके है उनके चित्त मे एक आत्म-चिता पैदा होती है। जिस प्रमाद से हिसा होती है उस प्रमाद के प्रकार ८ है। (१) अज्ञान (२) सशय (३) विपर्यय (४) द्वेष (५) स्मृतिभ्रंश (६) योगदुष्प्रणिधान (७) राग और (८) धर्म का अनादर। इन आठ प्रमादो से जो मुक्त होते है, मन, वाणी और वर्तन से विरक्त होते है, उन्हे 'अप्रमत्त' कहते है।

२. जिसका अस्तित्व है उसका इन्कार करना। जिसका अस्तित्व नही है उसका प्रतिपादन करना। जो पदार्थ जैसे हैं उसके विपरीत उसका स्वरूप कथन करना और पापप्रेरक वाणी वोलना, उसको असत्य भाषण कहते है, मृषावाद कहते है। जो प्रिय, पथ्य और तथ्य नहीं बोलते है वे मृषावादी होते हैं। सच्ची बात भी अप्रिय हो तो नही बोलनी चाहिए। सच्ची बात भी अहितकारी हो तो नही कहनी चाहिए। बोलने में जो महापुरुष इतने जाग्रत रहते है वे ही **मृषावाद-विरमण महाव्रत** के धारक कहलाते है।

३. चोरी करने के आशय से औरो के धन को अपना बना लेना, उसे परधनहरण कहते है। अदत्त का ग्रहण करना ही चोरी है। जो वस्तु जिसकी है उसकी इजाजत के बिना लेना, देने वाले की इच्छा न हो फिर भी लेना। तीर्थंकरों ने जिसकी मना की हो ऐसी वस्तु ग्रहण करना और गुरु की अनुमति के बिना जड़चेतन पदार्थों को ग्रहण करना, उसे चोरी कहते हैं। मोक्षमार्ग का यात्री साधक आत्मा ऐसी चोरी का त्याग करने वाला होता है।

४ स्त्रीवेद - पुरुषवेद या नपु सक वेद के उदय से वासना विवश बने जीव जो मैथुनक्रिया करते है, उस मैथुन क्रिया का त्याग करके ज्ञानी अपने वेदोदय को अकुशित रखता है। वेदोदय के सामने जूझता है।

५ ममत्व यानी परिग्रह। 'यह मेरा धन है मैं इस सपत्ति का मालिक हू।' इसी का नाम ममत्व। 'मूर्च्छा परिगह' मूर्च्छा यानी ममत्व। जो धन धान्यादि स्वय के पास नही है, उसकी ममता भी परिग्रह है। मुनिराज इस परिग्रह के त्यागी होते है। अत उनके प्रशम-सुख को बाधा नही पहुँचती। उनकी अगम अगोचर मस्ती मे तनिक भी विक्षेप नही होता, अन्यथा तो यह ममत्व, यह परिग्रह मुनि की शान्ति को, समता को, प्रसन्नता का तहस नहस कर दे। मुनि तो अपने शरीर के प्रति भी ममत्वरहित होते हैं। यह शरीर भी मेरा नही है, शरीर से भिन्न मैं आत्मा हू।' यह सत्य उनकी रग-रग मे व्याप्त होता है, इसलिए मुनि हर समय और हर स्थान मे सममना बने रहते हैं। इन पाच महाव्रतो का धारण करने वाले साधक रात्रिभोजन के भी त्यागी होते है। तीर्थकरो ने रात्रिभोजन का निषेध किया है। वो यदि करते है तो तीर्थंकरअदत्तरूप पापकर्म का बध होता है।

४ नवकोटि शुद्ध, उद्‌गम शुद्ध और ऊछवृत्ति से ससारयात्रा का अधिकारी

रसना के लपट जीवो के लिये तो मोक्षमार्ग की आराधना है ही नही। मोक्षमार्ग की उन्नत सीढियाँ चढते हुए मुनि जो कि प्रबल मनोबल वाले होते हैं, वे रसनेन्द्रिय के कैसे विजेता होते है, सयमजीवन के पालन में उपयोगी ऐसी भिक्षा वे कैसे ग्रहण करते हैं, वो बात यहा ग्रथकार कर रहे है। मुनि को 'नवकोटि शुद्ध' भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए अर्थात नव अश से वे भिक्षा की शुद्धि की जाच करते हैं।

१ भोजन हेतु श्रमण स्वय किसी भी त्रस स्थावर जीव की हिंसा करे नही।

२ दूसरो के द्वारा ऐसी हिंसा करवायें नही।

३ उसके भोजन हेतु अन्य कोई हिंसा करता हो तो उसमे अपनी अनुमति दे नही।

४. मुनि अपने लिये या औरो के लिए भोजन पकाये नही।
५. दूसरो के द्वारा पकवाये नही।
६. कोई पकाता हो तो उसकी अनुमोदना करे नहीं।
७. मुनि भोजन खरीदे नही।
८. दूसरो के द्वारा खरीदावें नही।
९. यदि कोई खरीदता भी हो तो उसकी अनुमोदना करे नही।

इस तरह पूर्णता की पगदडी पर चल रहे सावको को भिक्षा न भी मिले तो वे मन में उद्विग्न नही होते हैं। दो विभागों मे इन नौ अगो को वाट दिये गये है। प्रथम अग अशुद्ध है, वाद के ३ अंग शुद्ध है, अर्थात् पहले वाले ६ अशो से तो भिक्षा ग्रहण करे ही नही, विशेप परिस्थिति मे अन्तिम ३ अंगों से भिक्षा ग्रहण की जा सकती है। पहले के ६ अंगो को 'अविशुद्ध कोटि' कहा जाता है, वाद के ३ अगो को 'विशुद्ध कोटि' कहा गया है।

'उद्गमशुद्ध' भिक्षा यानी 'आधाकर्म' इत्यादि सोलह दोपो को टालकर लाई गयी भिक्षा। आत्मशुद्धि की जागृति वाला साधक गृहस्थो के घर से ज्यो त्यो भिक्षा उठाकर न लाये, परन्तु गृहस्थ के घर मे पड़ी हुई खाद्य सामग्री के वारे मे विचार करे . 'यह भोजन किसके लिये वनाया गया होगा ? यह विशिष्ट वस्तुएं क्यो वनायी गयी हैं ? इतने प्रमाण में क्यो वनायी गयी है ?' दाता को प्रश्न पूछ कर सत्य को समझने का प्रयत्न भी करे। जाच पड़ताल करने के वाद उसे योग्य लगे तो भिक्षा ग्रहण करे।

उसी तरह श्रमण हर कोई दाता से भी भिक्षा न ले। देने वाला कौन है, उसका भी मुनि पूरा विचार करे। देने वाले को शारीरिक या मानसिक कष्ट न हो, उसका पुरा ख्याल रखे। अर्थात् मुनि उत्पादन के १६ दोपो को टालकर भिक्षा ग्रहण करे। 'ऊंछवृत्ति' का अर्थ है किसी को भी पीडा दिये विना भिक्षा ग्रहण करना।

५. जिनकथित अर्थ के सद्भाव से भावित :

'जैसे सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा ने अर्थ कहे और गणवरो ने सूत्रवद्ध किये, उसी तरह यह जीव, अजीव. आश्रव, सवर, वध, निर्जरा और

मोक्ष तत्व है।' इस प्रकार की मान्यता को कहते है सदभाव। धर्मतीर्थ की स्थापना करते हुए अनन्त कारुणिक परमात्मा तीर्थंकर देव सर्व प्रथम गणधरो को त्रिपदी देते है। 'उप्पनेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा' इस त्रिपदी को ग्रहण करके गणधर द्वादशांगी की रचना करते हैं। यह रचना किसी ताडपत्र या कागज पर नही होती है परन्तु वो रचना होती है मानसपटल पर। गणधरो की आत्मा मे स्वयभूज्ञान का, श्रुत ज्ञान का सागर हिलोरे लेता है। तीर्थंकर अपने पूर्णज्ञान मे उस श्रुतादधि को देखते है और उसे प्रमाणित करते है।

प्रत्येक द्रव्य में पूर्णज्ञानी परमात्मा ने उत्पत्ति, स्थिति और लय का विज्ञान देखा। उसे द्रव्य नही कहा जाता जिसमे उत्पत्ति, स्थिति और लय न हो। द्रव्यार्थिक नय से द्रव्य की ध्रुवसत्ता बतलायी और पर्यायार्थिक नय से उत्पत्ति और लय बतलाया। बाहर से नित्य और स्थिर दिखते द्रव्य में उत्पत्ति और नाश की प्रक्रिया चलती रहती है। उस प्रक्रिया को सर्वज्ञ प्रत्यक्ष देखते है, छद्मस्थ शास्त्र से और अनुमान से मानते हैं।

जिनशासन के पदार्थविज्ञान का बुनियादी सिद्धान्त है उत्पत्ति स्थिति और लय। आत्मद्रव्य नित्य है आत्मा के पर्याय अनित्य है। पर्यायो की उत्पत्ति होती है और नाश होता है। पर्याय का अर्थ है अवस्था। मनुष्यत्व आत्मा की एक अवस्था है। वो उत्पन्न हुई है और वो नष्ट भी होगी। वही आत्मा जब देव बनती है तो देवत्व की अवस्था उत्पन्न होती है और उसका भी नाश होगा ही। अरे, सारे कर्मो को जलाकर आत्मा सिद्ध, बुद्ध मुक्त बन जाय, वहा पर भी उत्पत्ति स्थिति और लय का विज्ञान तो होता ही है। आत्मा नित्य है, परन्तु ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग मे उत्पत्ति और लय चलते रहते है।

ज्यो आत्मद्रव्य में उत्पत्ति, स्थिति और लय का सिद्धान्त अपन ने देखा वैसे ही अजीव द्रव्य में भी यह सिद्धान्त अवस्थित है। अजीव जड द्रव्यो मे परमाणु नित्य अश हैं पर उसकी अवस्थाए अनित्य अश हैं। अवस्थाए बदलती रहती हैं इस तरह धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय इन पाच अस्तिकायो की मान्यता उत्पत्ति, स्थिति और लय के सिद्धान्त की समझ के साथ

होनी चाहिए। यह समझ, यह ज्ञान 'जिनवचन' विषयक श्रद्धा को पुष्ट बनाती है। हृदय की पुकार **'तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहि पवेइयं।'** वही सच और निशक है जो जिनेश्वर परमात्मा ने कहा है।' बनकर गूंज उठती है।

जिनोक्त तत्त्व-व्यवस्था और पदार्थविज्ञान के ज्ञान के बिना जिन-वचन पर तात्त्विक श्रद्धा प्रगट होगी ही नही। जिन महात्माओ के हृदय मे ऐसी श्रद्धा प्रगट होती है वे आत्मनिष्ठ बनते चलते है और आत्म-विकास की योजना बनाते रहते है। 'वे जग में जोगीसर पुरा चढते नित्य गुणठाणे' के शब्द उन्ही की आतर अवस्था के सूचक है!

६. लोक के परमार्थ को जानने वाले :

लोक यानी जनसमूह नही परन्तु जीव और अजीव, जड़ और चेतन का आधारभूत क्षेत्र। **'लोक'** शब्द का प्रयोग क्षेत्र के अर्थ में हुआ है। इस 'लोक' की ऊंचाई है **चौदह राज**। 'राज' यह एक प्रमाण सूचक (Sense of measurement) शब्द है। इस माप का अपना एक बृहद् शास्त्र है। **'चौदह राजलोक'** यह जैन परिभाषा का महत्वपूर्ण शब्द है।

इस चौदह राजलोक मे स्वर्ग है, नरक है, असख्य द्वीप और असख्य समुद्र समाविष्ट है। मानव, पशु-पक्षी और कीटाणुओ का समावेश भी इन्ही चौदह राजलोक मे हुआ है। चौदह राजलोक के बाहर जीवसृष्टि है ही नही। वहा है मात्र अलोक-अवकाश! अनन्त अवकाश। चौदह राजलोक मे ऐसी कोई सूक्ष्म जगह भी नही है जहा अपने जीव ने जन्म-मरण न किये हो। देव-मानव- तिर्यच और नरक, चारो गति मे अपन जन्मे है और मरे है। आधि-व्याधि और उपाधि से भरे इस चौदह राजलोक की सृष्टि मे कही भी शाश्वत् सुख नही है, अनत शाति नही है या अविनाशी स्थिति नही है। जन्म-जीवन और मृत्यु का अनादि-कालीन चक्र प्रतिपल गतिमान है।

मनुष्याकृति वाला यह चौदह राजलोक प्रमुखतया ३ विभागो में बटा हुआ है। १ उर्ध्वलोक २ मध्यलोक और ३ अधोलोक। उर्ध्व-लोक मे ज्योतिष्चक्र के देव, वैमानिक देव, ग्रैवेयक देव और अनुत्तरवासी देव समाविष्ट है। मध्यलोक मे मनुष्य और तिर्यच रहते हैं। जबकि अधोलोक मे सात नारकी बनी हुई है। अपनी आतमा अनादि काल से

इस समग्र लोक मे परिभ्रमण कर रही है, अनत अनत आत्माए परिभ्रमण कर रही ह।

इस तरह चादह राजलाक का चितन पारमार्थिक दृष्टिकोण से करना चाहिए। पारमार्थिक दृष्टि से चितन करने से परिभ्रमण की निरथकता समझ मे आयेगी और उस परिभ्रमण को बद करने का शुभ मनारथ पदा होगा। चौदह राजलोक के ऊपर स्थित सिद्धशीला की आर नजर उठेगी। वहा पहुँचे हुए और सदाकाल के लिये वही बसे हुये अनत अनत पूण आत्माग्रा के प्रति अनुरक्ति पैदा होगी। उनकी दिव्य आत्मज्याति मे ज्योतिस्वरूप बनकर विलीन बन जाने की तीव्र तमन्ना पैदा होगी। अनत अनत जन्मा मे अनत बार भोगे हुए सुखो को पुन पुन भोगने की आकाक्षाए मृतपाय बन जायेंगी।

अनित्य, अशरण इत्यादि बारह भावनाओ मे 'लोकस्वरूप' भी एक भावना है। इन बारह भावनाओं का प्रतिदिन माक्षमाग का साधक आत्मा खूब आत्मसात करता रहे। यह वक्तव्य बतलाया गया है मुनिवरा के लिये। इस लोकस्वरूप का चितन करने से मुनि की दृष्टि विशाल बनती है। चौदह राजलोकव्यापी बनती है। इसलिये महात्माओ को ससार के प्रति किसी भी प्रकार का कौतूहल नही रहता है काई आकर्षण पदा नही हाता है। अनत अनत जन्मा मे जो देखा है समझा है भोगा है, उसका आकर्षण क्या? उसका कौतूहल क्या? विरक्त और अनासक्त बना हुआ योगी चौदह राजलोक के चितन म से आत्मचितन की गहराईया म उतर आता है और अपने आप म ही वो चौदह राजलोक का दशन करता है।

७ अठ्ठारह हजार शीलांग का धारक और उनके पालन की प्रतिज्ञा करने वाला

'शीलाग' यानी चारित्र क अग। 'शील यानी 'चारित्र' आर 'अग' यानी अश। चारित्र धम के १८ हजार अग है। १८ हजार अश हैं। ये अश चारित्रधम के हेतु भी बन सकते हैं। जा महात्मा विशुद्ध अध्यवसाय में स्थित हैं, जो भावश्रमण की भूमिका पर है वे इन अठ्ठारह हजार अशो के भव्य रथ में आरूढ होते हैं।

१८ हजार शीलांग का विवरण —

१० यतिधर्म [क्षमा, मृदुता, सरलता, मुक्ति, सयम, तप, शौच, सत्य, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य]
× ४ सज्ञा [आहार, भय, मैथुन, परिग्रह]

४०
× ५ इन्द्रिय [स्पर्श, रस घ्राण, चक्षु श्रोत्र]

२००
× १० काय [पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रि०, चतु० पचे० अजीव (वस्त्र पुस्तकादि)]

२०००
× ३ योग [मन, वचन, काया]

६०००
× ३ करण [करना, करवाना, अनुमोदन करना]

१८००० — शीलांग

दस प्रकार के साधुधर्म का पालन, चार सज्ञाओ से विरक्ति, पांच इन्द्रियो का निरोध, दस काय की रक्षा, तीन योग और तीन करण से करना। शीलांग की पालना का एक उदाहरण :—

'क्षमागुण मे रहा हुआ मै आहार सज्ञा से विरत होकर, श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करके पृथ्वीकाय का आरभ मन से नही करता हूँ।' इस तरह १८ हजार रूप बनते है।

शुभ अध्यवसायो मे स्थित भावश्रमण इन शीलांगो के पालन मे तत्पर बने रहते है। श्रमण की प्रतिज्ञा होती है शीलांगो के पालन के लिये। अप्रमत्त जीवन जीने वाले वे वीर और धीर महात्मा १८ हजार अश्वो के रथ मे आरूढ होकर मुक्ति के मार्ग पर आगे बढते चलते है। इस यात्रा मे उनके आनन्द की अनुभूति अकथनीय होती है। उनका उल्लास प्रतिपल बढता चलता है।

इन शीलांगों का पालन, सर्वतोमुखी साधना की चाहवाले साधक का ध्यान आकृष्ट करता है। क्षमा वगैरह यतिधर्म का पालन करने वाले यदि संज्ञाओं को बेलगाम बनने दे तो कैसे चले? संज्ञाओं को बेकाबू न बनने दे, पर यदि इन्द्रियनिग्रह न करे तो? इन्द्रियों का निग्रह भी करे पर पृथ्वीकायादि जीवों की रक्षा न करे तो? साधना अधूरी रहती है। इसलिये पृथ्वीकायादि जीवों की रक्षा करना अनिवार्य है। यह सब मात्र मन से अथवा वचन से या काया से करे तो भी गलत है। यह तो मन, वचन, काया तीनों से करना चाहिए। करण करावण, अनुमोदन इन तीनों करण से यथायोग्य प्रवृत्ति करनी चाहिए। किसी एक या दो अंगों की आराधना करके 'हम तो मोक्षमार्ग की आराधना कर रहे हैं।' ऐसी मान्यता के शिकार बन हुए और मिथ्या आत्मसंतोष में झूमते हुए जीवों को इन १८ हजार शीलांगों का गंभीर चिंतन करना अति आवश्यक है।

८ अपूर्व मनपरिणाम को प्राप्त करने वाला

अपूर्व परिणाम! अपूर्व विचार! पहले कभी भी विशुद्ध चित्त ने न किये हों ऐसे शुभ और शुद्ध विचार! १८ हजार शीलांग के रथ में आरूढ़ वो महात्मा को ऐसे उत्तम विचार आते रहते हैं। जन्मजन्मान्तर में कभी भी जिसकी अनुभूति न हुई हो ऐसे विचारों का उद्भव होता है उन महामुनि के अंतःकरण में।

परम विशुद्ध विचारधारा बाह्य जगत के पदार्थों पर आधारित नहीं होती। वो प्रगट होती है अपनी ही आत्मा की गहराई में से। आहारादि संज्ञा और शब्दादि विषयों से मुक्त बने मानस में पैदा किये विचारों का आविर्भाव होता है उसकी कल्पना सामान्य व्यक्ति न कर सके और [illegible] की निरन्तरता में [illegible] [illegible] हो सकती है? क्षमा, मृदुता वगैरह उत्तम गुणों की गरिमा में पैदा होने वाले चिंतन का अनिर्वचनीय [illegible] है। उसका बुद्धि से [illegible] न करना। मुमकिन ही नहीं अपितु असंभव है। अतः जिन [illegible] समझना था, [illegible] ऐसा [illegible] अनुभूति होनी चाहिए।

९. शुभ भावनाओ से अध्यवसित .

पाच महाव्रतो की २५ भावनाए और अनित्यादि १२ भावनाएं ही साधक आत्मा के अध्यवसाय वन गयी होती है। किसी भी समय कोई भी एक भावना तो उनके चित्त में चालु रहती ही है। २५ और १२ भावनाओ के अतिरिक्त अन्य कोई विचार उनकी मनोभूमि मे प्रवेश नही पा सकता। महाव्रतो के धारक मुनि उन महाव्रतो का सुचारु पालन तभी कर सकते है जव कि वे उन महाव्रतो की भावनाओ मे भावित वने रहे। ससार के प्रति उनका हृदय तभी विरक्त रह सकता है यदि वे अनित्यादि वारह भावनाओ से अपने मन को भावित वनाए रखे। संसार को छोड देना इतना मुश्किल नही जितना कि त्याग के परिणाम को चिरस्थायी वनाते रखना। यदि साधक अनित्यादि भावनाओ से अपने विचारो को भावनामय न वनाये तो जिसको उसने छोड़ दिया है ऐसे ससार के प्रति आकर्षण पुन जाग्रत हुए विना न रहे। महाव्रतो का जीवन उसके लिये दुष्कर वन जाय। महाव्रत उसे वधन से लगने लगे। एक तरफ ससार के आकर्षण, दूसरी ओर महाव्रतमय जीवन के प्रति उपेक्षा। वस, जीवात्मा अधःपतन की गर्ता मे गिर जाता है। महाव्रतो की प्रतिज्ञा को विसारकर वो ससार की ओर चल देगा।

अनत अनत दोषो के उच्छेदहेतु तत्पर हुआ, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, स्वाध्याय और ध्यान का अप्रतिम पुरुषार्थ करने वाला, हिसादि पापो से विरत, शुद्ध भिक्षाचरी से सयमयात्रा करने वाला, जिनवचन पर अखड श्रद्धायुक्त, चौदह राजलोक के स्वरूप का ज्ञाता, १८ हजार शीलाग के रथ में आरूढ और नित्य शुद्ध अध्यवसाय से पवित्रमना महात्मा, उसकी विचारधारा कितनी उदात्त होती है! वो विचारधारा महाव्रतपालन की दृढता और ससारवैराग्य को परिपुष्ट करने वाली ही होगी।

१०. सिद्धान्तो मे भावना से गुणवत्ता के दृष्टा :

श्रुतज्ञान, **चिन्ताज्ञान** और **भावनाज्ञान!** आगमसूत्र एव उसके अर्थो को ग्रहण करना और स्मृति की शीप मे सहेजकर रखना, उसका नाम श्रुतज्ञान। स्मृति की शीप मे सहेजकर रखे सिद्धान्तो के ज्ञान को **नय** और **प्रमाण** से सिद्ध करके बुद्धिगम्य करना उसका नाम चिन्ताज्ञान।

बुद्धिगम्य बनाये हुए सिद्धान्तो को आत्मसात् करके उसके परमार्थ की झलक पाना उसको कहते हैं भावना ज्ञान।

भावनाज्ञान दिव्य प्रकाशरूप होता है। शब्दो के अर्थ और भावार्थ से आगे गहराई में जाकर उसके परमार्थ को जब साधक पाता है तब उसे अपूर्व ज्ञानानंद की अनुभूति होती है। ज्ञानमार्ग की सच्ची मस्ती तो भावनाज्ञानी ही लूटते हैं। शब्दार्थ की सतह पर जीने वाले पंडित तो छाछ ही पाते है। मक्खन तो भावार्थ की परतदरपरत को बींधकर गहराई में जाने वाले अनुभवज्ञानी ही पाते हैं। स्वपरदर्शन के सिद्धान्तो की तरतमता और गुणवत्ता उनके चित्त मे स्पष्ट हो जाती है। 'मात्र सिद्धान्तो के शब्दार्थ को पकडकर मैं जो अर्थ करता हूँ वही सही है,' ऐसा दुराग्रह रखने वाले लोग भावनाज्ञानी की दृष्टि में करुणापात्र बन जाते है।

पूरा श्रुतज्ञान भी जिनके पास नहीं है, वर्तमान काल में उपलब्ध आगमो का श्रुतज्ञान भी जिनके पास नही है, जो श्रुतज्ञान है भी, उस पर किसी तरह का चिन्ताज्ञान नही है और भावनाज्ञान की तो कल्पना भी जिनके पास नही है, ऐसे बालजीव मात्र अहंकार मे उन्मत्त बनकर 'मैं शास्त्रविशारद हूँ, मैं प्रकांड विद्वान हूँ, मैं शास्त्रज्ञ हूँ,' ऐसा प्रलाप करते हैं। जिनशासन की कदर्थना करने वाले इन साधु-वेशधारी को पूछे भी कौन कि 'तुमने कितना श्रुतज्ञान पाया है?' ऐसे जीव सिद्धान्त के परमार्थ को जाने बिना सिद्धान्तो की प्ररूपणा कर के ससार के भोले भाले जीवो को उन्मार्ग पर ले जाते हैं।

११ वैराग्यमार्ग पर स्थित

राग की कोई बेहोशी नही, राग की कोई तड़पन नही, राग का कोई आलाप नही या विलाप नही! वैराग्य का जोश! वैराग्य की शीतलता! वैराग्य का अमृतपान! मुनिजीवन का प्राण यानी को वैराग्य। मुनि उस प्राण की रक्षा जान की बाजी लगाकर करता है। विरतिधर्म अलग है, वैराग्य अलग है। विरतिधर्म को प्राप्त करके मुनि वैराग्य पुष्ट करने के लिये मन, वचन और काया से कडी मेहनत करता है।

चाहे क्यो न प्रबल राग के निमित्त उनके सामने आये, पर मुनि-राज पर उन निमित्तो का कोई असर नही। कमलपत्र पर जैसे ओस की बूद नही ठहरती वैसे मुनिराज पर राग नही ठहरता। किसी भी जड पदार्थ का उन्हे आकर्षण नही। लुभावने और मधुर शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श उसके वैराग्य को हिला नही सकते। वैराग्य के मार्ग पर से नीचे उतरने का ही नही। उतरे भी क्यो? वैराग्य-मार्ग पर साधक आत्मा को ऐसी तृप्ती होती है, इच्छाओ का ऐसा अभाव होता है कि राग की अगनबिछी राह पर वह चले ही नही। ज्ञान और ध्यान में निरतर ओतप्रोत बनकर वैराग्यभाव को वैराग्यवासना-रूप बनाते मुनिवर देवलोक के देवेन्द्र से भी ज्यादा उत्तम सुख की अनुभूति करते हैं।

१२. संसारवास से त्रस्त .

ससार के दु.खो से नही, पर ससार के सुखो से त्रस्त। 'संसार सुखो के राग मे से ससार के दु ख पैदा होते है, पाच इन्द्रियो के विषय सुखो के भोगोपभोग का परिणाम है दु.ख, त्रास और विडम्बनाए।' ज्ञानदृष्टि से इस सत्य को जानने वाले आत्मार्थी जन ससारसुखो का त्याग करके, उन सुखो के प्रति विरक्त बनकर, सयममय जीवन का स्वीकार करते हैं। जब जब वे ससारस्वरूप का चितन करते हैं तब तब उन्हे गहरी वेदना का अनुभव होता है।

'उफ्...मेरी आत्मा ने ससार की चार गतिओ मे कितने कष्ट सहन किये हैं? अनत अनत जीव रागद्वेष और मोह के अधीन बनकर कैसी कैसी दारुण वेदनाए सह रहे हैं?' उनकी कल्पना में रौरव नरक के दृश्य उभर आते हैं। तिर्यंच की अपार वेदनाओ के चित्र साकार बनते है। वे करुणावत महात्मा त्रस्त बन जाते हैं। दिव्य भोगसुखो में आकठ डूबे देवताओ का भीषण भविष्य देखकर उनकी मनोव्यथा असह्य बन जाती है। वो काप उठते हे। आधि-व्याधि ओर उपाधि से घिरे हुए मनुष्यो के जीवन की व्यथाए उन ज्ञानसिद्ध महात्मा के अन्त करण को द्रवित कर देती है। समग्र संसारवास से उनका चित्त विरक्त बन जाता है। उपर उपर से सुन्दर और लुभावना दिखता ससार उन्हे आकर्षित नही कर पाता है। उनका चित्त तो अजर, अमर, शाश्वत्

मोक्षसुख की ओर ही आकर्षित बना रहता है। 'अब तो मोक्ष का ही सुख चाहिए सासारिक सुख चाहिए ही नही !' यह उनका सुदृढ सकल्प होता है। मोक्षसुख को पाने के लिये ससार के दारुण कष्टो को सहन करने के लिये भी वे तयार रहते है।

१३ स्वहिताथ मुक्तिसुख मे मन से डूबे हुए

मोक्ष का यथाथ और विस्तृत स्वरूप जानने वाले योगीपुरुषो का मन मोक्ष में ही रममाण होता है। जहा जान की ओर हमेशा के लिये रहने की तमन्ना हो, मन वहा पहले से ही पहुँच जाता है। भारत में से अमरिका जाने की इच्छा वाले और अमरिका मे बसने की इच्छा-वालो के मन तो पहले से ही अमरिका की क्लबो मे, बगीचो मे और होटलो मे घूमने लगते है। उनके दिमाग म अमरिका के ही विचार चलते हैं। चाह वे अमरिका जल्दी जाये या देरी से जाये। आज जाये या बरसो बाद जाये। जहा जाना है, वहा का यथाथ ज्ञान आवश्यक है, वहा का प्रबल आकषण चाहिए और जाने की पूरी तयारी चाहिए।

ससारवास से त्रस्त और मोक्षसुख मे अनुरक्त जीवात्माओ की मन स्थिति का स्पष्ट एव विशद विवेचन करते हुए आचायप्रवर श्री हरिभद्रसूरिजी ने 'योगबिन्दु' मे कहा है 'मोक्षेचित्त भवे तनु ।' उस योगी का चित्त मोक्ष मे होता है और उसका शरीर ससार मे। मन जहा जाने के लिये बेचैन हो वहा पहुँचने मे देरी नही होती। पहुँचा नही जाया जाता हो तो हृदय मे कितनी अपार वेदना छायी रहती ह ? उसकी चिन्ता का पार नही रहता है। 'मैं वहा कब पहुँचु गा ? क्या अभी भी मेरा पुरुषाथ कम है ? जल्द जल्द वहा पहुँचने के लिये मुझ क्या करना चाहिए ?' इस तरह आत्मनिरीक्षण करता रहता है वो योगी। जहा रहा है, जिस ससारवास में रहा है वहा मन तो तनिक भी नही लगता है। हृदय बेचन होता है। जहाँ जाना है वहा पहुँचा नही जाता है, तब उसका मनोमथन कैसा होता है, उसका स्पष्ट चित्रण ग्रन्थकार स्वय करते हैं।

श्लोक : भवकोटीभिरसुलभं मानुष्यं प्राप्य कः प्रमादो मे ?
न च गतमायुर्भूय प्रत्येत्यपि देवराजस्य ॥६४॥

आरोग्यायुर्बलसमुदयाश्चला वीर्यमनियतं धर्मे ।
तल्लब्ध्वा हितकार्ये मयोद्यमः सर्वथा कार्यः ॥६५॥

अर्थ : करोडो (अनत) जन्मो मे (नरक, देव, तिर्यंचादिरूप) भी दुर्लभ मनुष्यभव पाकर यह मेरा कैसा प्रमाद है ? बीता हुआ आयुष्य इन्द्र को भी वापस नही आता (तो फिर मनुष्य को वापस आने की तो बात ही कहा ?) ६४

धर्म मे आरोग्य, आयुष्य, बल, समुदाय (धन धान्यादि के) क्षणभंगुर है वीर्य (उत्साह) विनश्वर है, वो (आरोग्य, आयुष्य, बल, धन-धान्य, वीर्य) पाकर हितकार्य मे (ज्ञान, दर्शन, चारित्र मे) मुझे सर्व प्रकार से (बिना थके) पुरुषार्थ करना चाहिए । ६५

विवेचन . मानव जीवन कितना दुर्लभ है ? अनत अनत जीवो की सृष्टि मे सब से अल्प है मनुष्य । तिर्यंचगति के जीव अनत, देवगति के जीव असख्य और नरक के जीव भी असख्य ! पर मनुष्य तो गिनती के ही । उसमें अपना समावेश हुआ है ! मिले हुए उच्च जीवन का मूल्याकन करना आवश्यक हे । मनुष्य जिस वस्तु को दुर्लभ समझता है उसका मूल्याकन भी अच्छी तरह करता है और उसका दुरुपयोग नही करता । जिसे वो दुर्लभ नही समझता है उसकी उपेक्षा करता है या फिर तुच्छ समझकर दुरुपयोग भी करता है ।

उस किसान की कहानी तो शायद सुनी होगी । वो अपने खेत मे खेती कर रहा था और एक जगह जमीन मे दटा हुआ एक कलश जिस पर श्रीफल रख कर रेशमी कपडे से उसे बाध रखा था, मिला । किसान ने कलश को खोला और देखा तो उसमे पत्थर के चमकीले टुकडे भरे थे । उसकी कल्पना की कालीन जल कर राख हो गयी । उसने सोचा था कि अन्दर सोने-चादी की मुहरे होगी । उसने एक एक पत्थर को उठाया और इधर उधर फसल में चोच लगाते पक्षियो को उडाने फेकने लगा । दुपहर के समय उसका छोटा बच्चा वहा आया, उसने कलश के भीतर का चमकीला पत्थर उठाया और उससे खेलने

लगा। खेलते खेलते वो अपने घर की तरफ चला। शाम का समय था, गाव का एक जौहरी घूमने निकला था उसने लडके के हाथ मे वो पत्थर देखा। उसने उससे माग लिया। लडके ने पहले तो देने में झिझक बतायी पर जब सेठ ने उसे एक मिठाई का पेकेट दिया तो उसने वो पत्थर जौहरी को थमा दिया। जौहरी की निगाहे उस पत्थर पर जम गयी। वो तुरन्त अपनी दुकान पर गया और जाच पडताल करके उसने उस चमकीले पत्थर को, जो कि वास्तव में हीरा था उसकी कीमत सवा लाख रुपय पायी। दूसरे दिन वो उस किसान के वहा जाकर किसान से पूछता है 'क्या तुम्हारे पास ऐसे और भी पत्थर है?' किसान ने लापरवाही से कहा 'हा थे तो बहुत, पर मैंने तो फेक दिये, भला पत्थर भी कोई इकट्ठा करने की चीज होती है?' 'पर तुम्हे मालूम है इस पत्थर का मूल्य कितना है? यह पत्थर नहीं अपितु कीमती हीरा है।' यो कहकर सेठ ने पच्चीस हजार रुपये किसान के हाथो में रखे।

अब किसान तो मारे शरम और गुस्से के बावला उठा। वो अपने ही आप को कोसने लगा 'हाय, मैं कितना बुद्धू ऐसे कीमती हीरो को पत्थर समझ कर फेक दिये।' पर अब हो भी क्या सकता था? खेत पूरा सूख जाये तो फिर बारिश से क्या मतलब? 'का बरखा जब कृषि सुखाने!'

उस किसान ने हीरे को पत्थर समझा वो हीरे का मूल्य आक न सका। पाये हुए हीरा वो गवा बैठा। क्या हम भी ऐसी ही कोई गल्ती तो नही कर रहे है? मानव जीवन को माटी के मोल फेंक देने की भूल न कर बठें, अन्यथा पश्चात्ताप की अंगार-ज्वाला में भुनसना होगा। मानव जीवन को परखने वाले परमात्मा ने मानव जीवन को अमूल्य हीरा कहा है।

तेरह विशेषताओ से विभूषित महात्मा यह सत्य अच्छी तरह समझते हैं। वो जीवन के बीते हुए वरसो की ओर नजर डालते हैं बीते वरसो की भूलें प्रमाद अतिचारो से भरा क्रियाकलाप, यह यह सब उनके साधनाप्रिय अन्तःकरण को व्यथा से भर देता है। वर्तमान काल में भी जानते हुए या अनजानपन में हुए दोष और प्रमाद

उनके मन को भारी भारी बना देते है । 'यह मेरा कैसा प्रमाद...!' हृदय की वेदना शब्दो मे बवती है : 'मेरा इतना समय ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना के बिना बीत गया...।' कितना बडा नुकसान लगता उन्हे !

'बीता हुआ समय लौट के नही आता है,' इस सत्य को भली भाति समझने वाले महापुरुष समय के दुरुपयोग को बहुत बडा नुकसान मानते है। 'अप्रमत्त जीवन' का आदर्श सामने रखकर मोक्षमार्ग के पथ पर आगे कदम बढ़ाते हुए साधको को अल्प भी प्रमाद कैसे प्रिय लगे ? निद्रा विकथा और विषय-कषाय को जानलेवा दुश्मन मानने वाले साधक उन दुश्मनो का सग पल भर के लिये भी कैसे कबूल कर सकते है ? कभी चलते-चलाते उन दुश्मनो से आंख चार हो जाये और पूर्व की मैत्री याद आ जाये...तो पल दो पल की हसी मजाक...वार्ता-विनोद हो भी जाये...पर तुरन्त ही उनको स्मरण हो जाता है, होश आ जाता है कि 'यह दोस्त नही पर दुश्मन है !' बस, वो अपने रास्ते पर लौट आते है, अपने आत्मभाव मे वापस आ जाते है । जो गल्ती हो गयी वो उनको बेचैन बना देती है । 'कः प्रमादो मे ?' 'मेरा कैसा प्रमाद है ?' वे ज्ञानी है...शास्त्रज्ञ है...वे जानते है कि 'देवलोक का इन्द्र भी क्यो न हो, बीते हुए जीवन के क्षण उन्हे भी उपलब्ध नही होते है । खोया हुआ राज और ताज मिल सकता है, खोयी हुई तन्दुरुस्ती लौट आती है, इज्जत की इमारत भी नये सिरे से खड़ी हो जाती है, पर बीते हुए दिन लौट के नही आते है । जो पल पास मे है, जो समय अपना है, उस वर्तमान की क्षणो का सदुपयोग करने के लिऐ साधक सदा जाग्रत रहते है । जीवन की हर एक पल...हर एक क्षण ज्ञान-दर्शन एव चारित्र की साधना मे प्रतिबिम्बित हो,...इसके लिए वे ज्ञानी पुरुष सदैव प्रयत्नशील रहते है । वे योगी पुरुष यह भी जानते है कि 'भूतकाल बीत चुका है, भविष्य की कल्पना मात्र है, हाथ मे जो वर्तमान की पल ही है उस पल को अति मूल्यवान समझते हुए वे अपने वर्तमान को सदा आनन्दमय...सत्-चित् और आनन्द की उपासना मे डूबोये रखते है ।

जो मनुष्य वर्तमान-क्षण का आराधक होता है वो ही मनुष्य मनुष्यजन्म की दुर्लभता को भली भाति समझ पाता है। केवल अतीत की

अंधियारी घटनाओं की गलियों में भटकता रुदन करने वाला और भविष्य की सुनहरी कल्पनाओं की मखमली सेज पर सोने वाला व्यक्ति भला, मानव जीवन की महत्ता क्या समझेगा ? सदैव जाग्रत, प्रतिपल जिन्दगी को भरी-पूरी बनाकर जीने वाली आत्मा ही वर्तमान को समझ पाती है। उसकी अतीत की मनोयात्रा और अनागत की अंतर-यात्रा भी वर्तमान में क्षणों को साधनामय बनाने के लिये ही होती है।

धर्म-पुरुषार्थ की आराधना के लिये ही जिन्दगी जीने वाले महापुरुष उस धर्मपुरुषार्थ के साधनों की ओर जाग्रत बने रहते हैं। वो जानते हैं कि आरोग्य, आयुष्य, बल, वीर्य और सानुकूल संयोग हो तभी तक धर्म-पुरुषार्थ किया जा सकता है। इन साधनों की विनश्वरता और क्षणभंगुरता का उन्हें पूरा ज्ञान होता है।

'किसी भी समय नल का पानी आना बंद हो सकता है।' यह जानने वाले स्त्री-पुरुष पानी का संग्रह करने में जरा भी प्रमाद नहीं करते हैं। 'अभी नल चालु है, सारे काम छोड़कर पहले पानी भर लो,' चूंकि पानी के बिना जीवनव्यवहार नहीं चल पाता। यह बात बराबर जच गयी होती है। जहां पर किसी भी समय रोशनी (Light) चली जाती है वहां 'जब तक रोशनी है तब तक घर का काम निपट लो। पढ़ना है तो पढ़ाई कर लो वरना अंधेरे में यह सब नहीं होगा।' चंचल वस्तु जब तक पास में होती है तब तक उसका उपयोग कर लेने में मनुष्य सावधान होते हैं। 'अभी फलां वस्तु सस्ती है तो खरीद लो! फिर न जाने महंगाई की सरपट दौड़ में तेल मिले या नहीं। सस्ते की दौड़ क्षणिक है, जब तक है, काम कर लो!'

अभी शरीर निरोगी है, किसी भी तरह का रोग नहीं है, पांचों इन्द्रियां कार्यक्षम हैं, कोई भी इन्द्रिय शिथिल नहीं है तो धर्मपुरुषार्थ कर लो। तपश्चर्या कर लो, सेवा भक्ति कर लो, ज्ञान और ध्यान की साधना कर लो। शरीर में जब रोग पैदा हो जायेंगे, इन्द्रियाँ जब शिथिल बन जायेंगी तब धर्मपुरुषार्थ नहीं हो सकेगा।' इस वास्तविकता से ज्ञानी पुरुष खूब परिचित होते हैं। उनकी कल्पनासृष्टि में सनत्कुमार चक्रवर्ती जैसे पात्र छाये ही रहते हैं। स्नान करते समय शरीर में एक भी रोग नहीं और ज्यों राजसभा में आकर राजसिंहासन पर बैठे,

त्योही शरीर मे एक साथ सोलह रोग पैदा हो गये ! अभी वर्तमान समय मे भी तो ऐसे रोग आ आकर घेर लेते है। रात को सोये तो बिल्कुल ठीक-ठाक। कोई पीडा नही ! कोई रोग नही और सुबह जगा तो गला बिल्कुल बद ! नही तो बोला जाता और नही कुछ गले मे निगला जाता ! दुकान से निकले और घर तक आये तब तक कुछ नही, पर घर की सीढियां चढते ही हृदय-रोग का हमला ! गाडी मे बैठे तो हसते हंसाते......और जब उतरे तो चेहरे पर हवाईयां तैर रही हो ! या फिर प्राण बिना का शरीर ही हाथ लगे....कितना वैचित्र्य है !

आरोग्य चचल और आयुष्य भी चचल ! कब काल के थपेडे लगे और यह शरीर को छोड जाना पडे, अज्ञानी जीवात्मा को कहाँ मालूम पडती है ! ज्ञानी जीवात्मा समझता है . 'मौत का कोई भरोसा नही, न जाने किस पल चली आये और तन से प्राणो को चूरा ले जाये...।' इसलिये वो अपने आत्महित की साधना मे प्रतिपल जागृत बना रहता है। आरोग्य और आयुष्य की भाति शरीर का बल भी चचल है,... क्षणिक है। सुबह का बलशाली शाम को निर्बल करार कर दिया जाता है। विश्व मे प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँचने वाले पहलवानो की क्या हालत होती है। उन्हे दो जून रोटी के लिये भी बेकस बनकर तड़पना पडता है। जब तक देह मे शक्ति है...बल है, तब तक आत्मशुद्धि का कार्य कर लेने के लिये महामना मनुष्य तत्पर रहते है।

'साधुजन चलता भला'......श्रमण तो हमेशा परिभ्रमणशील होते है। एक जगह पर अकारण अधिक समय तक रहना उनके लिये निषिद्ध है। उन्हे तो गॉव गॉव और नगर नगर घूमना होता है। किसी गॉव या नगर मे धर्मआराधना के लिये अनुकूल आवास न मिले......भिक्षा और औषधि उपलब्ध न भी हो, सानुकूल सयोग एव वातावरण न भी हो, जब अनुकूल वातावरण मिल जाये तब क्षमा, नम्रता वगैरह यति-धर्म के पुरुषार्थ मे प्रमाद नही करना चाहिए। प्राप्त सानुकूल परिस्थितियो का सदुपयोग कर लेने की होशियारी चाहिए।

इन सारी बातो में महत्त्वपूर्ण बात है वीर्योल्लास की। आतर-उत्साह की। हृदय के उल्लास की। प्रवर्द्धमान अध्यवसाय जब तक हो

तब तक कडा धर्मपुरुषार्थ कर लेना चाहिए। चूंकि उत्साह भी अस्थायी है। कायम बना रहे ऐसा नियम नहीं। आरोग्य हो, जीवन हो, बल हो, समुचित सामग्री उपलब्ध हो, फिर भी अगर वीर्योल्लास न हो, आंतर उत्साह न हो तो धर्मपुरुषार्थ नहीं किया जा सकता। अलबत्ता, जब आंतर उत्साह का फव्वारा फूटता है तो फिर प्रमाद टिक ही नहीं सकता। सहज भाव से ज्ञानादि-आराधनामय धर्मपुरुषार्थ हो जाता है। कोई अवरोध टिक नहीं सकते। उत्साह उमंग उल्लास का उदधि अवरोधों की अवगणना करता हुआ विघ्नों को उखाड फेंकता है और अपने निर्धारित लक्ष्यबिन्दु की ओर जीवन को गतिशील बनाये रखता है।

ज्ञानार्थी विनीत चाहिए

श्लोक शास्त्रागमादृते न हितमस्ति न च शास्त्रमस्ति विनयमृते।
तस्माच्छास्त्रागमलिप्सुना विनीतेन भवितव्यम् ॥६६॥

अर्थ शास्त्रागम के अतिरिक्त [शास्त्र यानी आगम] अन्य कोई हित नहीं है और विनय के बिना शास्त्रलाभ नहीं है अतः शास्त्रागम का लाभ चाहने वाले को विनीत बनना चाहिए।

विवेचन जो शासन करे उसे कहते हैं शास्त्र। 'शासनात् त्राणात् शास्त्रम्।' शासन यानी उपदेश। जो उपदेश दे उसे शास्त्र कहते हैं। शास्त्र को ही आगम कहा गया है। सर्वज्ञ परमात्मा के मुखारविन्द से अर्थनिर्गम होता है और विशिष्ट ज्ञानी गणधर भगवन्तों के आनन से सूत्रनिर्गम होता है। इस तरह तीर्थंकर और गणधर भगवन्तों की परंपरा से जो ज्ञान आविर्भूत हुआ उसे कहते हैं आगम। 'परंपरया आगत इत्यागम।'

'अब मुझे आत्मा का अहित नहीं करना है अपितु आत्महित की प्रवृत्ति में ही डूबे रहना है।' जो मनुष्य आत्महित-सन्मुख बनता है, आत्महितार्थ चिंतन मनन करता रहता है, आत्महित का मार्ग ढूंढता है। अनंत अनंत जन्मों से होता आया आत्म-अहित उसके खयाल में होता है। कहीं वर्तमान-जीवन में ऐसा कोई अहित न हो जाये,

इसके लिये वो सजग बना रहता है। आत्महित समझने के पश्चात् अगम अगोचर तत्त्वों की ओर आकर्षण पैदा होता है। उन इन्द्रियातीत तत्त्वों को समझने के लिये और पाने हेतु वो शास्त्रागमों की ओर मिलता है। चूंकि वे शास्त्र, इन्द्रियातीत परम तत्त्वों को पाये हुए श्रेष्ठ पुरुषों की रचनाएँ हैं। इन शास्त्रागमों के बिना कहीं पर भी स्पष्ट और सत्य मार्गदर्शन उपलब्ध नहीं होता।

आत्मा, धर्म, परमात्मा इत्यादि तत्त्वों को बिना शास्त्रों के कौन समझाये? इन तत्त्वों को समझे बिना आत्महित की साधना कैसे हो सकती है? अतः आत्महितार्थी मनुष्य शास्त्रों के प्रति आकर्षित बनता है। शास्त्रों की उपयोगिता उसे समझ में आती है। वो उन शास्त्रों को हाथ में तो लेता है पर शास्त्रों की भाषा...परिभाषा उसे समझ में नहीं आती। शास्त्र के अर्थ-भावार्थ उसे समझ में नहीं आते। शास्त्रों के गूढ़ पदार्थ समझा नहीं जाता, तब वो परेशान हो जाता है। 'शास्त्र हैं परन्तु मैं उन्हें समझ नहीं पाता, मुझे कौन समझायेगा?' उसके मन में प्रश्न उठता है। उसे मालूम पड़ता है कि 'इन शास्त्रों को तो ज्ञानी गुरुदेव ही समझा सकते हैं, चूंकि वे गुरुजन स्वयं परम-आत्महित के साधक होते हैं एवं शरण में आये जीवों को करुणासभर हृदय से आत्महित की उपासना का समुचित मार्गदर्शन देते हैं। शास्त्रों का अध्ययन करवाते हैं। सूत्र, अर्थ, भावार्थ और तात्पर्यार्थ समझाते हैं।'

उस आत्महितार्थी साधक के हृदय में शिष्यभाव पैदा होता है। विनम्रता का उदात्तभाव जाग्रत होता है, विनम्रता में से विनय का सौन्दर्य आविर्भूत होता है, सुविनीत बनी हुई आत्मा सद्गुरु की कृपा का पात्र बनती है और शास्त्रों का ज्ञान अर्जित करती है।

यह समझ लेना होगा कि विनय का भाव स्वयम् प्रगट होता है। बाह्य विनय के प्रकार चाहे सीखने पड़ें, पर आंतर विनय, हृदय का बहुमान सीखने से नहीं मिलता। आत्महित की प्रबल अभीप्सा जीवात्मा को शास्त्रों की ओर आकृष्ट करती है और आदरयुक्त बनाती है। वो आदर उसे गुरुजनों के प्रति विनम्र बनाता है। जहाँ से जो वस्तु मिलने की हो...और उसे प्राप्त करने की प्रबल आकांक्षा हो, वहाँ मनुष्य विनम्र...विनीत बन जाता है, उसके बिना वो वस्तु उसे उपलब्ध नहीं हो पाती।

श्लोक कुलरूपवचनयौवनधनमित्रैश्वर्यसंपदपि पुंसाम् ।
विनयप्रशमविहीना न शोभते निर्जलेव नदी ॥६७॥

अर्थ पुरुषों की विनय और प्रशम से रहित कुल [क्षत्रियादि] रूप [लक्षण युक्त शरीरादि] वचन [प्रियवादिता] यौवन धन मित्र और ऐश्वर्य [प्रभुता] की संपत्ति, बिना जल की नदी की भांति सुशोभित नहीं होती है।

विवेचन इतना अभिमान क्यों? तुम उच्च कुल में पैदा हुए हो, इसलिए? इतनी मगरूरी क्यों? तुम्हारे पास हजारों के दिल को दहलाने वाला रूप-सौंदर्य है, इसलिए? इतनी उद्दंडता क्यों? सावन की झूमती बहारों सा यौवन अंग अंग में छलक रहा है इसलिए? इतना गर्व क्यों? हजारों के मन को मोहने वाली प्रियवाणी है इसलिए? इतनी ऐंठन क्यों? धन और दौलत से तुम्हारी तिजोरियाँ तर हैं इसलिए? इतना उन्माद क्यों? अनेक यार दोस्तों की महफिलों के दौर चलते रहते हैं इसलिए? क्यों आसमान पर सर चढ़ाये फिरते हो? सत्ता और पद की प्रतिष्ठा के मालिक हो, इसलिए?

तुम अच्छे नहीं लगते, बिल्कुल अच्छे नहीं लगते। जनता की निगाहों में तुम्हारी कोई प्रतिमा नहीं! भूलना मत। हर कोई जनसमूह की आंख का तारा बनना चाहता है। तुम भी शायद इसी महत्त्वाकांक्षा के शिकार बनकर अभिमान और मगरूरी का मुखौटा पहने हो। तुम चाहे अपने मन में मानते रहो कि 'मैं अच्छा लग रहा हूँ, पर मैं कहता हूँ कि तुम अच्छे नहीं लग रहे हो। मैं चाहता हूँ कि तुम हरदिल अजीज बनो। जनसमूह में तुम्हारी तस्वीर बनी रहे। तुम्हारा महान् पुण्योदय है, पुण्योदय से प्राप्त यह विशाल संपत्ति तुम्हारी शोभा को बढ़ायेगी संसार में पर उसके लिये तुम्हें अपने जीवन-व्यवहार में एक परिवर्तन करना होगा। बस, एक ही परिवर्तन! यदि तुम्हारे प्राणों में मेरे लिये प्रेम है, श्रद्धा है, तो तुम मेरी बात को शांत बनकर सुनना और इस पर सोचना।

तुम विनम्र बनो! सुविनीत बनो, अभिमान को छोड़ दो। उद्दंडता और उन्माद को उखाड़ फेंको। लोगों को ऐसा महसूस होने दो कि तुम्हें तुम्हारी संपत्ति का कोई गर्व नहीं है। लोगों में तुम्हारे लिये

'देखो तो सही, कितनी अपार संपत्ति है फिर भी अभिमान या गर्व की बात नहीं! गरीबों के साथ भी उतना ही प्रेम भरा व्यवहार। उनके साथ भी उतनी ही मीठी बातें। हरएक की कद्र है उन्हें...!' ऐसा बोला जाय!' बस, यही है तुम्हारी शोभा। मत भूलना कि इस देश में ज्यादा संख्या है गरीबों की। जिस नगर में तुम रहते हो उस में भी बड़ी संख्या है गरीबों की। वैभव और संपत्ति तो बहुत अल्प लोगों के पास है। तुम्हारी समान कक्षा के श्रीमंतो की निगाहों में तो तुम्हारी शोभा है ही नहीं। वहाँ तो ईर्ष्या और अविश्वास की आग झुलसती रहती है। तुम्हारी इज्जत तुम्हारी प्रतिष्ठा-शोभा गरीब और मध्यमवर्गीय मनुष्य बढ़ायेंगे। पर उसके लिये तुम्हें विनम्र होना ही होगा। जैसे तुम्हें किसी का अनादर नहीं करना चाहिए वैसे कोई तुम्हारा अनादर कर भी दे तो तुम्हें बौखलाना नहीं चाहिए। चेहरे पर स्मित के फूल बिखेरते हुए उस अनादर को पी जाना। 'इसने मेरा अपमान किया,' ऐसा विचार नहीं करना चाहिए। हो भी जाये तो उसकी अभिव्यक्ति नहीं करना चाहिए। तुम देखना, तुम्हारे कुल की कीर्ति कितनी शुभ्र बनकर फैलती है! तुम्हारा सौन्दर्य कितना पुनम के चाँद की तरह खिल उठता है! तुम्हारे बोल बागों में खिले फूलों की तरह लोगों में आदेय बनेंगे। तुम्हारा यौवन अनुपम आदर पायेगा। तुम्हारा विशाल मित्रमंडल कितना आदर पाता है! तुम्हारी धनाढ्यता पर लोगों की दुआएं दिन दो गुनी रात चौगुनी बनकर उतरेगी। तुम्हारी प्रभुता जनसमूह को बाँध रखेगी। तुम्हारे समग्र व्यक्तित्व में एक अनोखी छटा निखर आयेगी और फिर गली-गली जबान पर चर्चा तुम्हारे एक की!'

विनय और प्रशम का यह अनूठा जादू है। दुनिया के महान् जादूगर भी ऐसा चमत्कार नहीं कर पाते। दुश्मन को भी दोस्त बनाने वाला है विनय और प्रशम से छलकता व्यक्तित्व। पतझर की शिकार बनी वीरान जिन्दगी में सावन-भादों की महकती बहारें लाने का उपाय है विनय और नम्रता। टूट चूके संबन्धों और मृतप्राय: बने रिश्तों को पुनः एकसूत्री बनाने वाला है विनय और प्रशम। इसलिये कहता हूँ कि जीवन में विनय को प्रवेश दो। प्रशम को स्थान दो।

तुम्हारे दर पे आये हुओं को मीठे और मधुर सुरों में आदर दो। आसन दो। उनका उचित सत्कार करो। शिष्ट भाषा में वार्तालाप

करो। यदि आने वाले को तुम्हारा सहयोग चाहिए तो तुम्हारी शक्ति अनुसार सहयोग दो। सहाय या सहयोग देने की इच्छा न हो तो मत देना, पर अनादर या तिरस्कार तो देना ही मत! किसी की राहों में फूल बिछा सको तो अच्छा है, पर शूल नहीं बिखेरना।

जीवनसरिता का पवित्र पानी है विनय और प्रशम का। जल के बिना नदी की क्या शोभा है? सरिता में यदि सलिल न हो तो वहाँ हंसयुगल तरते नहीं, सारस और सारसी के युगल वहाँ आयेंगे ही नहीं। चोंच में चोंच पिरोये पक्षी युगलों की प्रणयक्रीडा का स्थान ऐसी निजला नदी नहीं बनती। फिर ऐसी वीरान और सूखी नदी की शोभा क्या? चाहे वो सरिता कहलाय, पर सौन्दर्यविहीन और शोभारहित!

जीवनसरिता में विनय और प्रशम का शांत पानी कल कल निनाद करता रहता हो, बाल, तरुण, युवा और वृद्ध मनुष्य निर्भय और निश्चित बनकर उसमें हँसते हुए खेलते हों, थके पके और श्रमित पथिकों के लिये इस सरिता का किनारा विश्रामस्थल बन जाता हो वे उस सरिता का जल मन भरकर पीते हों, रसिक जन छोटी नाव में सवार होकर उस सरिता के शांत प्रवाह में सैर करते हों, तुम्हारी जीवन सरिता की ख्याति सुनकर दूर-सुदूर से हजारों लाखों नरनारी तुम्हारी जीवन सरिता के घाट पर आते रहते हों! आनन्द, उल्लास और अनूठा चैतन्य पाकर हँसते हँसाते वापस लौटते हों।

यह है तुम्हारी शोभा! यह है तुम्हारी सुंदरता! तुम्हें पसन्द आयी ना? तो तुम दृढ संकल्प कर लो विनीत बनने का, प्रशान्त बनने का। श्रद्धा रखना, तुम विनीत और प्रशम वाले बनोगे ही। तुम गृहस्थ हो या साधु हो, तुम्हें विनय और प्रशम की आराधना करनी ही होगी। धर्म का मूल है विनय। 'विणयमूलो धम्मो' आर्यसंस्कृति की बुनियाद है विनय। विनय और प्रशम से पला व सजा जीवन ही जीने लायक है।

श्लोक न तथा सुमहार्घ्यैरपि वस्त्राभरणैरलङ्कृतो भाति।
श्रुतशीलमूलनिकषो विनीतविनयो यथा भाति ॥६८॥

अर्थ बहुमूल्यवान् वस्त्र और आभूषणों से अलंकृत [मनुष्य] जो ऐसा सुशोभित नहीं होता जैसा कि श्रुत और शील के निकष [कसौटी का पत्थर] रूप विशिष्ट विनययुक्त [मनुष्य] शोभित बनता है।

विवेचन : तुम्हारे श्रुतज्ञान और तुम्हारे चारित्र को तुमने विनयधर्म की कसौटी के पत्थर पर कस के देखा है? सोना असली है या बनावटी, इसका निर्णय कसौटी के पत्थर पर होता है न? वैसे श्रुतज्ञान सम्यग् है या मिथ्या, इसका निर्णय विनय के कसौटी-पत्थर पर होता है। चारित्र सच मे चारित्र है या नही, इसका निर्णय विनय के पाषाण पर होता है। यदि तुम विनीत हो तो तुम ज्ञानी हो, यदि तुम विनीत हो तो तुम चारित्रशील हो।

चाहे तुमने बहुत सारे ग्रन्थो का अध्ययन किया हो और निरतिचार चारित्र का पालन करते हो, पर यदि विनयधर्म का पालन नहीं करते हो तो तुम न तो ज्ञानी हो, नही चारित्री हो।

पढे हुए होने पर भी अनपढ हो। चारित्रधर्म की क्रियाए करने के बावजूद भी चारित्रविहीन हो। शायद यह बात तुम्हे अखर जायेगी, शायद यह बात अतिशयोक्तिपूर्ण लगेगी, पर ऐसा नही, अखरने वाली बात होने पर भी यह सत्य है, पथ्य है, अतिशयोक्ति से रहित है। यदि तुम गहराई मे जाकर सोचोगे तो तुम्हे यह कथन यथार्थ मालूम पडेगा।

विनय के कसौटी-पत्थर पर जिनका ज्ञान और चारित्र खरा उतरता है, ऐसे सुविनीत आत्माओ की दिव्य शोभा-प्रभा के आगे मूल्यवान वस्त्र और बहुमूल्य अलकारो से सजे धजे मनुष्य भी फीके लगते है। शोभारहित लगते है। चाहे मनुष्य प्रतिदिन नयी नयी फेशन के कपडे पहनकर, नयी नयी कलात्मक वेशभूषा बनाकर, आधुनिकतम अलकारो मे बनठन कर सुन्दर दिखने के लिये ऐडी से चोटी तक प्रयत्न करे, पर यदि वो अविनीत है, विनम्र नही है, तो वो सौन्दर्यविहीन लगेगा। जबकि बिल्कुल सीधे सादे कपडो मे सज्ज मनुष्य कि जिनके शरीर पर एक भी अलकार नही है, पर वो विनीत है, नम्रता से भरापुरा है तो उसका कोई सानी नही।

किमिव मधुराणां मंडनं नाकृतिनाम्?' महाकवि कालिदास के शब्दो मे जो स्वय ही सुन्दर है उन्हे अलकारो से क्या? और स्वय की सुन्दरता गुणो मे झलकती है, नहीं कि बाह्य रंग-रूप में। एक सत्य समझ लेना चाहिए कि सुन्दर वस्त्र और मूल्यवान अलंकार लोगो की

आखो को आकर्षित कर सकेंगे पर लोगो के मन को आकृष्ट करने की क्षमता तो तुम्हारे विनयमूलक गुणो में ही है। गुणो का आकर्षण क्षणिक नहीं होता अपितु चिरस्थायी होता है। विनयमूलक गुण मनुष्य को भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि के शिखर पर आरुढ करते है।

ससार के क्षत्र मे भी विनय और नम्रता की आवश्यकता बुद्धिमान पुरुष समझते हैं। तो फिर आध्यात्मिक क्षत्र मे तो इन गुणो की अनिवार्यता अबाधित है। सद्‌गुरु से सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिये तुम्हारे हृदय मे विनयधर्म होना अति आवश्यक है। मात्र बाह्य औपचारिकता विनय नही, परन्तु आतरिक बहुमानरूप विनय होना चाहिए। ऐसा विनय तुम्हे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की आराधना मे दिन दोगुनी रात चौगुनी प्रगति करवायेगा।

गुरु - आराधना

श्लोक गुर्वायत्ता यस्माच्छास्त्रारम्भा भवन्ति सर्वेऽपि ।
तस्माद् गुर्वाराधनपरेण हितकाङ्क्षिणा भाव्यम् ॥६६॥

अर्थ सारी शास्त्रप्रवृत्तियाँ गुरुजनो के अधीन होती हैं अत हितकाक्षी (मनुष्य को) गुरु की आराधना म उपयुक्त होना चाहिए।

विवेचन ज्ञान के गरिमामय पथ पर गुरु का स्थान अद्वितीय है। ज्ञानमार्ग की सारी प्रवृत्तियो मे गुरजनो का मार्गदर्शन अति आवश्यक होता है। सूत्रपाठ के उच्चारण में और सूत्रार्थ के अवधारण मे, शकाओ का निरावरण करने में और तात्पर्यार्थ के पर्यालोचन में गुरजन ही प्रामाणिक माने गये है। किसे कौनसा शास्त्राध्ययन करना, किसके पास करना, कब करना, कब करवाना, इन सारी बातो के निर्णायक गुरुजन ही होते हैं।

तुम्हे शास्त्रज्ञान पाना है? 'शास्त्रज्ञान के बिना आत्म-कल्याण की मगलमयी आराधना अशक्य है।' यह बात तुम्हारे दिमाग मे जची है? 'इस मानवजीवन में मुझे आत्मकल्याण करना ही है।' ऐसा तुम्हारा बडा सकल्प है ना? तो तुम्हे ऐसे गुरुजन की खोज करनी चाहिए जो तुम्हे शास्त्रज्ञान दें। शास्त्रो में कहा हुआ मोक्षमार्ग बतलाए। परन्तु गुरुजनो से 'मुझे शास्त्रो का अध्ययन करवाईये।' इतना

कहने मात्र से शास्त्रज्ञान नही मिलता । इसके लिये तुम्हे तुम्हारी योग्यता, पात्रता सिद्ध करनी होगी । गुरु की निगाहो में तुम्हे विनीत बनना होगा । गुरुजनो की दृष्टि मे तुम्हे शान्त-प्रशान्त-उपशान्त बनना होगा । तुम विनित और प्रशान्त बने कि गुरुजनो की दृष्टि मे तुम शास्त्रज्ञान पाने के लिये सुयोग्य बने, लायक बने ।

विनयगुण जब आत्मा मे आविर्भूत होगा तब तुम स्वय ही गुरु-चरणो की सेवा मे प्रवृत्त बन जाओगे । गुरुदेव के पुण्यदेह को कैसे निरामयता रहे, सुखकारिता रहे, उस ढग से तुम सेवा करोगे । वे अपने स्थान मे खड़े होगे कि तुम भी खडे हो जाओगे । वे क्या चाहते हैं, इसका ख्याल उनकी मुखाकृति देखकर ही तुम्हे आ जायेगा । वो निवासस्थान से बाहर जायेंगे तो तुम भी साथ जाओगे । वे निवास स्थान मे आयेंगे तो उनकी स्वागता करके उनके चरणो का प्रक्षालन करोगे । तुम्हे ख्याल आ ही जायेगा कि अभी गुरुदेव को शयन करना है, तुम सस्तारक [श्रमण जीवन मे सोने के लिये बिछाया जाता आसन कम्बल इत्यादि] बिछा दोगे । तुम्हे उनके सहवास मे ही मालूम हो जायेगा कि गुरुदेव की प्रकृति को कौनसे भोज्य पदार्थ अनुकूल है और कौनसे पदार्थ प्रतिकूल है, तुम उसके अनुसार ही गोचरी की गवेषणा [खोज] करोगे । तुम्हे गुरुदेव का स्वभाव का भी ख्याल रहेगा । उन्हे नापसन्द प्रवृत्ति तुम नही करोगे । तुम्हे सतत यही ध्यान रहेगा कि 'गुरुदेव को क्या प्रिय है क्या अप्रिय है', और इसी के अनुसार तुम्हारी जीवन-पद्धति बन जायेगी ।

विनय और बहुमान के दिव्य गुणों के माध्यम से तुम्हारे मतिज्ञान की वर्धाती होगी, बुद्धि भी तीक्ष्ण और निर्मल बनेगी । ऐसी बुद्धि तुम्हारी जिनशासन की आराधना मे और गुरुजनो की उपासना मे सहायक सिद्ध होगी । गुरु के मनोगत भावो को जानने में आपको विचक्षण बनायेगी वो बुद्धि ! गुरु से प्राप्य शास्त्रज्ञान को ग्रहण करने मे और समझने मे तुम्हे निपुण बनायेगी और प्रतिपल मिलती गुरुकृपा तुम्हारे ज्ञानार्जन में वृद्धि करेगी ।

इस गुर्वाराधना के रास्ते में एक भयस्थान है, वो जान लेना जरुरी है । 'गुरु हमेशा मीठे और मनचाहे शब्द ही सुनाये । ऐसी

अपेक्षा की आशा में मत फसना । कभी तुम्हारी गलती हो जाना स्वाभाविक है और उस गलती को सुधारने के लिए गुरु तुम्हे कड़ुए बोल भी सुनाए, कभी शिक्षा भी करें, उस समय यदि तुम्हारे भीतर गुरुदेव के प्रति गुस्सा भर आया तो सब मटियामेल हो जायगा । तुम उस समय शान्त बनना । तुम्हारी मुखाकृति प्रशान्त और उपशान्त बनी रहनी चाहिए । प्रशमभाव को गिरने मत देना । बस, तुम गुरु कृपा के पात्र बन जाओगे । गुरु के पुण्य-प्रकोप का यदि शान्त बनकर सहन करोगे तो प्रसन्न बने गुरुदेव तुम्हे हृदय खोल कर, सम्यग्ज्ञान की रोशनी से भर देगे ।

जब गुरुदेव तुम्हे कोई कार्य बतलाये, तुम उसका सहर्ष स्वीकार करना । निष्ठा से उस कार्य को करना । यदि उस कार्य का करने की तुम्हारी शक्ति न हो तो अत्यन्त नम्रता से हाथ जोड़कर कहना 'गुरुदेव, आपने मुझे जो कार्य बतलाया, मैं मेरा अहोभाग्य समझता हू, परन्तु मैं इस कार्य को करने मे अशक्त हू अत मुझे क्षमा करे ।' ज्ञानी गुरुदेव तुम्हारी बात सुनगे और तुम्हारे आशय को समझ पायगे ।

विनय और भक्ति से प्रसन्न बने गुरुदेव तुम्हे सबुद्ध बना देगे । श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे श्रमण भगवन्त महावीर स्वामी ने कहा है

> पूज्जा जस्स पसीयंति सबुद्धा पुव्वसथुया ।
> पसन्ना लभइस्सति विउल अट्ठिय सुय ।। अ० १ श्लोक ४६

सबुद्ध, पूर्व सस्तुत और प्रसन्न पूज्य पुरुष शिष्य को विपुल श्रुतज्ञान देते हैं ।

गुरु स्वय शास्त्रज्ञ और मर्मज्ञ होते हैं । उनके पास ज्ञान का भडार होता है । वो ज्ञानभडार प्राप्त करने के लिये तुम्हे उनको प्रसन्न करना होगा । इसके लिये तुम्हे उन पूज्यो मे रहे हुए विशिष्ट गुणो की स्तवना करनी चाहिए । मात्र अध्ययन करते समय ही नही अपितु उससे पूर्व जब गुरुदेव स्वस्थ बैठे हो किसी विशेष कार्य मे व्यग्र न हो तब उनके चरणो में बैठकर तुम्हे तुम्हारे हृदय मे रहे भक्तिभाव को शब्दो मे व्यक्त करना चाहिए । वे शब्द हृदय के सहज और स्वाभाविक उद्गार रूप होने चाहिए, बनावटी या खुशामद के

शब्दो का कोई असर नही होता । अध्ययन करते समय भी विनय से श्रुतज्ञान ग्रहण करना चाहिए ।

गुरुतत्त्व की इस तरह सर्वांगीण आराधना का पारम्परिक फल मुक्ति है । दृढ संकल्प करके आत्मार्थी-जन को गुरुआराधना में लग जाना चाहिए । उसमे स्थिर बनने के लिये तुम्हे 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के प्रथम अध्ययन 'विनयश्रुत' का बार-बार परिशीलन करना चाहिए । दशवैकालिक के विनय अध्ययन का पुनः-पुन. अनुशीलन करना होगा । इसके साथ-साथ एक सावधानी भी बरतनी होगी । अविनीतो का परिचय नही करना । अविनीतो के अविनय का अनुकरण मत करना । तुम्हारे कर्तव्य की राह मे तुम चलते रहो ।

सर्वप्रथम तो तुम्हे गुरु की पसन्दगी सोच समझ कर करनी होगी । जहाँ से तुम्हे सदैव सम्यग्ज्ञान के अमीपान मिलते रहे, सम्यग्ज्ञान और सम्यग् चारित्र की आराधना मे सतत सत्प्रेरणाए और मार्गदर्शन मिलता रहे । यदि गुरुतत्व की पसन्दगी मे उलझ गये तो यह मानव-जीवन कोडो के मोल बिक जायेगा ।

श्लोक . धनस्योपरिनिपतत्यहितसमाचरणधर्मनिर्वापी ।
गुरुवदनमलयनिसृतो वचनसरसचन्दनस्पर्श. ॥७०॥

अर्थ : अहितकारी क्रियानुष्ठान के ताप को दूर करने मे समर्थ गुरु के वदनरूप मलयाचल से निकला वचनरूप आर्द्र चन्दन का स्पर्श धन्य (पुण्यशाली) पर गिरता है ।

विवेचन : असहिष्णु शिष्य के चित्त मे कभी ऐसे विकल्प पैदा होते है : 'गुरुदेव मुझे ही क्यो डाटते है ? बात-बात मे मुझे ही क्यो टोकते है ? क्या मुझे जिन्दगी भर ऐसे ही सुनने-सहने का ? नही...मुझसे ऐसे कठोर वचन नही सहे जाते...।'

यद्यपि करुणावत ज्ञानी गुरुदेव शिष्यो की मानसिक स्थिति समझकर उसे मोक्ष मार्ग की आराधना मे प्रेरणा देते हैं, अत्यन्त कोमल शब्दो में करुणासभर हृदय से मार्गदर्शन देते है । प्रायः तो सभी शिष्यो को वह प्रेरणा-वाणी पसन्द आती है, मार्गदर्शन प्रिय लगता है, पर

जिन शिष्यो पर प्रमाद का प्रभुत्व जमा होता है, प्रिय विषयो का आकर्षण बना हुआ होता है, ऐसे शिष्य गुरुदेव की प्रेरणा को ग्रहण नही कर पाते। मार्गदर्शन के अनुसार जीवन नही जीते। वे अपने महाव्रतो को प्रमादाचरण से दूषित करते रहते है। यह स्थिति देखकर गुरु के हृदय मे ग्लानि और चिन्ता होती है मेरी शरण मे आया हुआ यह जीवात्मा इस तरह तो सयमजीवन को हार जायेगा मानव जीवन निरर्थक हो जायेगा इसका, अत मुझे उसे अहितकारी आचरण से रोकना चाहिए।' यह होती है गुरु की करुणादृष्टि। इस दृष्टि से गुरु शिष्य को प्रमाद से दूर रखने के लिये प्रेरणा देते रहते है। प्रेरणा कभी मीठे शब्दो मे भी हो सकती है कभी कटु शब्दो मे भी। कभी मे निरा वात्सल्य भी होता है तो कभी कठोरता भी दमक आती है। सहानुभूति भी छलकती है और कभी उपेक्षा भी झलकती है।

गुरु के करुणा से भरे अन्त करण को भी नही समझने वाला शिष्य, अपना आत्म निरीक्षण नही करने वाला शिष्य, गुरु के कटु और कठोर वचनो को सुनकर गुरु के प्रति नाराज होता है, गुरु पर गुस्सा करता है ऐसे शिष्य को ग्रन्थकार महामना कहते है तुम अपने आपको धन्य समझो, पुण्यशाली समझो कि तुम्हारे गुरु तुम्हे हितकारी और कल्याणकारी वचन कहते हैं। तुम योग्य हो, पात्र हो अत मैं तुमको कहता हूँ कि जिन आत्माओ का पुण्य खत्म हो गया होता है उन्हे गुरु कुछ कहते ही नहीं। मूर्ख व्यक्ति को उपदेश नही दिया जाता। तुम स्वय समझदार हो विवेकी हो अत गुरुदेव तुम्हे उपदेश देते हैं। तुम शात मन से यदि उन के प्रेरणावचनो को सुनोगे तो तुम्हे चन्दन के शीतल स्पर्श की अनुभूति होगी। गुरुजनो का वदन मलयाचल पर्वत सा है और मलयाचल पर चदन के वृक्षो की हार लगी होती है उन पर से आती हुई हवा सुगन्धित और शीतल होती है उसका स्पर्श सुखद और प्रसन्नतादायक होता है। तुम उसे ग्रहण करो। तुम्हारे मन को उस वायु का शीतल स्पर्श होने दो। मन पर से रोष और रीस के आवरणो को उतार फेंक दो। ताकि मनोभूमि उस शीतल वायु का स्पर्श पाकर प्रफुल्लित बन सके। वो स्पर्श होते ही मन की सारी गर्मी और झुलस दूर हो जायेगी। तुम प्रशमरस की अनुभूति कर पाओगे।'

गुरु के उपदेश को मन्स चन्दन की भांति बतलाकर ग्रन्थकार गर्भित रूप से गुरुजनो को भी मार्गदर्शन दे रहे हैं 'तुम्हारी वाणी, तुम्हारी बोली चन्दन की भाति शीतल होनी चाहिए।' आत्मस्नेह से छलकती वाणी शिष्य के आतर मन को स्निग्ध बनाती है। शिष्य के मनोभावों को भक्ति से आर्द्र बनाये रखती है। भक्ति से आर्द्र मनो-भावनी गुरुवाणी को सुचारुतया ग्रहण कर सकते हैं और आत्मसात् बना सकते है। कभी गुरुजनो को वाणी मे उष्णता लानी पड़े तो भी उनका हृदय तो शीतल चन्दन सा ही बना रहना चाहिए। कठोर शब्द तो मात्र अभिनय के ही शब्द हो...।

प्रतिदिन जीवन मे गुरुदेव की शीतल वाणी के अमृत घूट पीने वाले शिष्य, कभी गुरुजनो के गरम शब्दो को भी सह सकते हैं। चूकि गुरु के करुणा से गीले अन्त करण की उन्हे अच्छी पहचान हो जाती है। गुरु के अपार वात्सल्य के सरोवर मे नित्य स्नान करने वाला शिष्य कभी गुरु के बोले हुए कडुए वचनो की 'क्वीनाईन' को भी निगल जाते हैं। गुरु-शिष्य के सापेक्ष सबन्धो मे उभय पक्ष को कुछ एक सावधानियाँ बरतनी आवश्यक होती है, ऐसा परमज्ञानी पुरुषो ने मार्गदर्शन दिया है। शास्त्रज्ञान की तीव्र क्षुधा से व्याकुल शिष्य, गुरु के कठोर अनुशासन को भी मान्य करेगा ही। पैसे की कमी (Crisis) समझने वाला व्यक्ति क्रूर व्यक्ति के यहाँ भी नौकरी करने मे नही हिचकिचाता है, चूकि उसे पैसे चाहिए। अत सेठ से उसे पैसे की अपेक्षा ही बनी रहेगी और इसके लिये वो सेठ का कटु शब्दो से भरा व्यवहार भी सहन करता है। पर वो पूर्ण रूप से समर्पित तो कोमल व्यवहार वाले और उदारता से भरपूरे सेठ को ही रह सकता है। लोकोत्तर धर्ममार्ग पर चल रहे साधक तो 'तितिक्षा' को भी 'आराधना' ही समझते है। कष्टो को सहने मे उन्हे 'कर्मनिर्जरा' का महान् लाभ दिखाई देता है। फिर भी जब उनसे कष्ट सहे नही जाते तब वो आर्तध्यान मे चले जाते हैं। विकल्पो की जाल मे उलझ जाते हैं! ऐसे व्याकुल आत्मा को ग्रन्थकार आश्वासन देते हैं और गुरुतत्व के प्रति स्नेह और सद्भाव अक्षुण्ण रखने वाली दिव्य दृष्टि प्रदान करते है।

"तेरे लिये गुरुदेव के मन मे करुणा है, वात्सल्य है, इसलिये तुझे हितकारी वचन कहते है, तू अपने आपको भाग्यशाली समझ। जो जीव

पुण्यशाली नही होते उन्हे गुरु के वचन तो क्या, दर्शन भी नही मिलते। जो दर्शन पाते भी हैं, वे सभी गुरु का उपदेश नही पा सकते। जो उपदेश भी पाते हैं वो लोग गुरुकृपा प्राप्त करें ही ऐसा नही होता। तू धन्य है, तुझे गुरुकृपा मिली है, अन्यथा गुरुदेव क्या तुझे कटु शब्दों से समझायें ?

आत्मा का अहित करने वाली मन-वचन-काया की प्रवृत्तिओं को गुरु के बिना कौन समझाय ? संसार के स्नेही स्वजन और मित्रों को तुम्हारे आत्महित मे कोई निशेष लेना देना नही है। उनका तो अपना इहलौकिक भौतिक हित-अहित से सम्बन्ध है। पारलौकिक आत्महित का विचार तो मात्र निस्वार्थ करुणावंत गुरजन ही करते हैं।

श्लोक दुष्प्रतिकारौ मातापितरौ स्वामी गुरुश्च लोकेऽस्मिन ।
तत्र गुरुरिहामुत्र च सुदुष्करतरप्रतिकार ॥७१॥

अर्थ इस लोक में माता पिता स्वामी (राजा वगैरह) और गुरु दुष्प्रतिकार्य हैं उसमें भी गुरु तो इस लोक में और परलोक में अत्यन्त दुर्लभ प्रतिकार्य है।

विवेचन उपकारी के उपकारों को माने बिना धर्मक्षेत्र में जीवात्मा का प्रवेश ही नही हो सकता। परस्पर जीवों के उपकार के बिना जीवन की कल्पना भी नहीं हो सकती है। कृतज्ञ हृदय में तो ये ही विचार घूमते रहते हैं मेरे पर किन किन के उपकार हैं? मैं उन उपकारों का बदला कैसे चुकाऊँगा?' अपने उपकारिओं के प्रति उसके हृदय में स्नेह का झरना बहता रहता है आदरभाव का अमृत बरसता रहता है।

जीवन के प्रारम्भ से ही उपकार प्रारम्भ होते हैं। जीवन का प्रारम्भ होता है माता के उदर में। माता को ज्यों ही पता चलता है कि 'मेरे उदर में कोई जीवात्मा आया है' और उस आये माता का हृदय प्रेम से भर आता है। वो अपना समूचा जीवन-व्यवहार इस तरह से बनाती है ताकि नये आये हुए जीव को किसी भी तरह की पीड़ा या वेदना न हो! नौ-नौ महिना तक उदर में आये उस जन्म-जन्म के अज्ञात यात्री का पालन पूरी सावधानी के साथ करती है। जब वो संसार का यात्री उदर से बाहर निकलता है अर्थात जब जीवात्मा का

जन्म होता है तव माता अपने सारे कार्य छोडकर उस प्रवासी को 'पुत्र' या 'पुत्री' के रूप मे निहारता है। असीम स्नेह से उसे आप्लावित वनाती रहती है। अपने वात्सल्य का अमीपान करवाती है। उसके गन्दे शरीर को नहलाकर स्वच्छ वनाती है, उसे खिलाती है, पिलाती है, अपने सीने से चिपकाये उसे सुलाती है। उसका लालन-पालन करती है। माता का यह कितना महान् उपकार है सतानो पर! इस तरफ गम्भीरता से ग्रन्थकार महर्षि सोचने का निर्देश दे रहे है। उन उपकारो के साथ ही पिता के उपकार सलग्न है। वात्सल्य से भरा हुआ आर्यदेश का पिता अपने सन्तानो के निर्वाह के लिये, उनके लालन-पालन के लिये, जीवनयापन हेतु, शिक्षा और सस्कार के लिये कष्टो को झेलता हुआ भी प्रयत्नशील रहता है। ससार का तमाम जीवन-व्यवहार अर्थ व्यवस्था पर आधारित है। अपने परिवार के जीवन-निर्वाह और जीवन-विकास के लिये अर्थोपार्जन का पुरुपार्थ करता है। परिवार के सुख-दु.ख का वो सहभागी होता है। इस तरह पिता के उपकारो से सन्तान सदैव उपकृत ही रहते है।

वाह्य जीवन के विकास और पवित्रीकरण मे तीसरा उपकारक तत्व है सत्ता के सिंहासन पर वैठे हुए प्रजावत्सल सत्ताधीश। वो राजा हो या मन्त्री! राष्ट्रप्रमुख हो या प्रधानमन्त्री हो। यदि वे प्रजा के दु ख एव प्रजा की समस्याए हल करने के लिये सतत प्रयत्नशील है तो वे उपकारी हैं। हमें चाहिए कि हम उनके उपकारो को भूले नही। जो दु खो को दूर करते है और सुख देते है वे उपकारी हैं। माता–पिता और शासक वगैरह भौतिक दृष्टि से उपकारक है, जवकि धर्मगुरु पारलौकिक दृष्टि से, अध्यात्मिक दृष्टि से उपकारी वनते है। उपकारी की कभी अवगणना तो करनी ही नही चाहिए। इन सारे उपकारियो के उपकारो का वदला चुकाया नही जाता, फिर भी कृतज्ञ मनुष्य उसको चुकाने के लिये जाग्रत होता है, उद्यमशील वनता है।

माता, पिता, मालिक, राजा वगैरह का उपकार असीम है, तुम उसका वदला कितना चुकाओगे? वे प्रत्युपकार के रूप में वदला चुकाने का प्रयत्न करेंगे। परतु वे जो उपकार करते है, कोई उपकार के वदले के रूप मे नही, परन्तु सहज प्रेम से...और वात्सल्य से, करुणा से और

कतव्य से उपकार करते है, चाहे सन्तान बडे होकर माता पिता की भक्ति भोजन, वस्त्र, शरीरसेवा इत्यादि से करे, परतु माता-पिता के उपकारो की तुलना उससे हो ही नही सकती। नौकर चाहे अपने मालिक के लिए जान भी दे दें पर फिर भी मालिक के उपकारो का पूणतया बदला नही चुकाया जाता।

फिर भी, इन भौतिक उपकारो का तो थोडा बहुत भी बदला चुकाने का सतोष मिल सकता है, पर गुरु के उपकारो का बदला चुकाना तो शक्य ही नही है। किसी तरह के स्वाथ के बिना, प्रत्युपकार की अपेक्षा के बिना, बिना किसी आशा आर कामना के, केवल करुणा से भरे हृदय और वात्सल्यता से भरे अत करण से जो आध्यात्मिक उपकार करते है, उन उपकारो का मूल्याकन नही हो सकता। वो तो अमूल्य है। व जो समाग का उपदेश देते है, शास्त्रो का ज्ञान देते ह आर भवसागर से पार उतरने का पुरुषाथ करवाते है, ये उपकार सामान्य नही है। असाधारण हैं। योगीश्वर आनदघनजी परमात्मा सभवनाथ की स्तवना करते हुए कहते ह

'परिचय पातक घातक साधुशु,
अकुशल अपचय हेत'

साधु पुरुषो का परिचय जन्म-जन्म के पापा का नाश करता है। अशुद्ध चित्त को शुद्ध बनाता है। भक्ति कवि तुलसीदास की यह पक्ति 'तुलसी सगत साधु की, कटे कोटि अपराध' कितनी मार्मिक है। आनदघनजी तो कह रहे हैं साधु पुरुषो का परिचय पापनाश आर चित्तशुद्धि, इन दो महान् उपलब्धियो का प्रमुख कारण है। ऐसी दुलभ उपलब्धियां कराने वाले गुरुजनो के प्रति अखड आदर बहुमान बना रह तो जन्मातर म परमगुरु (परमात्मा) की प्राप्ति भी हो जाती है। गुरुबहुमान परमगुरु की प्राप्ति का बीज है। गुरुबहुमान से ऐसी पुण्य-सपत्ति मिलती है और उस पुण्य सपत्ति के बल पर मनुष्य सवज्ञ परमात्मा का परिचय पा सकता है। वो परिचय सफल बन जाता है। मोक्ष की प्राप्ति में सहायक सिद्ध होता है। परम सुख और परम आनन्द की प्राप्ति करवाता है।

महान् श्रुतधर आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी कहते है : **'भवक्षय का असाधारण कारण है मेरे यह गुरु !'** ऐसे सुष्ठु चित्तपरिणाम गुरु के प्रति सच्चे वहुमान का सूचक है। शिष्य सदैव परम उपकारी गुरुदेव के गुणो का दर्शन करे। गुणो का स्मरण करे। उनके गुणमय व्यक्तित्व के प्रति अहोभावयुक्त वने। इस तरह मोक्षवीज का सग्रह करे। गुरु के उपकारो को भक्ति भरे अतःकरण मे वसाए रखे। मोक्षमार्ग की आराधना-यात्रा मे गुरुतत्व की महत्ता समझने वाला शिष्य कभी भी गुरुतत्व का अनादर न करे। हालाँकि, गुरु का पुण्यप्रकर्ष ही ऐसा होता है कि शिष्यजन उनके चरणकमलो मे भ्रमर वनकर गुजन करते रहे। गुरु के चन्द्रवदन की सौम्यता ही इतनी आकर्षक होती है कि शिष्यो के मनमयूर उनके चरणो मे नृत्य करते ही रहे। गुरु के अनत लोकोत्तर उपकारो का वदला चुकाने के लिये शिष्य सदैव तत्पर वना रहता है। चाहे क्यो न गुरु दुष्प्रतिकार्य हो, फिर भी कृतज्ञ शिष्य मन, वचन, काया से प्रत्युपकार करने के लिये तत्पर वना रहे। विनय और वहुमान को सदैव अन्त स्थ वनाकर गुरु की आराधना मे डूवा रहने वाला शिष्य कैसी दिव्य आत्मसपत्ति प्राप्त करता है, यह वात ग्रन्थकार स्वय ही अव वतला रहे है।

सर्व कल्याण का मूल : विनय

श्लोक : विनयफलं शुश्रूषा गुरुशुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम् ।
ज्ञानस्य फलं विरतिर्विरतिफलं चाश्रवनिरोधः ।।७२।।

संवरफलं तपोवलमथ तपसो निर्जराफलं दृष्टम् ।
तस्मात्क्रियानिवृत्ति क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ।।७३।।

योगनिरोधाद् भवसन्ततिक्षय. सन्ततिक्षयान्मोक्ष. ।
तस्मात्कल्याणनां सर्वेषां भाजनं विनय ।।७४।।

अर्थ . विनय का फल श्रवण, श्रवण (गुरु के समीप किया हुआ) का फल आगमज्ञान, आगमज्ञान का फल विरति (नियम), विरति का फल सवर (आश्रव निवृत्ति) [७२]

संवर का फल तपशक्ति, तप का फल निर्जरा निर्जरा का फल
क्रिया निवृत्ति, क्रियानिवृत्ति से योगनिरोध [७३]

योगनिरोध होने से भवपरंपरा का क्षय होता है परंपरा (जन्मादि की) के क्षय से मोक्षप्राप्ति होती है इसलिए सारे कल्याणों का (पारम्परिक) भाजन विनय है।

विवेचन अब और तुम्हें क्या सुनना है? परनिंदा के पारायण बहुत सुने उससे ऊब गये हो न? स्वप्रशंसा की बहुत सारी प्रशस्तियाँ सुन ली, अब तो संतुष्ट हो गये हो न? परपुद्गल, परभावों की बहुत कथा वार्ताएँ सुनी, अब तो तृप्त हो गये हो ना? यह सब सुनकर कैसे कैसे कर्म बाँधे हैं यह कभी सोचा भी है तुमने? इसका क्या दुष्परिणाम आयेगा, इसकी चिंता हुई है तुम्हें? बहुत हो गया अब बंद करो ऐसा सब सुनने का। अब तो ऐसा श्रवण करो कि अंतःकरण तत्त्वप्रकाश से आलोकित बने। ऐसा सुनो कि अंतरात्मदशा प्रकट हो जाय। ऐसा श्रवण करो कि अनंत-अनंत कर्मों की निर्जरा हो जाये।

ऐसा तत्त्वश्रवण तुम्हें ज्ञानी गुरुदेवों के चरणों में विनयपूर्वक बैठकर करना होगा। बस, तुम तो गुरुदेव पर विनय का जादू कर दो उनके मुँह से ज्ञानगंगा बहने लगेगी विनय से प्रसन्न बने गुरुदेव तुम्हें अगम अगोचर की बातें सुनायेंगे, शक्कर और गन्ने के रस से भी ज्यादा मधुर गुरुवाणी, तुम्हारे अन्तःकरण में भरी विषयकषाय की कटुता दूर कर देगी। तुम्हारा विनयभरा और बहुमानभरा व्यवहार तुम्हें धर्मश्रवण की योग्यता-पात्रता प्रदान करेगा। तुम गुरुजनों से अनेक शास्त्रों का गहन ज्ञान पा सकोगे। एकाग्रचित्त बनकर जिज्ञासापूर्ण हृदय से और ज्ञानप्राप्ति के उत्साह से तुम शास्त्रों के शब्दार्थ ही नहीं अपितु शास्त्रों की दोनों का गूढ़ रहस्य भी पा लोगे। तुम्हारे विनय से खुले हुए गुरु के हृदयद्वार से ऐसी अनूठी और अपूर्व, गम्भीर और रहस्यपूर्ण बातें तुम्हें मिलेंगी कि उन्हें पाकर तुम्हारा रोयां रोयां प्रसन्नता से खिल उठेगा।

अविनीत शिष्य के आगे गुरु के अंतःकरण के द्वार खुलते ही नहीं। शास्त्रों की रहस्यभूत बातें हृदय में आती ही नहीं। मात्र पाठ्य-पाठन करने के लिए ही ऐसे अविनीतों को गुरु ज्ञान देते हैं।

शास्त्रज्ञान की रोशनी मे तुम हेय, ज्ञेय और उपादेय तत्त्वो को पहचान लोगे। 'मुझे किसका त्याग करना चाहिए? मुझे किसको स्वीकार करना चाहिए? मुझे किसकी जानकारी पानी चाहिए?' यह समझ मिलेगी शास्त्रज्ञान के खजाने मे से। जो अहितकारी तत्त्व है उसे उसी रूप मे शास्त्र समझाते है, जो हितकारी है उसे उसी रूप मे वतलाते है शास्त्र !

विनयपूर्वक सद्गुरु से प्राप्त किया हुआ शास्त्रज्ञान मनुष्य की सुपुप्त चेतना को झकझोरता है। उसकी अन्तरात्मा को स्पर्श करता है। पोथी-पडित वनने मात्र से ज्ञान की उपलब्धि नही होती है। विनय से प्राप्त ज्ञान मस्तिष्क मे ही नही ठहरता अपितु हृदय की कोमल भूमि मे वह ज्ञानवारि पहुँचता है और उसमे एकरस वन जाता है। त्याज्य को त्यागने की भावना मात्र जाग्रत होकर ठहर नही जाती परन्तु त्याज्य का त्याग करवा कर ही विराम पाती है। स्वीकार्य को स्वीकारने की भावना मात्र भावना ही नही रहती परन्तु कार्यरूप मे परिणत हो जाती है। आत्मा का सकल्पवल जाग्रत होता है। पापो के त्याग का दृढ सकल्प करती है वो आत्मा! प्रतिज्ञा के माध्यम से आश्रवो के द्वार वन्द हो जाते है।

पापो से विराम पाना, उसका नाम विरति। पापो मे किसी भी प्रकार की रति नही। खुशी नही। हिंसा, झुठ, चोरी, अब्रह्मसेवन और परिग्रह इन पाँचो महापापो का वो जीवात्मा मन, वचन और काया से त्याग करता है। इस विरतिधर्म का फल है आश्रवरोध। यद्यपि विरति का स्वरूप ही आश्रव के निरोधरूप है परन्तु यहाँ ग्रन्थकार ने आश्रवो के निरोध को विरति के फलरूप वताया है। यह ग्रन्थकार की अपनी एक दृष्टि है। विरतिधर्म स्वीकार किया यानी अविरति का दरवाजा वन्द हो जाता है। विरतिधर्म का प्रभाव कषायो के प्रभाव को क्षीण कर देता है। मन-वाणी और वर्तन की प्रवृत्तियाँ शुभ वनती है और प्रमाद का उन्माद गलने लगता है।

इस तरह आश्रवो के द्वार वन्द हो गये, नये कर्मो का आत्मा मे प्रवेश नहीवत् वना, अत तप शक्ति का आविर्भाव होता है। आत्मा मे से तपश्चर्या की शक्ति स्वयभू पैदा होती है, चु कि अनत अनत कर्म

जो आत्मा को चिपके हुए ह उन कर्मों का नाश तपश्चर्या से ही हो सकता है। नये कर्मों का आत्मा मे प्रवेश रुक जाने के बाद पूर्वप्रविष्ट कर्मों का आमूल्चूल नाश करने के लिये तपश्चर्या ही सक्षम है।

बडी महत्वपूर्ण बात मिलती है यहाँ। सर्वप्रथम नये कर्मो का आत्मा म प्रवेश रोकना होगा, बाद मे प्रविष्ट कर्मो का नाश करना होगा। यदि नये कर्म आत्मा मे आते रहेगे और चाह कितनी ही तपश्चर्या क्या न की जाय पर उसमे कोई विशेष लाभ नही होगा। उस तपश्चर्या से जितने कर्म जलते है, उससे कई ज्यादा कर्म आत्मा म आश्रवो के द्वार से आ जायेग! कर्मक्षय करने की बजाय कर्मबध ज्यादा होगा। 'लेने गयी पूत और खो आयी खसम!' वाली बात हो जायेगी। क्या तुम्हे तुम्हारी तप शक्ति को जाग्रत करना ह? तपश्चर्या करने का भावोल्लास पैदा करना है। तो तुम्ह आश्रवो के द्वार बद करने होंगे। आश्रवो के द्वार बद होते ही तप शक्ति आपोआप जाग्रत हो जायगी। चूकि सवर का फल तपोबल है। यदि तुम्ह कर्मनिर्जरा करनी है तो तपश्चर्या करनी ही होगी। निर्जरा का असाधारण कारण तपश्चर्या ह। बाह्य-आभ्यतर तपश्चर्या से प्रतिसमय अनत अनत कर्मो का नाश हो जाता ह। कर्मनिर्जरा की तीव्राकाक्षा स अभिभूत उपाध्याय श्री विनयविजयजी तपश्चर्या के चरणा मे भावविभोर बनकर वदना कर रह ह!

निकाचितानामपि कर्मणा यत गरीयसा भूधरदुर्धराणाम ।
विभेदने वज्रमिवातितीव्रम नमोऽस्तु तस्मै तपसेऽद्भुताय ।।
[शात सुधारस]

तप शक्ति का कितना अदभुत परिचय द रह है। विराट पर्वत जस भारी और निकाचित कर्मों को भी, अत्यन्त तीक्ष्ण वज्र की भाति तपश्चर्या तोड फोड देती है। ऐसे अदभुत तप को नमस्कार हो!

निराशस भाव से, किसी भी तरह की आशसा-कामना-तृष्णा किय बिना किया हुआ तप आत्मा मे कितना अद्भुत परिवर्तन करता है! उसका वर्णन इन्ही उपाध्यायजी ने किया है

शमयति ताप गमयति पाप रमयति मानसहसम् ।
हरति विमोह दूरारोहम् तप इति विगताशसम ।।

तपश्चर्या मे कर्मों की निर्जरा होती है। यानी क्या होता है, इसका सुन्दर चित्रण उपाध्यायजी ने किया है। 'विषयतृष्णा और कषायो के कडे ताप शान्त हो जाते है। जीवन निष्पाप बनता जाता है। मनोहर आत्मभाव मे झूमता रहता है और मिथ्या व्यामोह दूर होता है, बशर्ते कि वो तप निराशंस-भाव से किया जाय।

आकाश मे घनघोर बादलो की घटाए छायी हो और जोर-शोर से गर्जना होती हो परन्तु हवा के तीव्र आघात से घनघोर बादल बिखर जाते है! आत्मा पर चाहे क्यो न अनत अनंत कर्मों की पर्ते चढी हों परन्तु तुमने घोर-वीर और उग्र तपश्चर्या का सहारा लिया कि कर्मों की सारी पर्ते कट जायेगी। इस को कहते है निर्जरा! तपके बारह प्रकार है, अतः निर्जरा को भी बारह प्रकारो मे बांट दिया गया है। बारह प्रकार के तप को Team Power से सामुहिक रूप से कार्य मे लगा दो, कर्मों की जडों [Roots] को आत्मभूमि मे से उखाड़ उखाड कर फेंक देगा यह तप! बाह्य-आभ्यतर तप मे से जिस समय जिसको उतारना हो मैदान मे, उतारते रहो! तुम्हारे पास एक वेधक दृष्टि चाहिए, कि किस तप को कब और कहाँ तक उपयोग मे लाना। लक्ष्य चाहिए कर्मों की जड़ों को उखाड फेकने का।

'सवर' से नये कर्मों का आत्म-प्रवेश बद कर दिया और 'निर्जरा' मे पूर्व प्रविष्ट कर्मों को साफ कर दिया, यानी मन-वचन और काया की प्रवृत्तियाँ बद हो गयी। जहाँ तक आत्मा के साथ कर्मों का सयोग है वहाँ तक ही मन-वचन-काया की क्रियाएँ होती है। कर्मों के नष्ट होते ही क्रियाएँ विराम पा लेगी। आत्मा, मन-वचन और काया की प्रवृत्तियों मे से मुक्त बन जायेगी, आत्मा पूर्ण स्वाधीन बन जायेगी। अलबत्ता, 'क्रियानिवृत्ति' से जो 'योगनिरोध' होता है उसकी भी एक प्रक्रिया होती है। अल्प समय की वह प्रक्रिया सहज भाव से होती है और आत्मा 'अयोगी' बन जाती है। अयोगी को मन के विचार नही, वचन की प्रवृत्ति नही, काया की प्रवृत्ति नही। आत्मा को अब इन उपकरणो की आवश्यकता ही नही। मन-वचन और काया के किसी भी प्रकार के सहयोग के बिना आत्मा का स्वतत्र जीवन! ऐसा जीवन है! आत्मा की अनत शक्तियाँ प्रगट हो जाने के बाद उन्ही शक्तियाँ, गुणो और पर्यायो का ही स्वतत्र-स्वाधीन जीवन! ऐसे जीवन की उपलब्धि के

बाद फिर कभी अनंतकाल में भी मन, वचन, काया का जीवन जीना नहीं। समग्र भवपरंपरा का अंत आ जाता है। उसे 'निर्वाण' कहते हैं। निर्वाण के पश्चात नहीं तो जन्म और नहीं मृत्यु! जहाँ तक आत्मा काया के बंधनों में जकड़ी हो तभी तक जन्म और मृत्यु होती है। काया का बंधन सर्वथा टूट जाने के बाद अजर और अमर बन जाती है आत्मा।

सभी कर्मों का क्षय हो गया, अर्थात मोक्ष की प्राप्ति हो गयी, कभी भी विनाश नहीं पाने वाले अनंत आत्म गुणों का आविर्भाव हो जाता है आत्मा में। गुणों से भरपूरा जीवन! पूर्णानंदी जीवन! अनंत अव्याबाध सुख का जीवन!

एक के बाद एक सभी कल्याणों की प्राप्ति कराने वाला विनय है। गुरुमुख से तत्वश्रवण, आगमज्ञान, सभी पापों से विरति, आश्रवों का निरोध, तप शक्ति, कर्मनिर्जरा, क्रियानिवृत्ति, योगनिरोध और भवपरंपरा का अंत, इन सभी कल्याणों का भाजन है विनय।

माषतुष मुनि, कि जो महात्मा का पद भी याद नहीं रख पाते थे उन्हें केवलज्ञान मिल गया था, यह तो मालूम है ना? क्या था उनके पास? एक मात्र विनय! बारह बारह साल तक गुरुदेव ने उनको 'मा रुष मा तुष' का पद रटाया। भूल सुधारते रहे। वो मुनि कभी भी उकता के निराश नहीं बने। बार बार भूल बताने वाले गुरु के प्रति कोई अरुचि या द्वेष नहीं। 'मुझे याद नहीं रहता, मैं तो याद नहीं करूंगा, मुझे बार बार कहना नहीं।' ऐसी स्पष्ट बात करने का अविनय भी उन महामुनि ने नहीं किया। पाठ का पद याद न रहे पर समग्र आगम-ग्रंथों का सार 'राग नहीं करना, द्वेष नहीं करना,' यह भावात्मक ज्ञान उन्होंने गुरुदेव से ऐसा पा लिया कि उन्होंने कभी द्वेष नहीं किया। कभी राग नहीं किया। पापों से वे विमुख बन गये थे। आश्रवद्वारों को बंद कर दिया था। तप शक्ति प्रकट हुई। कर्मों की निर्जरा होने लगी और उन्होंने घाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान पा लिया। अघाती कर्मों का क्षय करके मोक्ष पा लिया। इस श्रेष्ठ कल्याण की प्राप्ति का मूल कारण क्या था? विनय।

गुरुतत्व की आराधना विनय से ही होती है। विनयवंत शिष्य ही गुरु के चित्तको प्रसन्न करके आगमज्ञान पा सकता है। यदि तुम्हें निश्रेयस पद के मार्गदर्शक [Guide] गुरु भगवंतो का साथ सहयोग लेना है तो तुम्हें सुविनीत बनना होगा। गौरवशाली गुरुदेव के प्रति आंतर बहुमान चाहिए ही। उनकी शरणागति तुम्हें स्वीकारनी ही होगी। उनके पावन चरणों में तुम्हें तुम्हारा सर्वस्व समर्पण करना होगा। तुम्हें तुम्हारी समग्रता से उनके चरणों में समर्पित बनना होगा।

अविनीतों का पतन

श्लोक : विनयव्ययेतमनसो गुरुविद्वत्साधुपरिभवनशीलाः।
त्रुटिमात्रविषयसंगादजरामरवन्निरुद्विग्नाः ॥७५॥

अर्थ : विनयरहित मन वाले, गुरुजन, विद्वज्जन और साधु पुरुषों का अनादर करने वाले [जीव] अति अल्प मात्र विषयासक्ति से अजर-अमर की भांति उद्वेगरहित होते हैं।

विवेचन : 'अब मुझे शब्द-रूप-रस-गंध और स्पर्श में राग नहींवत् है, किसी भी तरह की गाढ विषयाशक्ति नहीं है, अब मेरी भवभ्रमणा मिट गयी। अब मेरे लिए कुछ भी प्राप्य शेष नहीं है, जो कुछ भी पाने जैसा था, सब मैंने पा लिया है। साधना के शिखर मेरे कदमों में झुके हैं।' साधनाकाल की इन सिद्धियों की कल्पनाजाल को बुनता हुआ मूढ जीवात्मा निश्चित और निर्भय बनकर जब जिन्दगी का सफर तय करने लगता है तब वो मिथ्याभिमान की गहरी खाई में धंसता चला जाता है।

विनयरहित, बहुमानरहित जीवात्मा मोक्षमार्गप्रदर्शक आचार्य की अवगणना करता है। चौदहपूर्वधर महर्षि, दशपूर्वधर का और ऐसे बहुश्रुत ज्ञानी पुरुषों का अपमान करता है। मोक्षमार्ग की आराधना में अविरत यत्नशील साधु-पुरुषों का अनादर करता है। न तो उन महात्माओं के चरणों में वंदना करता है, नहीं उनका स्वागत-सन्मान करता है। उनकी सेवा-भक्ति नहीं करता है। उत्तम पुरुषों की अवगणना और अवहेलना करना मानो कि उनका स्वभाव बन गया हो!

ऐसे अविनीत लोग अपना आंतरनिरीक्षण तो करते ही नहीं! थोड़ा भी वैषयिक सुखों का राग जीवात्मा को दुर्गति में कितनी बुरी हालात में खींच ले जाता है, इसका तो उन्हें ध्यान ही नहीं रहता। यौवन का उन्मत्तता उन्हें यह भी नहीं सोचने देती कि 'वृद्धावस्था बाहें पसारे खड़ी है। मौत अपनी मुट्ठी खोले राह देख रही है, वे तो अपने आपको अजर-अमर ही समझते हैं! 'अब मुझे वृद्धत्व आयेगा ही नहीं! मेरी मौत होगी ही नहीं।' ऐसा समझकर ही जीवन जीते हैं।

ऐसे उन्मत्त, मिथ्याभिमान में चूर बने अविनीत पुरुषों के लिये यह उपदेश है ही नहीं। उन्हें उपदेश देने की ज्ञानी पुरुष स्पष्ट मना कर रहे हैं, परंतु जो आत्माएँ अपना शुद्ध स्वरूप निहारना निखारना चाहती हैं जो व्यक्ति साधना-आराधना के राह पर आगे कदम बढ़ाना चाहते हैं, उन्हें ग्रन्थकार एक भयस्थान बता रहे हैं आराधना की राह पर आगे बढ़ते हुए, थोड़ी बहुत धर्म-आराधना करके, अल्पमात्रा में विपयासक्ति होने मात्र से, ऐसी मान्यता की मायामरीचिका में मत उलझ जाना कि 'अब तो मैं पूर्ण हो गया! अब मुझे गुरु की जरूरत नहीं है अब मुझे ज्ञानी पुरुषों के मार्गदर्शन की जरूरत नहीं है, अब मुझे साधु पुरुषों के सहवास की आवश्यकता नहीं है।' यदि ऐसी मान्यता के शिकार बन गये तो शायद तुम उत्तम साधक पुरुषों की अवहेलना कर दोगे। स्वात्कर्ष और परापकर्ष साधक आत्मा का पतन की गहरी गर्ता में पटक देता है। तुम जिस कक्षा में नहीं पहुँच पाये हो ऐसी उच्च आत्मस्थिति वाले, ज्ञानी ध्यानी आत्मा के बराबर अपने को समझ लिया तो तुम भूल पड़ जाओगे। विनय का भाव चला जायेगा। अविनय की आग में तुम्हारे आत्मगुण झुलसने लगेंगे। आदर और बहुमान के ऊँचे भाव नष्टप्राय हो जायेंगे। अनादर और अभिमान तुम्हारे जीवन का बरबादियों की ओट में ले जायेंगे।

निराकुल, उद्वेगरहित स्थिति विनीत आत्मा की भी होती है, परन्तु उन उत्तम आत्माओं की मस्ती का गान अलग ही होता है। आनन्द-घनजी ऐसी ही मस्ती के महासागर में निमग्न बनकर गाते थे

'अब हम अमर भये न मरेंगे।' यह कोई मिथ्याभिमान से भरी कसक नहीं है। यह तो आत्मा के शुद्ध, बुद्ध मुक्त स्वरूप के संवेदनात्मक

ज्ञान की अभिव्यक्ति है। 'मेरी आत्मा तो अपने शुद्ध स्वरूप में अजर है, अमर है, जन्म और मृत्यु तो कर्मजनित है।' यह दिव्य ज्ञान जब आत्मा में जाग्रत होता है तब अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है और उस आनन्द के उदधि में डूबे रहकर ही आत्मा की आवाज गूंज उठती है: 'अब हम अमर भये न मरेंगे।'

ऐसे विनीत भावुक आत्मा तो इस तरह का दिव्य ज्ञान, दिव्य दृष्टि देने वाले गुरुजनों के प्रति, ज्ञानीपुरुषों के प्रति और साधुजनों के प्रति अनहद प्रीति एवं आदरभाव वाले होते हैं। 'यह सारा ज्ञान इन कृपावन्त गुरुजनों की कृपा का फल है।' इस तरह के कृतज्ञभाव से उसका हृदय भरा हुआ रहता है, इस तरह के आदरभाव और कृतज्ञ-भाव वाले पुण्यात्मा उन गुरुदेवों की, साधुजनों की और ज्ञानीपुरुषों की सेवा–भक्ति करना कैसे भूल सकते हैं? उन्हें तो सेवा-भक्ति के अवसर की तीव्र चाहना बनी रहती है।

अविनीत शिष्य जो कि निश्चिंत एवं निराकुल बनकर घूमते–फिरते हैं, उनकी मस्ती आराधना की नहीं परन्तु अहंकार से भरी होती है! जैसे कि मौत पर विजय पा लिया हो, ऐसे मद में चकचूर बनकर वो भी गाते रहते हैं. 'अब हम अमर भये न मरेंगे।'

अमर और अजर बने हुओं को फिर गुरुजनों की जरूरत ही क्या है? ज्ञानीपुरुषों की क्यों परवाह हो? साधुजनों की क्या कीमत उनकी निगाहों में? फिर क्यों इनका आदर करें? अनादर! अनौचित्य! और उद्धताई! शब्द-रूप-रस और गंध-स्पर्श के विषयों का थोड़ा बहुत त्याग किया कि बस—उन्हें पूर्णता मिल गई! वो अपने आपको सर्वज्ञ-वीतराग ही मानते हैं। ऐसे मूढ जीवों का कितनी बुरी हालात में पतन होता है इसका वर्णन अब ग्रन्थकार करने जा रहे हैं।

श्लोक. केचित्सातर्द्धिरसातिगौरवात् सांप्रतेक्षिणः पुरुषाः।
मोहात्समुद्रवायसवदामिषपरा विनश्यन्ति ॥७९॥

अर्थ: शाता, ऋद्धि और रस में अति आदर के कारण केवल वर्तमान काल को ही देखने वाले पुरुष [परमार्थ को नहीं समझने वाले] अज्ञान से [अथवा मोहनीय कर्म के उदय में] समुद्र के कौए की भांति मांसलोलुपी, [ऐसे वे] विनाश पाते हैं।

विवेचन ऐश आराम !
वैभव सपत्ति !
और खानपान !

जिन्दगी मे यही दृष्टिबिन्दु ! यही लक्ष्य और यही ध्येय ! मात्र वर्तमानकाल का ही विचार ! शरीर की सुखाकारिता का विचार, वैभव और संपत्ति का विचार ! रसनेन्द्रिय के प्रिय रसो का ही विचार ! यही विचार और यही आचार ! भविष्यकाल का कोई विचार ही नही ! मृत्यु के बाद के जीवन का कोई विचार ही नहीं।

विचार आये भी कैसे ? जहा प्रगाढ अज्ञान का अधकार छाया हो, तीव्र राग-द्वेष के ज्वार उछल रहे हो वहा परलोक का विचार आये भी कैसे ? रागद्वेष और मोह के प्रबल प्रभावतले जीव मात्र वर्तमान काल का ही विचार कर सकता है। वर्तमान काल के विचारो में भी मुख्यतया निम्न ३ विचार ही होते हैं।

१ शरीर को सुगन्धी जल से नहलाना, सुगन्धी पदार्थों से महकाना, मनचाहे रगबिरगी वस्त्रो से शरीर को सजाना प्रिय और सुन्दर अलकारो से उसे सवारना, शरीर को कष्ट हो ऐसा कुछ भी नही करना, ज्यादा से ज्यादा आराम करना, पाच इन्द्रियो के प्रिय विषयोपभोग करके शरीर को सुख देने का सतत प्रयत्न करना। शरीर की सारी सुख-सुविधाए जुटाना, यही वृत्ति और इसी प्रवृत्ति मे वो डूबा रहे।

२ दुनिया की निगाहो मे ऊँचे उठने के लिये वैभवो का प्रदर्शन करता रहे। 'मैं सपत्तिशाली हूँ, वैभवशाली हूँ,' इसी दिखावे मे उसकी तमाम प्रवृत्तियाँ केन्द्रित रहे। हमेशा भव्य दीर दिमाग मे दूसरो को चकाचौंध करने के लिये ही तत्पर बना रहे। हालाँकि उसके पास एम वैभव न भी हो, पर वैभवशाली दिखाने की उसकी चेष्टा अनवरत बनी रहती है।

३ दिन रात अच्छे-अच्छे मनचाहे, स्वादिष्ट, मीठे, तीखे, खारे रसास्वाद में लीन बना रहे, कोई क्रम नही, कोई नियम नहीं, भक्ष्य

अभक्ष्य का विवेक नही, दिन-रात का भेद नही, भिन्न-भिन्न प्रकार की मिठाईयाँ, अनेक प्रकार के व्यजन, अनेक तरह की चाटे, नमकीन और अलग-अलग तरह के शरबतो की महफिलो मे झूमता रहे...। इस तरह के उत्तेजक खानपान से हृष्ट-पुष्ट बने शरीर मे विषयवासना की आग धधक उठे तो फिर रूपसुन्दरियों के रूप निहारने में उसकी आँखे घूमती फिरे। उस रूप को पाने के लिये वो तड़फता रहे और वासना की आग मे उसका सर्वस्व स्वाहा बन जाये, सर्व विनाश हो जाय ! एक छोटी सी कहानी मे यह सारी बाते काफी स्पष्ट हो जायेगी।

समुद्र के किनारे एक मरा हुआ हाथी पडा था। गीध और चीलो ने उसके शरीर को क्षत-विक्षत कर दिया था। एक कौए को हाथी का मास खाने की प्रबल इच्छा हुई। उसे तो ताजा मास खाना था ! वो हाथी के शरीर के अन्दर घुस गया...और अन्दर बैठकर मजे से मास खाने लगा। इतने मे दरिये में अचानक जोरो का ज्वार आया। इधर आकाश मे से मूशलाधार बारिश होने लगी। हाथी का शरीर समुद्र मे बह गया। कौआ तो अपने आपको सहीसलामत समझता है हाथी के शरीर के भीतर ! मांस खा-खा कर जब वो तृप्त बन गया तो बाहर निकला, परन्तु चारो तरफ समुद्र के उछलते मौजो की बोछार ! वापस वो कलेवर मे घूस गया। कुछ समय मे फिर झूझला कर बाहर निकलता है। पर जाये कहाँ ? कोई वृक्ष या मकान नजर नही आता। कही भी धरती नजर नही आती। चोतरफ पानी ही पानी ! पुन कलेवर में प्रविष्ट होता है और आखिर मौत की गोद में खो जाता है।

अविनय, अनादर और उद्धताई मे से पैदा होती भयानक दुर्घटना का यह तो मात्र कल्पनाचित्र है। रस, ऋद्धि और शाता गारव की गलियो में दर-दर ठोकर खाते अविनीतो के जीवन-नाटक का यह एक हृदयविदारक करुण दृश्य है।

श्लोक : ते जात्यहेतुदृष्टान्तसिद्धमविरुद्धमजरमभयकरम् ।
सर्वज्ञवाग्रसायनमुपनीतं नाभिनन्दन्ति ॥७७॥

अर्थ : श्रेष्ठ हेतु एव दृष्टांत से सिद्ध [प्रतिष्ठित], अविरुद्ध [सवादी] अमर करने वाला और अभय करने वाला, ऐसा सर्वज्ञ वाणी का

रसायन मिलन पर भी व [रस ऋद्धि और शाता म आसक्त] परितुष्ट नहीं होत ह [उस रसायन का उपयोग नही कर पाते है]

विवेचन सवन की वाणी।
अद्भुत रसायण।
कितन श्रेष्ठ द्रव्या का सयोजन है इस रसायन म!

अविनीता की किस्मत म यह रसायन नही हाता ह। एशा-आराम में डूबे आलसीओ की नजरा म यह रसायन चढता ही नही। वभवविलास म लाटन वाले इस रसायन का अस्तित्व भी नही जानत हैं। कदाचित् ऐस मनुष्या का यह रसायन मिल भी जाय, फिर भी वे इसका उपयाग नहीं कर पाते, बल्कि इसकी अवगणना करने है।

वो ही वाणी सत्य और उपादेय बनती है कि जिसम स्वाभाविक श्रेष्ठ हेतु हो, जिसमे उत्तम दृष्टात हा जिसम तत्वा का पारस्परिक विराध न आता हा। सवन क सिवाय ऐसी वाणी और किस की हा सकती है? एसी वाणी जिनकी हा उन्ह ही सवन कहा जाता है। आइय, सवन वाणी में हतुआ की श्रेष्ठता का समझ।

१—जा सही हतु हाता है वा अपन साध्य के साथ ही रहता ह। 'साध्याविनाभाविनो हेतव।' साध्य का छोडकर हतु दूसरी जगह पर नहीं रहत। सवन परमात्मा न पदार्थमात्र के अस्तित्व का सिद्ध करने वाल हतु बतलाय उत्पत्ति, स्थिति और लय।

"यदस्ति तदुत्पद्यतेऽवतिष्ठत विनश्यति च।"

वस्तु के पदार्थ के अस्तित्व का सिद्ध करन वाल स्वाभाविक हतु बतला दिये। प्रत्येक पदार्थ में उत्पत्ति, स्थिति और व्यय होते ही हैं। हर एक पदार्थ उत्पन्न हाता है स्थिर रहता है और नाश पाता है। दार्शनिक परिभाषा कुछ इस प्रकार बनगी

सन्ति जीवादय पदार्था उत्पत्तिमत्वाद् विनाशवत्वात स्थिति-मत्वाच्च।

उत्पत्तियुक्त, विनाशयुक्त और स्थितियुक्त होने से जीवादि पदार्थ हैं। जीव, अजीव वगैरह पदार्थों के अस्तित्व को उत्पत्ति, स्थिति और लय के हेतुओ से सिद्ध किया। साध्य है जीव, अजीवादि पदार्थ। हेतु है उत्पत्ति-स्थिति और लय। यह हेतु तमाम साध्य मे व्याप्त है। साध्याभाव मे ये हेतु नही होते और साध्य मे कही भी इनका अभाव नही होता।

२—इस हेतु को सिद्ध करने वाला एक उदाहरण देखे। तुम्हारे हाथ की एक अगुली को तुम सीधी रखो, अगुली मूर्त है, रूपी है, उस अगुली अब तुम मोडो-टेढी करो, क्या हुआ अगुली में ? उसके लचीलेपन का नाश हुआ, वक्रपन का जन्म हुआ और मूर्तावस्था कायम रही। अगुली मे उत्पत्ति, स्थिति और लय का तुमने दर्शन किया। अगुली का अस्तित्व इस ढग से सिद्ध हो गया। एक दूसरा उदाहरण देखे। तुम्हारे पास एक सोने का हार है। तुम उसे तुडवा कर घडी का सुन्दर पट्टा या अगुठी बनवाते हो। यह प्रक्रिया किसकी हुई ? उत्पत्ति-स्थिति और लय की यह प्रक्रिया है। सोना तो वही रहा, हार के रूप का नाश हुआ, घडी के पट्टे के रूप मे या अगुठी के रूप में उसकी उत्पत्ति हुई।

अब आत्मा मे इस उत्पत्ति-स्थिति और लय के सिद्धान्त को देखे। अपनी आत्मा इस समय मनुष्य के रूप मे है। उसकी मृत्यु हो और वो देव के रूप मे जन्मे, कोई देव मृत्यु पा कर मनुष्य के रूप मे जन्मे। चारो गतियो में जीवो का जो निरतर परिभ्रमण चल रहा है, उसमे उत्पत्ति-स्थिति और लय की प्रक्रिया ही देखने को मिलती है। मनुष्य रूप का लय, देवरूप मे उत्पत्ति व आत्मा के रूप मे स्थिति। देवरूप का लय, मनुष्य रूप में उत्पत्ति व आत्मा के रूप मे स्थिति। आत्मतत्त्व शाश्वत् है। आत्मद्रव्य की उत्पत्ति या नाश नही होता है। आत्मद्रव्य के पर्यायो की उत्पत्ति होती है और नाश होता है। वे पर्याय, वे अवस्थाए आत्मा की है, अतः आत्मा की उत्पत्ति, आत्मा का नाश. ऐसा कहा जाता है। वास्तव मे ऐसा नही है। चू कि आत्मा तो सदा शाश्वत् है।

इस तरह अगुली, सोना और आत्मा के उदाहरण-दृष्टान्तो के द्वारा उत्पत्ति, स्थिति और नाश के हेतु को पुष्ट किया गया। सर्वज्ञवाणी

ऐसे श्रेष्ठ हेतुओ से युक्त आर त्रिकालाबाधित दृष्टान्तो मे भरीपूरी है, अत वह एक उत्तम रसायन है।

३—सर्वज्ञवाणी म कोई विरोधाभास नही है। यह वाणी जो प्रतिपादन करती है उसमे परस्पर विरोधी बातें नही होती। जैसे, सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा 'आत्मा नित्यानित्य है।' वैसे देखा जाय तो नित्यत्व आर अनित्यत्व परस्पर विरोधी तत्त्व हैं। वस्तु यदि नित्य है तो अनित्य कैसे होगी? आर यदि अनित्य है तो फिर नित्य कैसे होगी? ऐसा सामान्य बुद्धि मे जँच जाता है। एक ही वस्तु म नित्यत्व आर अनित्यत्व दोनो रहे, यह विरोधाभास प्रतीत होता है न? नही, यह विरोधाभास नही है। अपन यदि सूक्ष्म बुद्धि से सोचें तो विरोधाभास दूर हो जायेंगे।

- आत्मा द्रव्य से नित्य है।
- आत्मा पर्याय से अनित्य है।

आत्मा के देव-मनुष्य-तिर्यच-नारक ये चार पर्याय हैं। ये पर्याय उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। अत आत्मा अनित्य कही जायगी। जबकि पर्यायो के नाश होने के साथ द्रव्य (आत्मा) का नाश नही होता है, अत आत्मा नित्य है। इस तरह एक आत्मद्रव्य में नित्यत्व और अनित्यत्व दोनो धर्म रहते हैं। किसी भी तरह का विरोध नहीं आता है।

- नित्यत्व का निमित्त द्रव्य है।
- अनित्यत्व का निमित्त पर्याय है।

भिन्न-भिन्न निमित्त वाले परस्पर-विरोधी तत्त्व भी एक साथ रह सकते हैं। एक वस्तु में रह सकते हैं। आत्मा म नित्यत्व द्रव्य निमित्तक है, जबकि अनित्यत्व पर्यायनिमित्तक है।

'भिन्न भिन्ननिमित्तत्वाच्च न सहावस्थानलक्षणो विरोध ।'

कहिये, सर्वज्ञ के सिवाय भला कौन ऐसी वास्तविकता का दर्शन करवा सकता है? सर्वज्ञवाणी के रसायन म ऐसे तत्त्वो का सम्मिश्रण हुआ है कि जो भी इसका सेवन करता है वो अजर और अमर बनता है।

सर्वज्ञवाणी के रसायन का पृथक्करण करके, उस रसायन की उपादेयता सिद्ध की गई। 'यह रसायन प्रयोगसिद्ध है, तुम्हे आजमाइश के तौर पर यह रसायन नही वता रहा हूँ, इस रसायन का आसेवन करके असख्य मनुष्य अजर और अभय वन गये है। तुम भी तुम्हारी आत्मा को अजर-अभय वनाने हेतु इस रसायन का सेवन करो।'

भगवान उमास्वाती ऐसे जीवात्माओ को इस रसायन के आसेवन की प्रेरणा दे रहे है कि जिन्हे अव वृद्धावस्था नही चाहिए। अव जो वार-वार मौत के जवडो में फसना नही चाहते। वृद्धत्व और मृत्यु से जिन्हे मुक्त होना है। यह रसायन अवश्यमेव वृद्धत्व को सदाकाल के लिये दूर रखता है। यह रसायन मौत के भय को निरवशेप कर देता है।

सर्वज्ञ वाणी का आसेवन यदि विधिपूर्वक किया जाय, उसकी सुचारू आराधना की जाय, तो आत्मा अशरीरी वन जाती है। शरीर के वधनो से छूट जाती है। शरीर ही नही, फिर वृद्धावस्था आयेगी कहाँ से? शरीर ही नही फिर भय किस वात का? सर्वज्ञवाणी का रसायन आत्मा मे जमे हुए कर्मो के रोगो को नेस्तनावूद कर देता है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म कर्मविकारो का नाश करता है।

परन्तु इस रसायन का आसेवन इसके विशेपज्ञ के मार्गदर्शन के अनुसार करना होगा। यदि मनमाने ढग से किया तो यह रसायन ही शरीर मे विकृतियाँ पैदा कर देगा। इस रसायन के विशेपज्ञ है आगम शास्त्रो के ज्ञाता ऐसे आचार्य उपाध्याय और साधु भगवत। चाहे कोई आचार्य नही....हर कोई उपाध्याय या साधु नही, मात्र पदवीधारी नही हो सकते इस रसायन के विशेषज्ञ। सर्वज्ञवाणी जिन शास्त्रो मे सग्रहीत है, जिन आगमो मे है, जिन ग्रन्थो मे गुम्फित है, उन शास्त्रो के, आगमो के और ग्रन्थो के विशिष्ट अभ्यासी और अनुभवी ही इस रसायन के विशेपज्ञ वन सकते है। उनका अनवरत मार्गदर्शन लेकर इस रसायन का सेवन करना चाहिए।

ऐसे निस्वार्थ उपकारी महापुरुषो की दूसरी कोई अपेक्षा नही होती। उन्हे चाहिए मात्र तुम्हारा विनय, तुम्हारे हृदय का बहुमान। तुम्हारी विनम्रता और विनयपरायणता उनके हृदय को तुम्हारी तरफ

वैसे सज्जनो द्वारा [गणधर वगैरह] अनुकपा मे कथित, परिणाम मे सुन्दर, योग्य और सत्य का अनादर करने वाले, राग-द्वेष से स्वच्छदाचारी [७६]

जाति-कुल-रूप-वल-लाभ-वुद्धि-जनप्रियत्व और श्रुत के मद मे अव बने और नि सत्व, इस भव मे और परभव में उपकारी ऐसे अर्थो को [सर्वज्ञ वाणीरूप] देखते नही है [८०]

विवेचन · शरीर मे जव वात, पित्त और कफ विपम वनते है तव शरीर मे रोग पैदा होते है। शरीर अस्वस्थ और वेचैन वनता है। जव पित्त का प्रकोप होता है तव शरीर मे जो विक्रियाए पैदा होती है, उसमे से एक विक्रिया जिह्वेन्द्रिय की होती है, वो है मीठा मधुर पदार्थ भी जीभ को कटु-कडुआ लगे।

गाय का दूध मीठा हो...शक्कर, केसर, इलायची, वादाम वगैरह उत्तम पदार्थो से भरपूर हो, मन को पसन्द भी हो, फिर भी पित्त के प्रकोप से कटु बनी जिह्वा को वो दूध कडुआ ही लगता है। यदि उस पित्त-प्रकोप की असर चित्त पर हो गयी हो तो मन तुरन्त वोल उठेगा · 'यह कोई दूध है ? जहर सा लग रहा है, मुझे नही पीना, ले जाओ यहाँ से...मै इसे देखना भी नही चाहता !' उस मधुर दूध का आस्वादन पित्त-प्रकोप वाला नही कर पाता।

जैसे यह एक शारीरिक विक्रिया है ठीक वैसे मानसिक विक्रिया पैदा होती है राग और द्वेष की, राग-द्वेष का प्रकोप तो पित्त के प्रकोप से भी कही चढ वढ कर होता है। राग-द्वेष का प्रकोप मनुष्य को स्वच्छदाचारी वना देता है। उसे सर्वज्ञवाणी जहर सी प्रतीत होती है। पसन्द नही आती है! जातिमद, कुलमद, रूपमद, वलमद, लाभमद, वुद्धिमद, लोकप्रियतामद और श्रुतमद से जीवात्मा को यह प्रकोप अन्ध वना देता है, सत्वविहीन पगु वना देता है।

राग की प्रवलता और द्वेष की तीक्ष्णता तीर्थकरो की भी अवगणना करा देती है। गणधरो की और महान् श्रुतधरो की भी आशातना कराती है यह प्रवलता। वात्सल्यभरे हृदय से कही गई सत्य, सुयोग्य

और सुन्दर बात को भी तिरस्कार कर देता है इस प्रबलता के पाश में बधा हुआ मनुष्य !

उपसर्गों को सहना, परिषहों को सहन करना, इन्द्रियो का निरोध करना, कषायो पर काबू पाना, ये सारी साधनाए कठिन तो है ही, कडवी जहर सी दवा पीने बराबर हैं, पर इसका परिणाम कितना सुन्दर और मधुर होता है ! अनेक प्रकार के अचिन्त्य सुखो की प्राप्ति इस साधना से हो जाती है। पर वैषयिक सुखो की तीव्र लालसा मे लिपटा हुआ मनुष्य इस साधना की ओर आंखमिचौली खेलता है। जान-अनजान इसकी अवमानना कर देता है।

महापुरुषो ने भव्य जीवो के प्रति अनन्त करुणा बरसाते हुए जो परमहितकारी, कल्याणकारी, मगलमय और अविसवादी बात कही है, उन बातो को राग-द्वेष की आग मे झूलसते जीवात्मा सुनते ही नही। जमाली जो कि खुद भगवान महावीर का दामाद था उसमे जब रोष की उद्दंडाई ने प्रवेश किया तो उसने परमात्मा महावीरस्वामी के यथार्थ वचनों की अवगणना की। अपनी बुद्धि के घोर अभिमान ने, अपनी समझदारी की इजाराशाही ने उसे जगद्गुरु महावीरस्वामी की अव गणना करने के लिये प्रेरित कर दिया।

भगवान श्री महावीर ने कहा 'जो कार्य हो रहा हो उसे हो गया ऐसा कहना, यह व्यवहार भाषा है। साधुओ ने इस व्यवहार भाषा का प्रयोग किया है, यह व्यवहार भाषा का प्रयोग असत्य नही है अपितु सत्य ही है। सथारा [साधुजनो का बिछौना] बिछाया जा रहा था और साधुओ ने कह दिया कि सथारा हो गया है,' वह बराबर है।

जमाली ने कहा जो कार्य पूर्ण न हुआ हो उसे पूर्ण कैसे कहा जा सकता है ? जो कार्य पूर्ण हो गया उसे ही 'पूर्ण हो गया' की मान्यता दी जा सकती है। भगवान महावीर ने दिवसो और महिनो तक 'कडेमाण कडे' का सिद्धात समजाया परन्तु जमाली ने उसे नहीं समझा। समझे भी कैसे ? मिथ्याभिमान ने उसकी समझ को एक तरफा बना दी थी। उसकी आतर आंखो के आगे अभिमान का परदा गिर गया था। वो भगवान का तत्त्वमार्ग देखे भी तो कैसे ? मद का अजन उसकी आंखो

मे पूरा छाया हुआ था। वो मदान्ध बन गया था। अंधा मार्ग देखे भी कैसे ? चाहे वो भगवन्त का दामाद था, भगवन्त के विद्वान् शिष्यो में प्रमुख शिष्य था, परन्तु अन्धे के लिये सम्बन्धो की शाल का कोई महत्व नही होता, उसने भगवान का त्याग कर दिया।

साध्वी प्रियदर्शना जो कि ज्ञातपुत्र भगवान महावीर की ही पुत्री थी, उसे भी पतिराग की मोहान्धता ने जकड लिया। परमात्मा ऐसे अपने पिता के सान्निध्य का त्याग करके छद्मस्थ पति के पीछे चल निकली। पति के मनमाने सिद्धान्तो के प्रचार-प्रसार मे जूट गयी। वो उसका सद्‌भाग्य था कि ढक नाम के कु भकार श्रावक ने युक्तिपूर्वक उसे भगवान महावीर के सिद्धान्तो की यथार्थता बतायी और वो परमात्मा के चरणो मे वापस लौट आयी।

आराधना की राह पर जब अपनी जाति और कुल के मद का विचार प्रबल होता है तब मनुष्य का आध्यात्मिक विकास स्थगित हो जा-ा है। आध्यात्मिक विकास जाति और कुल के साथ जुडा हुआ नहीं है। उच्च जाति और उच्च कुल मे नही जन्मे ऐसे भी व्यक्ति आत्मा की भव्य विकास-यात्रा के पथिक बन सकते है। उसी तरह उच्च जाति और उच्च कुल मे पैदा हुए व्यक्ति आध्यात्मिक विकास की सीढी का प्रथम सोपान भी न चढ पाये।

'ये आचार्य तो हीन कुल मे पैदा हुए है, मेरे से निकृष्ट जाति के है, इनके पास मे ज्ञानार्जन कैसे करु ? उनका मार्गदर्शन मै कैसे लेऊँ ?' यह है जाति और कुल का मिथ्याभिमान। यह अभिमान पारमार्थिक सत्य को प्राप्त नही करने देता है। परमार्थ के पथ को देखने नही देता है।

ज्ञानी पुरुप, आचार्य वगैरह रूपवान न हो और शिष्य स्वय रूपवान हो, यदि उसे अपने रूप का अभिमान होगा तो वो आचार्य की अवगणना कर देगा। वो गुरुजनो की अवहेलना कर देगा। ठीक वैसे बल का, लाभ का, लोकप्रियता का, श्रुतज्ञान का अभिमान पारमार्थिक सत्य के निकट नही जाने देता है। फिर उस मार्ग पर चलने की तो बात ही कहाँ ? मदोन्मत्तता मनुष्य को भीपण भवभ्रमण मे पटक देती है।

एक और महत्व की बात यहाँ ग्रन्थकार बतला रहे हैं। ऐसे राग-द्वेष में उद्धत बने मनुष्यों को 'क्लीबा' कह दिया ! नि सत्व, निर्वीय ! रागी, द्वेषी और अभिमानी मनुष्यों में सत्व नहीं होता है। वीर्य नहीं होता है ! अत्यन्त गम्भीर एवं महत्वपूर्ण बात कह रहे हैं ग्रन्थकार यहाँ पर। चूंकि ऐसे जीवों के मन में एक भ्रमणा होती है 'हम शक्तिशाली हैं ! हम बहादुर हैं ! हम ही सत्वशील हैं ! ऐसी मिथ्याभ्रमणा को चूर चूर कर रहे हैं ग्रन्थकार।

राग की उछलती बाढ़ में नि सत्व मनुष्य बह जाता है। सात्विक मनुष्य भयंकर बाढ़ में भी बहता नहीं या तो स्थिर रहता है या फिर तैर कर सामने किनारे चला जाता है। द्वेष की धधकती आग में निर्वीय मनुष्य सुलग जाते हैं। वीर्यशाली वीर पुरुषों को वो आग स्पर्श भी नहीं कर पाती। महात्मा दृढ़प्रहारी के आसपास लोगों ने द्वेष की कैसी आग सुलगायी थी ? पर उन महात्मा के मनोगगन को स्पर्श उस आग की लपट न कर सकी। क्यों ? चूंकि वे महान् और सत्वशील महात्मा थे। महामुनि रामचन्द्रजी के आसपास सीतेन्द्र ने राग के कम नाटक रचाये थे ! परन्तु अपूर्व सत्त्व को धारण करने वाले वे मुनि उस माया मरिचिका में फंसे कैसे ? नाटक निष्फल हो गये। राग की आग को राख ही बनना होता है ऐसे सत्वशील महापुरुषों के आगे।

ज्ञानी पुरुषों की दिव्य दृष्टि में रागी-द्वेषी और मदोन्मत्त पुरुष नि सत्व हैं निर्वीय हैं। राग द्वेषरहित और मदरहित व्यक्ति ही सत्वशील है। जो उच्च जाति और उच्च कुल में जन्मे हैं फिर भी जो जाति और कुल का अभिमान नहीं करते, अद्भुत सौन्दर्य एवं मोहक रूप वाले होने पर भी जो रूप का अभिमान नहीं करते, अजेय बल और ताकत होने पर भी जो बल का गर्व नहीं करते, जिन्हें जो चाहिए सो मिल सकता है, फिर भी जो लाभ अभिमान के पाश में नहीं फंसते, बृहस्पति को भी मात कर दे ऐसी तीक्ष्ण प्रज्ञा होने पर भी जो बुद्धि की मगरूरी में नहीं फंसते, जनसमूह के दिलो दिमाग में जिनकी प्रतिभा बसी हो—जो हर दिल-अजीज हो, फिर भी लोकप्रियता का गर्व नहीं करते अगाध श्रुतज्ञान होने पर भी ज्ञान का कोई अभिमान नहीं ऐसे महापुरुष ही सत्वशील होते हैं। ऐसे उत्तम पुरुष ही परमार्थ के ज्ञाता बन सकते हैं। परमार्थ को देख सकते हैं पा सकते हैं।

मोक्षमार्ग की आरावना मे ये आठ मद कैसे भयंकर शत्रु वनते है, इन्हे जीतना अनिवार्य है, अन्यथा इन मदो का उन्माद जीवात्मा को भयकर दुर्गतियो मे कैसे पटक देता है, करोडो जन्म तक भवभ्रमणा मे भटकाये रखता है, यह सव ग्रन्थकार यहाँ सविस्तार समझा रहे है। समझाकर मदत्याग की पावन प्रेरणा दे रहे है। पर यह प्रेरणा, उन राग-द्वेप के पित्तप्रकोप से उछलते व्यक्तियो को तो कटु ही लगेगी। वो इस अमृत की प्याली को ठोकर ही मारेगे। ऐसे करुणापूर्ण प्रेरणा-दाता का उपहास ही करेगे। भला, 'वन्दर क्या जाने अदरख का स्वाद!'

खैर, करने दो उन्हे जो वे चाहे, अपन तो आदरभरे अत करण से भगवान उमास्वाती की प्रेरणा को ग्रहण करने वाले वने।

जातिमद

श्लोक . ज्ञात्वा भवपरिवर्ते जातिनां कोटिशतसहस्रेषु ।
हीनोत्तममध्यत्वं को जातिमदं वुधः कुर्यात् ॥८१॥

नैकान् जातिविशेषानिन्द्रियनिर्वृत्तिपूर्वकान् सत्वाः ।
कर्मवशाद् गच्छन्त्यत्र कस्य का शाश्वता जातिः ॥८२॥

अर्थ : भव के परिभ्रमण में चौरासी लाख जातियो में हीन, उत्तम और मध्यमपन जानकर कौन विद्वान् जाति का मद करेगा [८१]

इन्दियरचनापूर्वक वो अनेक विविध जातियो में कर्मपरवशता से जीव जाते है [ऐसे] इस ससार में किस जीव की कौन सी जाति शाश्वत् है? [८२]

विवेचन . परावीनता! परवशता!

अनत अनत कर्मो की पराधीनता!

अनत अनत जन्मो की पराधीनता!

अनत शक्ति का स्रोत [The Torrento of Boundless energy] और प्रचड ताकत की मालिक आत्मा पराधीन है! परवश है। अनत अनत जड पुद्गलो ने चैतन्यस्वरूप आत्मा पर पूरा अधिकार जमाये

रखा है। आत्मा स्वय स्वतन्त्रता मे कोई प्रवृत्ति न कर सके। अरे एक विचार भी वो स्वतन्त्ररूप से नही कर सकती। एक शब्द भी स्वतन्त्ररूप से न बोल सके। फिर भी ताज्जुब है आत्मा का अपनी पराधीनता की आंशिक भी जानकारी नहीं है। यह पराधीनता उसे खटकती नही!

कर्म आत्मा को भटकाते है। चारगति के चक्कर मे भटकाते हैं। चौरासी लाख योनि मे भटकाते हैं। अनतकाल अव्यवहार राशि म निगोद के रूप म रखा, एक शरीर म अनत अनत आत्माए इकट्ठी रही। अव्यक्त अपार वेदना को सही। अनतकाल वनस्पति के रूप में व्यतीत किया। एकेन्द्रिय जाति में अनतकाल बीताया। तिर्यच गति म कितना समय पसार किया! वहा से मनुष्यगति नरकगति देवगति चारगति म आत्मा भटकती ही रही। चारगति म चौरासी लाख योनि, जितनी योनि उतनी ही जाति। पृथ्वीकाय मे सात लाख जाति। हर एक जाति मे अपनी आत्मा अनेक बार जन्म चुकी है। अपकाय, तेऊकाय वायुकाय प्रत्येक की सात लाख जाति। वनस्पति की २४ लाख जाति। इस तरह एकेन्द्रिय की ही ५२ लाख जाति है। बेईन्द्रिय त्रिरीन्द्रिय, चतुरीन्द्रिय प्रत्येक की २-२ लाख जाति। पचेन्द्रिय तिर्यच की ४ लाख जाति। ऐसे तिर्यचगति की ही ६२ लाख जाति हो जाति है। देवो की ४ लाख और नारको की ४ लाख। मनुष्य की १४ लाख। इस तरह ८४ लाख जाति मे जीवात्मा न जन्म लिया जिन्दगी बीतायी और मृत्यु पाया।

कोई हल्की, कोई मध्यम, कोई उत्कृष्ट हर एक जाति की होती ह। तो फिर वर्तमान मनुष्यत्व की पचेन्द्रिय जाति का अभिमान क्या करना? अभिमान करने लायक अपनी जाति है ही कहा? पचेन्द्रिय मनुष्य से तो पचेन्द्रिय देवो की जाति श्रेष्ठ है! अत जातिमद की जाल में उलझना मत।

ऊची, नीची जाति का सबध इन्द्रियो क साथ है। जिन जीवों को मात्र एक ही इन्द्रिय [स्पर्शनेन्द्रिय] होती है वो एकेन्द्रिय जाति के कहलाते हैं। जिन्हें दो इन्द्रिय-स्पर्शनेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय होती है वे दो इन्द्रिय जाति के कहलाते हैं। जिन्ह इन दो इन्द्रियो के उपरान्त

घ्राणेन्द्रिय होती है वे त्रिरीन्द्रिय जाति के कहलाते है। जिन्हे इन तीन के उपरान्त चक्षुरीन्द्रिय होती है वे चतुरीन्द्रिय जाति के कहलाते है और जिन्हे इन चार के उपरान्त श्रवणेन्द्रिय होती है वो पचेन्द्रिय जाति के कहलाते है।

इन पाँच जाति मे जीवात्माए परिभ्रमण करती ही रहती है। कर्मो की परवशता होने से उनकी मनचाही जाति कायम बनी नही रहती। 'नही, मुझे तो पचेन्द्रिय जाति ही चाहिए ! ...मै दूसरी जाति मे नही जाऊगा।' यह हठ कर्मो के आगे नही चलती है। किसी भी जीवात्मा की कोई भी जाति शाश्वत् नही है, फिर किस जाति पर गर्व करना? किसके आगे अभिमान करना? देवो के सामने गर्व ठहर ही नही सकता। नारक जीव अपने सामने नही है। मनुष्य तो अपनी समान जाति के ही है। . तो क्या पशु-पक्षी के सामने मद करना है कि 'तुमसे हमारी जाति ज्यादा उत्तम है?'

इस दृष्टि से तो जाति मद हो ही नही सकता। पर अपन ने जो नयी जातियो की कल्पनाए बाधी है, उन कल्पनाओ के सहारे जाति मद पैदा होने की पूरी शक्यता है।

'हम तो ओसवाल जाति के ! हम तो पोरवाल जाति के ..हम तो श्रीमाल, दशा श्रीमाली, वीसा श्रीमाली, हम तो अग्रवाल जाति के. .हमारी जाति तो ऊँची है, दूसरे सब निम्नतर जाति के !'

वर्णाश्रम मे से भी ऊच नीच की भेदरेखाए जनमती है। 'हम ब्राह्मण, इसलिये ऊची जाति के ! हम क्षत्रिय, इसलिये उच्च जाति के ! हम तो वैश्य यानी ऊची जाति के ! जबकि ये तो शूद्र यानि हल्की जाति के। फिर क्यो न ब्राह्मण होकर भी सुरापान करता हो...व्यभिचार करता हो. .चोरी करता हो ..क्षत्रिय होकर भी प्रजा का रक्षण करने की बजाय प्रजा को हैरान-परेशान करता हो .. ऐशो–आराम और रागरग मे डूबा हुआ हो, फिर भी जाति का अभिमान तो इतना कि आसमान मे ही चलता हो! वैश्य हो, अपनी जाति का भयकर अभिमान हो और आचरण अन्याय, अनीति और अप्रामाणिकता का हो!

नहीं तो ओसवाल कायम रहने का और नहीं श्रीमालपन या पोरवालपन कायम रहेगा। कर्मों ने उठाकर पशु योनि में फेंक दिया तो वहाँ फिर ओसवालपन या पोरवालपन कहाँ रहेगा? तो क्या क्षत्रियपन या ब्राह्मणपन कायम रहेगा? नहीं, क्षत्रिय मर कर शूद्र जाति में पैदा हो सकता है और शूद्र मर कर क्षत्रिय भी और ब्राह्मण भी बन सकता है। कोई जाति शाश्वत् नहीं है। जिस जाति का तुम तिरस्कार करोगे, घृणा और नफरत करोगे कर्म तुम्हें उसी जाति में भेज देंगे। उसी जाति में तुम्हारा जन्म होगा, अतः जाति का अभिमान करना छोड़ दो।

कुलमद

श्लोक रूपबल श्रुतमति शीलविभव परिवर्जितास्तथा दृष्ट्वा।
विपुल कुलोत्पन्नानपि ननु कुलमानः परित्याज्यः ॥८३॥

यस्याशुद्ध शील प्रयोजनं तस्य किं कुलमदेन ?
स्वगुणालङ्कृतस्य हि किं शीलवतः कुलमदेन ? ॥८४॥

अर्थ लोकप्रसिद्ध उत्तम कुल में पैदा होने वाले भी रूपरहित, बलरहित, ज्ञानरहित, बुद्धिरहित, सदाचाररहित और वैभवरहित होते हैं, ऐसा देखकर अवश्य कुल के मद का परिहार करना चाहिए। [८३]

जिनका आचार (सदाचार) अशुद्ध है उन्हें कुल का मद क्या करना चाहिए और जो अपने गुणों से विभूषित हैं उन सदाचारी को कुल का अभिमान क्या? [८४]

विवेचन क्या समाज में, नगर में प्रसिद्ध ऐसे कुलों में पैदा होने वाले रूपवान ही जनमते हैं? बलवान ही पैदा होते हैं? ज्ञानवान और बुद्धिमान ही पैदा होते हैं? सदाचारी और श्रीमन्त ही पैदा होते हैं? तुम जरा ध्यान से देखो तो सही! यदि मनुष्य के पास रूप नहीं है, बल नहीं है, श्रुत नहीं है, बुद्धि नहीं है, सदाचार नहीं है और धनाढ्यता नहीं है तो वह गर्व किस बात का कर सकता है? प्रसिद्ध कुल में पैदा होने मात्र से अभिमान? प्रसिद्ध कुल में पैदा हुआ परन्तु कुरूप और कुब्ज

व्यक्ति यदि तुम्हारे पास आकर कहे कि : 'हमारा कुल कितना उत्तम है! हमारे जैसा कुल किसी का नहीं है।' तो तुम्हे कैसा लगेगा ? बिल्कुल निर्बल, दुर्बल और निःसत्व व्यक्ति यो कहता फिरे कि 'हमारा कुल कितना उत्तम है! तुम्हारा कुल तो हमारे कुल से नीचा।' तो तुम्हे कैसा लगेगा ? निरा मूर्ख हो.. बाराक्षरी भी नही जानता हो और अपने कुल का अभिमान गाता फिरे तो वो कैसा लगेगा ? अक्कल की छांट भी न हो, अच्छे बुरे की कोई परख न कर सकता हो ऐसा व्यक्ति यदि कहता फिरे कि 'हमारा कुल तो सर्वश्रेष्ठ है! हमारे कुल मे तो बुद्धिनिधान अभयकुमार जैसे महाबुद्धिनिधान महापुरुष पैदा हुए हैं....हमारा कुल तो विश्वप्रसिद्ध कुल है।' ऐसा सुनकर तुम्हारे मन मे क्या होगा ? हास्यास्पद लगेगी ना ये बाते ? उसके प्रति दया और करुणा ही पैदा होगी न ?

पुरखो के सत्कार्य, त्याग एव बलिदान से प्रसिद्ध बने कुल में जन्म लेने मात्र से अपनी महत्ता को ऊंची आकने वाले अभिमानी मनुष्य समाज मे, नगर में और प्रदेश में 'महामूर्ख' के रूप में जाने जाते हैं। अपनी किसी भी तरह की योग्यता को प्राप्त किये बिना मात्र कुल की प्रसिद्धि के बल पर नाचने वाले व्यक्ति शिष्ट एव सस्कारी समाज मे स्थान नही पा सकते।

जुआ, परस्त्रीलपटता, चोरी, डाकूगिरी, सुरापान. आदि भयकर पापो को करने वाले अपनी आत्मश्लाघा गाते फिरे 'हम तो उत्तम कुल में पैदा हुए है।' तो तुम्हारे मन पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी ? पलभर ऐसे व्यक्तियो के प्रति तुम्हें नफरत हो जायेगी। 'अपने उत्तम कुल को कलकित करने वाले इन मूर्खो को शरम भी नही आती अपने कुल की प्रशसा करते हुए!'

क्यो कुल का अभिमान करना ? कोई कारण बता सकोगे तुम ? हृदय में कुल का अभिमान भर के तुम्हे पाना क्या है ? समाज मे ऐसी इज्जत पाना है ? प्रतिष्ठा और सम्मान पाना है ? यदि यह सब पाने के लिये तुम कुल का गर्व कर रहे हो तो शायद यह तुम्हारी गम्भीर भूल है। मान-सन्मान और इज्जत कुल का अभिमान करने से नहीं मिलती है। यह बात अच्छी तरह से समझ लेना। यह सब मिलता है सदाचारो के पालन से।

यदि तुम्हें सचमुच सामाजिक प्रतिष्ठा पाना है, जन मानस में तुम्हारा सुंदर चित्र उभारना है तो इसी समय तुम दुराचारों का त्याग कर दो। जुएबाजी की जाल से मुक्त बनो। वेश्याओं का संग छोड़ दो। परस्त्री और कन्याओं के प्रति विकारिक नजर करना छोड़ो। शराब के नशे में डूबे रहना तुम्हें उचित नहीं। क्रूरता और निष्ठुरता का त्याग करो। अपने आप तुम्हारे कुल की प्रशंसा होगी ही। समाज तुम्हारे गुणगान करने लगेगा। तुम्हें कुलमद करने की कोई आवश्यकता नहीं है। कुलमद के द्वारा तुम जो पाना चाहते हो वो तुम्हें तुम्हारे सुन्दर एवं पवित्र आचरण से ही मिल जायेगा।

और यदि तुम दुर्व्यसनों का संग छोड़ने की इच्छा भी नहीं रखते तो फिर तुम्हें कुलमद करना ही क्या चाहिए? कोई प्रयोजन या कारण नहीं रहता कुलाभिमान करने का।

इसी तरह यदि तुम शीलवान हो सदाचार से तुम्हारा जीवन महक रहा है, परमार्थ और परोपकार तुम्हारे जीवन-व्यसन बन हुए है तो भी कुलमद करना जरुरी नहीं है। क्या करना कुल का अभिमान? कुलमद किये बिना ही तुम्हारी प्रशंसा होगी। तुम्हारी ख्याति फैलेगी ही! तुम्हारा रूप, बल, ज्ञान, बुद्धि और वैभव वगैरह गुणों से तुम्हारी शोभा बढ़ेगी ही।

दोनों दृष्टिकोण से कुलमद करना जरुरी नहीं है। यदि शील और सदाचार नहीं तो कुलाभिमान करना उचित नहीं और यदि शील या शृंगार तुम्हारे जीवन में है तो कुलमद करना आवश्यक है ही नहीं! दुःशील और दुराचारी यदि कुलमद करता है तो उसमें तो उसके दुःशील एवं दुराचार की वृद्धि ही होगी। वो मद या अभिमान उसे अपनी दुःशीलता समझने नहीं देता। उसे दुराचार हेय-त्याज्य नहीं लगता है।

यह मत भूलना कि भूतकाल में यदि तुम्हारे कुल की प्रसिद्धि हुई है तो वह सत्कार्यों की वजह से! तुम्हारे कुल की उच्चता को यदि समाज ने स्वीकार भी किया है तो इसका कारण है तुम्हारे कुल के मनुष्यों की सदाचारप्रियता! यदि वास्तव में तुम उस प्रसिद्धि, उस

उच्चता को टिकाए रखना चाहते हो तो तुम्हे भी वैसे ही सत्कार्य करने चाहिए। ऐसे ही सदाचारो का पालन करना चाहिए। फिर तुम्हे स्वय अपने कुल की प्रशसा का ढोल नही पीटना होगा। दुनिया अपने आप तुम्हारे गुण गायेगी।

रूपमद

श्लोक : शुक्रशोणितसमुद्भवस्य सतत चयापचयिकस्य ।
रोगजरापाश्रयिणो मदावकाशोऽस्ति रूपस्य ॥८५॥
नित्यं परिशीलनीये त्वग्मांसाच्छादिते कलुषपूर्णे ।
निश्चयविनाशधर्मिणि रूपे मदकारण किं स्यात् ॥८६॥

अर्थ वीर्य और खून मे उत्पन्न, सतत हानि और वृद्धि पाने वाले, रोग एव वृद्धत्व के स्थानभूत शरीर के रूप के अभिमान को कहा स्थान है? [८५]

सदैव जिसका सस्कार करना पडे, चमडी और मास से आच्छादित, अशुचि से भरे हुए और निश्चितरूप से विनाश पाने वाले रूप पर अभिमान करने का क्या कारण हो सकता है? [८६]

किसके रूप का अभिमान कर रहे हो? किसके रूप पर अभिमान कर रहे हो? शरीर के रूप ने तुम्हे अभिमान से पागल बना रखा है। मत होना पागल अभिमान में! शरीर के रूप पर जरा भी इतराने जैसा नही है। जरा सोचो तो सही। शरीर की उत्पत्ति का विचार तो करो! वो कहा से पैदा होता है? कैसे पदार्थो के सयोजन से पैदा होता है? सोचो।

[१] पिता के शरीर मे से निकला वीर्य और माता का खून (रज), इन दो द्रव्यो के सयोजन से बना यह शरीर! एक बिन्दु से उसकी यात्रा आरम्भ होती है। कलल, अर्बुद, मास...खून आदि पदार्थो से उसकी वृद्धि होती रहती है। माता के उदर मे ही उसका एक निर्धारित आकार निर्मित होता है। मस्तक, गर्दन, हाथ, सीना, उदर, पैर इत्यादि अवयवो का आविर्भाव होता है। माता जो भोजन करती है, उस भोजन के रस को गर्भस्थ जीव ग्रहण करता है और नौ-दस महिनो मे जब उसके अगोपाग सम्पूर्ण होते है तब वो माता के उदर मे से बाहर निकलता है। यह तो हुई शरीर की उत्पत्ति की बात।

[२] इस तरह से उत्पन्न शरीर बढता है और घटता है। शरीर मे बढोती और घटोती होती ही रहती है। पथ्य और प्रिय आहार का यदि पाचन हो जाता है तो शरीर की वृद्धि होती ह, अप्रिय और अपथ्य आहार से शरीर का नुकसान होता है, घटता है। निरोगी शरीर बढता है। शरीर का रूप बल काति दिन बदिन बढती रहती है। बिमारी स शरीर घटता जाता है। बल मे कमी आती है, रूप मे निस्तेजता छाती है। बिमारी मनुष्य को निबल एव निस्तेज बना देती है। ऐसे भयकर रोगो का जब हमला होता है, रूपवान मनुष्य बिलकुल बेडौल और भद्दा हो जाता है। शरीर की हानि-वृद्धि के साथ शरीर के बल और रूप की भी हानि वृद्धि होती रहती है।

[३] शरीर पर दो शत्रुओ का आक्रमण तो नियत ही है। एक तो रोगो का और दूसरा वृद्धावस्था का। उस म भी रोगो का आक्रमण हर कही पर, हर कोई अवस्था मे और चाहे तब हो सकता है। जब रोगो का हमला होता है तो शरीर कुरूप बन जाता ह। कितना प्यारा और लुभावना चेहरा क्यो न हो, पर चेचक की बिमारी का हमला होते ही सारी रौनक राख हो जाती है। एक समय का प्यार भरा और सौन्दय से भरा चहरा कितना भद्दा लगता है? जब वृद्धावस्था का हमला होता है, मृत्युपयत वो वृद्धावस्था शरीर को नोचती रहती है।

[४] कितनी अशुचि से भरा है यह शरीर? नौ नौ द्वारा से निरतर अशुचि बाहर निकलती ही रहती है। कितनी भी सफाई किया करो। हमेशा इस काया को स्नान कराये रखो। रोजाना इसकी सेवा किया करो। अशुचि तो निकलती ही रहेगी। ऐसे मानवीय देह के रूप-रग पर क्या मोह करना? आत्मा का अपना मौलिक रूप कितना विशुद्ध एव अविकारी है! जब कि शरीर कितना अशुद्ध और विकृत है? आत्मा का कितना अपूर्व और एव अनत सौन्दय है! जबकि काया की कैसी बेढगी हालत? कितनी अशुचिमयता?

[५] चमडी म मढी हुई काया के भीतर जरा नजर तो करो, इसमे क्या क्या भरा है! जो भरा है वो देखोगे तो तुम्हारा दिल दहल जायेगा। मास, मज्जा, खून, मल, मूत्र और हड्डियो से खचाखच भरा

यह शरीर भीतर से कितना घिनौना है ! देखते ही मोह उतर जायेगा । एक भी पदार्थ तुम्हे ऐसा नही दिखेगा जिसे देखकर तुम्हे आनन्द हो या खुशी हो । केवल ऊपर गोरी या काली चमडी मढी हुई है । चमडी न जाने कब सड जाये, उसमे कीडे पैदा हो जाये, कुछ कहा नही जा सकता । ऐसी चमडी के काले-गोरे रग पर मुग्ध मत बनो । पुद्गल के एक क्षण मे नाश पाने वाले रूप का क्या भरोसा ? क्यो उस पर मोहित होना ? एक कवि ने गाया है

> 'कोई गोरा कोई काला-पीला नयने निरखन की
> वो देखी मत राचो प्राणी, रचना पुद्गल की ।'

मात्र आँखो से देखकर झूमने का ! मिलना कुछ भी नही उसमे से, पुद्गल की रचना यानी सध्या के रग ! सध्या के रग जैसे बदलते रहते है, चमडी के रग-रूप भी बदलते रहते है । ऐसे लाल-पीले रग-रूप पर क्या राग करना ?

[६] तुम चाहे शरीर को मालिश करो, चाहे व्यायाम कर के स्नायुओ को सुदृढ करो, चाहे दिन मे तीन बार उसे नहलाओ, उस पर सुगन्धी द्रव्यों के विलेपन करो, मनचाही पौष्टिक खुराक दो, पर अत मे तो राख की ढेरी ही हो जानी है, या कीडाओ से भरा कलेवर मात्र रहेगा । तुम जरा शात बनकर...आँखे मूदकर...उस परिणाम की कल्पना करो। तुम्हारी काया को श्मशान मे चिता पर सोयी हुई देखो, आग की धधकती ज्वाला मे स्वाहा बनती देखो, राख की ढेरी को देखो... तुम्हारा देहराग दहल जायेगा । शरीर की विनश्वरता का यथार्थ चित्रण होगा मनो-मस्तिष्क मे ।

दर्पण मे, आईने मे तुम्हारा रूप देखकर मारे खुशी के फूल जाते हो न ? इस रूप के मात्र बाह्य दर्शन से एव रूप की प्रशसा से तुम्हारी आतर दृष्टि बद हो गई है, विचारशक्ति क्षीण हो गई है । तुम तुम्हारी दृष्टि से क्या दूसरो की खूबसूरती पर पानी फिरता नही देखते ? कल तक जो अपनी खूबसूरती के बल पर आसमान मे चलते थे, आज वे ही रूप के चले जाने पर धरती मे मूँह छिपाये बैठे है । क्या इतना सब कुछ देखकर भी तुम्हे कुछ विचार नही आता है ?

ऐसे चमड़ी के रूप पर क्या अभिमान करना ? विचारशून्य अविवेकी मनुष्य ही ऐसा अभिमान रख सकते हैं। विचारवान और विवेकी मनुष्य तो रूप की विनश्वरता को जानकर उस रूप का उपयोग धर्ममार्ग में ही करते हैं। रूपवान धर्मात्मा अनेक जीवात्माओं को धर्ममार्ग पर ला सकता है। न तो उसे अपने रूप का अभिमान होता है और न ही रूप के प्रदर्शन की अभिलाषा।

बलमद

श्लोक बलसमुदितोऽपि यस्मान्नरः क्षणेन विबलत्वमुपयाति ।
बलहीनोऽपि च बलवान् संस्कारवशात् पुनर्भवति ॥८७॥
तस्मादनियतभावं बलस्य सम्यग् विभाव्य बुद्धिबलात् ।
मृत्युबले चाबलतां मदं न कुर्याद् बलेनापि ॥८८॥

अर्थ बलवान मनुष्य भी पल भर में निर्बल बन जाता है, बलहीन भी संस्कारवश वापस बलवान बन जाता है। [८७]
अतः बल के अनियतभाव और मृत्यु के बल के आगे निर्बलता का बुद्धिबल से सम्यक् पर्यालोचन करके बल होने पर भी मद नहीं करना चाहिए। [८८]

विवेचन बल की अनियतता !
बल की निर्बलता !

अपने शारीरिक बल पर मुस्ताक, अपने आप को विश्वविजेता पहलवान मानने वालों को भी क्या तुमने गलित वृषभ की भांति नीचे ढले हुए नहीं देखा क्या ? उनके सुदृढ़ स्नायुओं को ढीले होकर लटकते नहीं देखा क्या ? क्या तब तुम्हारे मन में प्रश्न पैदा नहीं हुआ कि ऐसा बलवान व्यक्ति भी बिल्कुल दुर्बल कैसे हो गया ? उसका बल कहाँ चला गया ?' परन्तु तुम्हारे मन में ऐसा प्रश्न पैदा ही नहीं होता।

निरे दुर्बल व्यक्ति को क्या तुमने महाबली बनते हुए नहीं देखा ? कुछ महिने पहले जिसकी एक एक हड्डी पसली गिनी जा सकती थी, शरीर में से खून और मांस क्षीण हो चुके थे, आज उस शरीर का

हृष्ट पुष्ट देखकर तुम्हे कोई विचार आता है या नही ? 'अरे ! यह क्या गजब ? ऐसा हृष्ट पुष्ट शरीर कहा से हो गया इसका ?' शायद इस प्रश्न का समाधान तुम्हारे मन मे ऐसा हो जाता होगा कि 'इसने किसी उत्तम वैद्य की दवाइया ली होगी । किसी निष्णात वैद्य का उपचार किया होगा । कौन सी दवाई ली होगी इसने ?' और तुमने भी शायद ऐसी दवाई खोज निकाली होगी, पर तुमने यह नही सोचा होगा कि 'ओफ्फोह, वल का कोई स्थायित्व है ही नही, वलवान को वलहीन वनते देखता हूँ, निर्वल को वलवान वनते देखता हूँ...किसी का भी वल सतत वना नही रहता, फिर मेरे आत्मन्, क्यो मुझे अपने वल पर गर्व करना चाहिये ? अभिमानी वनने मे क्या फायदा ? जव मेरा वल चला जायेगा तो दुनिया मुझपर ताने कसेगी । मैने जिनका तिरस्कार किया होगा, जिनके जिनके सामने मैने अपने वल का प्रदर्शन किया होगा, जिन दुर्वल व्यक्तियो को दु.खी किया होगा, वे सव मेरा उपहास करेगे । मेरे नाम पर थूक देगे । मेरे को दर दर की ठोकरे खानी होगी । मै तव उसका प्रतिकार भी नही कर पाऊगा ।'

मान लिया जाये कि तुम्हारे पास अद्भुत वल है, तुम्हे तुम्हारे वल पर पूरा भरोसा भी है, तुम अपने आप को विश्वविजयी समझकर दहाड रहे हो और कही से सेर के सर पर सवा सेर आ टपका और उसने तुम्हे चारोखाने चित्त पटक दिया...हरा दिया...तव तुम्हारी क्या स्थिति होगी ? तुम अपना चेहरा भी लोगो से छिपाये फिरोगे । तुम्हारे मन मे घोर पराजय की टीस उभरती रहेगी और तुम्हारी जिन्दगी पीडा और परिताप की शिकार वन जायेगी ।

जव रावण वानर द्वीप पर राजा वाली के सामने जा डटा, अपना वेजोड चन्द्रहास खड्ग लेकर, तव उसकी कैसी दुर्दशा हो गयी थी ? अजेय वाहुवली ने चन्द्रहास खड्ग के साथ दशानन को वगल मे दवोचा और पूरे जम्वूद्वीप के चारो ओर तीन वार घुमाया । रावण की क्या हालत हुई होगी ? इसका कल्पनाचित्र तो देखो । 'उसके चेहरे पर कालिख पुत गयी है...करारी हार के सताप से उसका रोया रोया जल रहा है, अपनी निर्वलता पर वो आसू वहाये जा रहा है...वाली के समक्ष सर झुकाये खड़ा है ।' और महावली वाली ? अपने वल

का जरा भी अभिमान नहीं। बिल्कुल निरभिमानी और सात्विकता की तेजोमूर्ति! उसी युद्धभूमि पर जीवनपरिवर्तन कर दिया। राजा बाली राजर्षि बाली में बदल गये। छोटे भाई सुग्रीव को कहा, 'रावण की आज्ञा शिरोधार्य करना' पराजित रावण के प्रति भी कितनी उदारता!

चाहे कितना भी बलवान क्या न हो? मृत्यु के सामने तो वो दुर्बल ही है। विश्वविजेता चक्रवर्ती भी मौत के सामने असहाय हो जाते हैं। वे जीत नहीं पाते मौत को। समुद्र की अथाह गहराई में डूबे उस सुभूम चक्रवर्ती को जरा कल्पना की आँखों से देखो तो सही! भरतक्षेत्र के छह खंड जीतकर मदोन्मत्त बना वह चक्रवर्ती जब समुद्र की गोद में समा गया होगा मौत के जबड़े में जा बैठा होगा....उस समय उसकी स्थिति कितनी दयनीय बन गयी होगी?

महान् सिकन्दर की मौत के समय उसने जो कहा, कितना मार्मिक एवं चोट करने वाला है! सेन्ट हेलेना टापु पर कैद में रहे हुए महान् सम्राट नेपोलियन का वसियतनामा (Will) पढ़ने जैसा है! मृत्यु के सामने उन सम्राटों ने, जो कि सारी दुनिया को अपने पराक्रम से चौंका देना चाहते थे, जो विवशता व्यक्त की है, उसे जानकर तुम तुम्हारे बल का मिथ्याभिमान करना छोड़ दोगे। तुम बोल उठोगे 'नहीं, बाबा नहीं, मुझे नहीं करना मेरे बल का अभिमान! कभी नहीं करना। यदि तुम्हारे पास बल है तो उसका उपयोग स्वयं की उन्नति के लिये, विकास के लिये करो। उस बल को अनियत, अनिश्चित बल को शाश्वत बनाने का भव्य पुरुषार्थ करो। आत्मा के अनंत क्षायिक बल को प्रगटाने के लिये भरसक प्रयत्न करो। शारीरिक बल का उपयोग आत्मा की शक्ति को जगाने के लिये करो।

शारीरिक बल का अभिमान तुम्हारे पास अपाय करवायेगा। तुम दूसरों को दुःख दोगे, पीड़ा पहुँचाओगे, मौत के मुँह में दूसरों को पटक दोगे, यह घोर पाप तुम्हें अनंतकाल तक भीषण संसार की चक्की में पीसता रहेगा। तुम नरक की भयंकर यातनाओं का भोग बन बैठोगे। इसलिये ग्रंथकार महात्मा कहते हैं 'बल का अभिमान न करो।' तुम अपनी बुद्धि से स्वस्थ विचारणा करो, ऐसी प्रेरणा वे दे रहे हैं। तुम अल्प समय के लिये भी स्वस्थ बनकर ग्रंथकार की बातें समझने का

प्रयत्न करो। तुम्हारे बल की यदि कोई दूसरा प्रशंसा करता है तो उसे सुनकर उन्मत्त मत बनना। अनंत अनंत दुष्ट कर्मों का सहार करने के लिये तुम्हारे बल का उपयोग करो। अपनी तमाम शक्तियों का धर्मपुरुषार्थ मे विलीनीकरण कर दो। तुम्हारा बल अक्षय एवं अनंत बन जायेगा।

लाभमद

श्लोक . उदयोपशमनिमित्तौ लाभालाभावनित्यकौ मत्वा।
नालाभे वैक्लव्यं न च लाभे विस्मयः कार्यः ॥८९॥
परशक्त्यभिप्रासादात्मकेन किंचिदुपयोगयोग्येन।
विपुलेनापि यतिवृषा लाभेन मदं न गच्छन्ति ॥९०॥

अर्थ . लाभान्तराय कर्म के उदयनिमित्तक अलाभ और लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम निमित्तक लाभ–इस तरह लाभ और अलाभ को अनित्य समझकर अलाभ मे दीनता नही करना और लाभ मे गर्व नही करना। [८९]

दूसरे की [दाता की] शक्तिरूप और अभिप्रसादरूप कुछ उपभोगयोग्य (पदार्थों) का बहुत लाभ होने पर भी श्रेष्ठ साधुपुरुष अभिमान नही करते है।

विवेचन : लाभान्तराय कर्म !

प्राप्ति मे विघ्न करने वाला कर्म !

पाँच प्रकार के अन्तराय कर्म का यह एक प्रकार है !

तुम्हे कभी ऐसा अनुभव हुआ ही होगा कि तुम्हे एक वस्तु की आवश्यकता थी, तुम्हारे किसी स्नेही–स्वजन के पास वो वस्तु थी भी सही, तुम्हारे मांगने पर भी उसने तुम्हे न दी। तब तुम्हारे मन मे विचार कौंधा होगा कि 'ऐसे उदार आदमी ने भी, उसके पास मेरी जरूरियात की वस्तु होने पर भी उसने नकार दिया। मुझे वस्तु नही दी !' तुम्हारे दिमाग में और भी खरी-खोटी कल्पनाए आ गई होगी उस व्यक्ति के बारे में। शायद तुम्हे नाराजी या नापसंदगी भी हो आयी हो उस व्यक्ति

पर ! शायद तुमने उसकी निन्दा भी की होगी ! नहीं इसमें उस व्यक्ति का तनिक भी दोष नहीं है। यदि तुम्हारे हृदय में 'कर्म-तत्त्वज्ञान' की समझ है तो तुम्हें सच्चा समाधान मिल जायगा 'अभी इन दिनों मेरे लाभान्तराय कर्म का उदय होना चाहिए इसलिए उसने मुझे जो चाहिए वो वस्तु न दी। मेरे लाभान्तराय कर्म ने उसे रोक दिया मुझे देते हुए। मेरा यह कर्म जब उदय में हो तब महादानेश्वरी के हृदय में भी मुझे दान देने का भाव पैदा न हो। जिस व्यक्ति को इस कर्म का उदय न हो वो कभी भी मांगने जाय, उसे तुरन्त मनचाही वस्तु मिल जाती है, मुझे न देने वाला दाता भी उसे दे दे।'

इतना ही नहीं, दान देने की इच्छा भी तभी हो जब 'दानान्तराय' कर्म का क्षयोपशम हो। दाता का चित्त प्रसन्न हो। तुम्हारे 'लाभान्तराय' कर्म' का क्षयोपशम हो और दाता के 'दानान्तराय कर्म' का क्षयोपशम हो। दाता का मेल हो तब तुम्हें मनचाही वस्तु की प्राप्ति हो सकती है। तुम्हारे लाभान्तराय कर्म का उदय हो और दाता को दानान्तराय कर्म का क्षयोपशम भी हो, फिर भी तुम्हें मनचाही वस्तु प्राप्त न हो। ऐसे दाता से तो कोई पा सकता है जिसके लाभान्तराय क्षयोपशम हो। इसी भांति तुम्हारे लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम हो पर दाता के दानान्तराय कर्म का उदय हो तो तुम्हें उससे कुछ नहीं मिलेगा। अर्थात् प्रिय पदार्थों की प्राप्ति अप्राप्ति में 'लाभान्तराय कर्म' और 'दानान्तराय कर्म' नियामक बनता है।

यहां ऐसा तत्त्वज्ञान पाकर अप्राप्ति में दीनता हो सकती है ? प्राप्ति में अभिमान आ सकता है ? सच्चा कार्यकारणभाव (cause & effect) जानकर हर्ष शोक के द्वन्द्व शांत हो जाते हैं। रति-अरति की उत्पत्ति नाश हो जाती है। गिन्नता और उन्मत्तता दूर हो जाता है।

तुम्हें जो चाहिए वो मिलता है तो समझना कि तुम्हारे लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम है, और जिससे मिलता है उसके दानान्तराय कर्म का क्षयोपशम है। परन्तु यह बात भूलना कि तुम्हारे लाभान्तराय का क्षयोपशम कायम नहीं रहने का। यह क्षयोपशम अनिश्चित होता है। यदि तुम्हें प्राप्ति में यदि अभिमान किया तो नहीं मिलने पर पीड़ा होगी ही।

किसी की शक्ति से, मेहरबानी से मिले भोग-उपभोग के पदार्थों पर गर्व किया जा सकता है ? यदि तुम समझदार हो, तत्त्वज्ञानी हो,

तो गर्व करना छोड़ दो। कभी भोग-उपभोग के पदार्थ न मिले तो न मिले, तुम बेचैन मत बनो। विह्वल मत बनो, रोओ मत।

कभी ऐसा भी हो...तुम्हारे लाभांतराय कर्म का क्षयोपशम हो, दाता के दानांतराय कर्म का क्षयोपशम भी हो, फिर भी अगर दाता का चित्त प्रसन्न न हो, तो तुम्हें इच्छित वस्तु नहीं मिल पायेगी। दाता की मेहरबानी पर प्राप्ति का आधार रहता है। यदि तुम साधु हो, श्रमण हो...मोक्षप्राप्ति के इच्छुक हो, परमार्थ-पथ के पथिक हो, तो तुम्हें अप्राप्ति मे खेद नही करना चाहिए। तुम्हे तो सोचना चाहिए 'चलो अच्छा हुआ...इच्छित वस्तु न मिली तो 'इच्छानिग्रह' रूप तप हुआ। मुझे तो इच्छाओं से मुक्त बनना है, इच्छाओं को पूर्ण करने के लिये यह हीरा-जनम नही मिला है।' यदि ऐसा तत्त्वज्ञानयुक्त चिंतन करोगे तो तुम्हारा मन स्वस्थ रहेगा और साधक जीवन का आनन्द पाओगे! तुम्हे किसी भी तरह की ग्लानी, खिन्नता या उदासी नही होगी।

इसी तरह तुम्हारे लाभांतराय कर्म के क्षयोपशम से, दाता के दानांतराय कर्म के क्षयोपशम से और उसके चित्त की प्रसन्नता से तुम्हें मनचाहा मिल भी जाये तो उस पर गर्व नहीं करना। इन तीनो बातो का मेल सदाकाल के लिये टिकता नहीं है। जब इन तीन बातो का सुमेल नही रहेगा और तुम्हे चाही वस्तु नही मिलेगी तो तुम्हे अत्यन्त दु:ख होगा। दाता पर गुस्सा आयेगा।

इच्छित पदार्थो की प्राप्ति मे मद नहीं करना और अप्राप्ति मे मनहूस नही बनना, ऐसी समता से आप्लावित मन मोक्षमार्ग की आराधना मे उपयोगी बनता है। ऐसा मन मनुष्य को निर्विकार आनंद की अनुभूति मे सहायक बनता है। परपदार्थ-परपुद्गल की प्राप्ति-अप्राप्ति मे कोई हर्ष या उद्वेग नहीं। महान् पुरुषो के लिये ऐसी आत्म-स्थिति साहजिक होती है। जबकि साधनाओ के मार्ग पर चलने वालों के आंतर पुरुषार्थ से साध्य बन सकती है। चाहिए ऐसी आत्मस्थिति को प्राप्त करने का लक्ष्य! गृहस्थ जीवन में जागृत मनुष्य, तत्त्वज्ञानी पुरुष इस ध्येय को सामने रखता हुआ धर्मआराधना करे तो समतापूर्ण स्थिति प्राप्त कर सकता है। साधु के लिये तो ऐसी आत्मस्थिति प्राप्त करना काफी सरल है। उसे तो इस पुरुषार्थ के लिये अनुकूल वातावरण मिला होता है, अनुकुल संयोग मिले होते हैं।

श्लोक ग्रहणोदग्राहणनवकृतिविचारणार्थावधारणाद्येषु ।
बुद्ध्यङ्गविधिविकल्पेष्वनन्तपर्यायवृद्धेषु ॥९१॥

पूर्वपुरुषसिंहानां विज्ञानातिशयसागरानन्त्यम् ।
श्रुत्वा साम्प्रतपुरुषाः कथं स्वबुद्ध्या मदं यान्ति ? ॥९२॥

अर्थ ग्रहण [नये सूत्रार्थ को ग्रहण करने में सक्षम] उदग्राहण [दूसरों को सूत्रार्थ देने में समर्थ] नवकृति [अभिनव शास्त्र बनाने में समर्थ] विचारणा [सूक्ष्म पदार्थ जैसे की आत्मा, कर्म इत्यादि में युक्तिपूर्वक जिज्ञासा] अर्थावधारणा [आचार्यादि के मुखकमल से निसृत शब्दार्थ को एक ही बार में ग्रहण करने में सक्षम] आदि [धारणा] होने पर भी, बुद्धि के अंगों के [सुश्रूषा, प्रतिप्रश्न, ग्रहण इत्यादि] के जो विकल्प, कि जो विकल्प अनंत पर्यायों से वृद्ध [क्षयोपशम-जनित विशिष्ट बुद्धि प्रकार] हैं उनके होने पर भी। [९१]

पूर्वकाल के पुरुषसिंहों के [गणधर चौदह पूर्वधर वगैरह के] विज्ञान के प्रकर्षरूप सागर की अनंतता जानकर, वर्तमानकालीन (पंचम आरे के) पुरुष कैसे अपनी बुद्धि का अभिमान कर सकते हैं ? [९२]

विवेचन यदि तुम्हें तुम्हारी बुद्धि का गर्व है, कुछ एक मूर्ख मनुष्यों के बीच यदि तुम 'बुद्धिमान्' के रूप में पूजे जाते हो और इस बात का तुम्हें अभिमान है तो तुम मेरे निम्न प्रश्नों का जवाब दोगे ? सोच समझकर देना जवाब !

१ किसी भी पुस्तक की सहायता के बिना, संस्कृत-प्राकृत किसी भी भाषा के सूत्रपाठ को मात्र सुनकर तुम याद रख सकते हो ? किसी भी शास्त्रपाठ के अर्थों को केवल सुनकर तुम याद रख सकते हो ? तुम्हारी स्मरणशक्ति का तुमने कोई माप निकाला है ? दिन और रात में कितने घंटों तक तुम सूत्रार्थ ग्रहण करते हो ?

२ जो सूत्र तुमने याद किये हैं वो तुम दूसरों को पढ़ा सकते हो ? जो अर्थज्ञान तुम्हारे पास है, वो तुम दूसरों को दे सकते हो ? दूसरों की बुद्धि में उतार सकते हो ? दूसरों को अर्थबोध करवा सकते हो ?

पढ़ना अलग बात है, पढाना अलग बात है! पढाने के लिये विशिष्ट बुद्धि अपेक्षित है, क्या तुम्हारे पास ऐसी बुद्धि है?

३ क्या तुम कोई नयी ग्रन्थरचना कर सकते हो? कोई भावगंभीर काव्यरचना कर सकते हो? कोई 'नैषधीय महाकाव्य' या 'हीरसौभाग्य महाकाव्य' जैसी अद्भुत काव्यरचना कर सकते हो? कोई 'प्रशमरति' या 'योगशास्त्र' जैसे आध्यात्मिक और तात्त्विक ग्रन्थों का प्रणयन कर सकते हो? अरे! 'उपमिति' जैसा लालित्यपूर्ण कथाग्रन्थ रचने की क्षमता भी है सही तुम्हारी?

४. आत्मतत्त्व का द्रव्य-गुण और पर्याय से कभी चिंतन किया है? आत्मा की स्वभावदशा और विभावदशा का मनन किया है कभी? उत्पत्ति, स्थिति और लय के सिद्धान्तों से आत्मा को पहचाना है? जाना है? कभी चिंतन की अथाह गहराईयों मे प्रवेश पाया है? कर्मो के बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता का चिंतन किया है कभी? बद्ध, पृष्ट, निधत्त और निकाचित कर्मबंध के विषय मे गहरा चिंतन किया है? आश्रव, संवर और बंध-मोक्ष के विषय मे घंटो तक धाराप्रवाही अनुप्रेक्षा की है अपनी बुद्धि से? तुम अपने आपको प्रज्ञावान् समझते हो न? तो क्या तुम्हारी इस बुद्धि का सूक्ष्म विषयो मे चचूपात भी हो पाया है?

५. जिनके पास तुम अध्ययन कर रहे हो वे तुम्हे एक विषय एक ही बार समझाये और तुम उसे बराबर ग्रहण कर लो, ऐसी तुम्हारी बुद्धि है सही? दो तीन बार उस विषय का पुनरावर्तन न करना पड़े न? चाहे फिर विषय कोई भी हो! गणित हो, आचारमार्ग का हो या द्रव्यानुयोग का हो, एक बार समझाने पर तुम समझ लेते हो न?

६. तुम जो कुछ भी पढ़ते हो, उसकी धरणा यथारूप से हो जाती है? भूल तो नही जाते हो न? स्मृति की मंजूषा मे रखा ज्ञान गायब तो नही हो जाता है न? स्मृति भी आखिर बुद्धि का ही एक प्रकार है। तुम्हारी स्मृति को टटोलो! अभिमान किया जा सके ऐसी स्मृति है सही?

मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से प्रगट होने वाले मतिज्ञान के स्वरूप को तुमने जाना है? मतिज्ञान की विराट विषयभूमि को पहचाना है?

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के विषय ह दुनिया के सारे पदाथ ! अनत द्रव्य ! जितन द्रव्य उतने ही मतिज्ञान के विकल्प ! मतिज्ञान यानी बुद्धि ! मतिज्ञान यानी प्रज्ञा ! बुद्धि के अनत विकल्प ह ! कहो, तुम्हारे पास कितन विकल्प ह बुद्धि के ? कितन द्रव्या का तलस्पर्शी ज्ञान ले पायी है तुम्हारी बुद्धि ?

एक और बात एक साथ अनेक व्यक्ति अलग अलग शब्द बोलते हैं, क्या तुम उन सब शब्दो को सुनकर उसी ढग से अलग अलग शब्दो को अपनी स्मृति मे बाध सकते हो ? है ऐसी ग्राहकता ? एक साथ एक के बाद एक सौ शब्द तुम्ह सुनाय जाय, उसी क्रम स तुम क्या याद रख पाओग उन शब्दो को ?

मतिज्ञान के, बुद्धि के आठ प्रकार तुम जानत हो सुश्रुषा इत्यादि ? तुम्ह मालूम है उसके अवातर कितने प्रकार हैं ? अनत ! वो नही सही, तुम्हारे पास औत्पातिकी बुद्धि ह नही ? जो कि अभयकुमार के पास थी। प्रश्न करन के साथ ही मार्मिक जवाब देन की बुद्धि है तुम म ? तो फिर अभिमान किस बात का ? हाँ ऐसी विशिष्ट बुद्धि हो और अभिमान करो तो वो ठीक भी है ! ऐसी विशिष्ट बुद्धि नही है तो फिर अभिमान करना निरा बचकानापन है।

क्या तुम व्यवस्थित तर्क (Argument) भी कर सकत हो ? तर्क के सामने प्रतितर्क कहा तक कर सकते हो ? दलील के सामन दलील कहाँ तक टिकती है तुम्हारी ? तुम्हारे तर्क को, तुम्हारी दलील को कोई तोड ना सक, काट ना सके ऐसी अकाट्य दलील करनी आती ह तुम्हें ? मात्र चोचलेबाजी करना दलील नही ह, तर्क नही है। तर्क का भी अपना शास्त्र ह सविधान है ! जानत हो उस शास्त्र को ? यदि नहीं जानत तो अभिमान करना छोड दो, बुद्धिमत्ता का स्वीकार कर लो, इसमे तुम्ह नीचा नही देखना होगा मूर्ख नही कहग लोग तुम्ह !

तुमन अपन स कम बुद्धि वाले मनुष्यो को देखकर अपने आप के लिय कल्पना बना ली कि 'म बुद्धिशाली, मर जसा प्रज्ञावान् कोई नही !' बराबर है न ? पर जरा अनत अतीत की ओर निगाह तो डालो ! भूतकाल मे हो गय अनेक बुद्धिनिधान महापुरुषों के साथ जरा तुलना

तो करो अपने आपकी। तुम्हे शर्म आयेगी। तुम अपने आपको वामन पाओगे उन विराट व्यक्तियो के आगे।

श्रमण भगवंत महावीर के सबसे छोटे शिष्य प्रभास गणधर को ही लो, केवल सोलह वर्ष की आयु मे उन्होने द्वादशागी की रचना कर डाली! मात्र त्रिपदी का आधार लेकर द्वादशागी की रचना! 'उपन्नेई वा विगमेई वा धुवेईवा' इन तीन पदो के आधार पर जो कि परमात्मा ने दिये थे, अनत सागर सी द्वादशागी की रचना कर दी। उन चौदह पूर्ववरो के सामने देखो। उन ग्यारह अग के ज्ञाता मनीषिओ की ओर नजर डालो, अत्यन्तसूक्ष्म प्रज्ञावान सिंह जैसे पराक्रमी पुरुषो का विचार करो। क्रोधादि कषायों के विजेता और इन्द्रियों के उन्माद का उपशमन करने वाले वो सच्चे सिंह है। चाहे जैसे आतर-बाह्य उपद्रव को समता-पूर्वक वीरता से सहन करने वाले उन प्रज्ञावान पुरुषो के विचार करोगे तो तुम्हारा सारा गर्व चूर चूर हो जायेगा। तुम्हे लगेगा 'मै तो कुछ भी नहीं हूँ।'

सारे शास्त्रो का, सभी ग्रन्थों का सूक्ष्मता से अवगाहन करने वाली बुद्धि के साथ तुम्हारी बुद्धि की तुलना करो। जिन महापुरुषो के पास वैक्रिय-लब्धि, आकाशगामिनी-लब्धि और तेजोलेश्या जैसी महान् शक्तियाँ थी, उनके सामने अपने आपको खडा करके सोचो। इन लब्धियो मे से एकाध लब्धि की भी तुम तुलना कर सकते हो अपनी बुद्धि से? अनत ज्ञान-विज्ञान के महासागर की तुलना करने की बजाय उस महासागर के किनारे बैठकर थोडा आचमन भी कर लोगे तो तुम्हारी जिन्दगी धन्य बन जायेगी। बुद्धि का अहकार छोड़कर, विनयी और विनम्र बनकर तुम्हारी बुद्धि को उस श्रुत-सागर मे डूबो दो!

उन गणधरो की या चौदह पूर्वीयो की बात जाने दो। उनके बाद मे हुए महान् श्रुतधर आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, वादिदेवसूरि, मल्लवादी, हरिभद्रसूरि, हेमचन्द्राचार्य, उपाध्याय यशोविजयजी जैसे प्रखर मनीषियो के ग्रन्थो को यथार्थरूप मे समझने की क्षमता है तुम्हारी बुद्धि मे? उन ग्रन्थो को समझने की बुद्धि भी नही, तो फिर उन ग्रन्थो जैसी ग्रन्थरचना करने की बात ही कहा?

उन धर्मग्रन्थो की बातें छोडो, वर्तमानकालीन विज्ञान के ग्रन्थो को

समझने की भी बुद्धि है सही? आईंस्टीन के सापेक्षवाद के सिद्धान्त को समझने की क्षमता है? परमाणुवाद के रहस्यों को समझ पायी है तुम्हारी बुद्धि? विज्ञान की अनेक शाखाओं के अनेक गहन गंभीर ग्रंथों को यथार्थरूप में जानने पहचानने की भी बुद्धि नहीं है तो बुद्धि का अभिमान करना क्या उचित होगा? यदि तुम अपनी आंखों के आगे अपने से ज्यादा बुद्धिमान महापुरुषों को रखोगे तो तुम्हें अभिमान नहीं आयेगा। चाहे तुम्हारे चौतरफ ऐसे प्रकृष्ट बुद्धिवाले व्यक्ति भी न हों, अल्पबुद्धि वाले मनुष्य हों, परन्तु कभी भी भूले मत करना। तुम्हारी बुद्धि की प्रशंसा सुनकर भी गर्व मत करना। तुम्हारी प्रशंसा करने वालों को कहना 'महाशय, मेरी तो बुद्धि कुछ नहीं है। अद्भुत एवं अनंत बुद्धिवैभव वाले महापुरुषों के आगे अपनी तो कोई कक्षा ही नहीं है।' ऐसी नम्रता तुम्हें उन महापुरुषों के अद्भुत बुद्धिवैभव का अधिकारी बनायेगी।

लोकप्रियता मद

श्लोक द्रमकैरिव चाटुकर्मकमुपकारनिमित्तकं परजनस्य ।
कृत्वा यद्वाल्लभ्यकमवाप्यते को मदस्तेन ? ॥९३॥
गर्वं परप्रसादात्मकेन वाल्लभ्यकेन यः कुर्यात् ।
तद्वाल्लभ्यकविगमे शोकसमुदयः परामृशति ॥९४॥

अर्थ भिखारीओं की तरह उपकारनिमित्तक दूसरे व्यक्ति का चाटुकर्म (प्रिय भाषण) करके लोकप्रियता मिलती है उसका गर्व क्या करना? (९३)

दूसरों की कृपारूप लोकप्रियता से जो अभिमान करता है, लोकप्रियता जाने पर उसे शोक आ घेरता है। (९४)

विवेचन तुमने तुम्हारी गली या मुहल्ले में कभी भी ऐसे याचना करते हुए भिखमंगों को देखा है? घर घर पर जाकर दर-दर पर भटकते हुए, दूसरों की स्तुति प्रशंसा करते हुए किसी भिखारी को कभी देखा भी है? वो बेबसीभरी आवाज और स्तुति प्रशंसा सुनकर दाता को दया आ जाती है और वो भिखमंगे को टुकड़ा रोटी डाल देता है।

सुनायी दे तो उन्हे कोई रोष या रीस नही होती। निन्दा और प्रशसा मे समभाव से स्थिर बनकर वे अपने कर्तव्य की पगडंडी पर चलते रहते है। परहित-परकल्याण की परमपवित्र भावना से सभर हृदय मे वे निरन्तर सत्प्रवृत्ति करते रहते है। ऐसे उत्तम पुरुष ही वास्तविक लोकप्रियता को पा सकते है और उनकी लोकप्रियता अनेक जीवात्माओ को धर्ममार्ग की आराधना मे सहायक बनती है। दुनिया के लोग ऐसे महापुरुषो की बातो को मान्य करते है। उनकी प्रेरणा को सहर्ष स्वीकारते है, चू कि मनुष्य का यह स्वभाव है कि 'वो जिसे चाहता है उसकी बात अधिकाशत· वो मानता है, उसके वचनो को स्वीकारता है और उसकी प्रेरणानुसार जीवन बनाता है।

ऐसे महापुरुषो को कभी दीनता या विवशता का सामना नही करना पडता। कभी उन्हे अपने कार्य पर पश्चात्ताप नही होता। कभी वे सत्कार्य करके अपने आपको कोसते नही। 'लोकप्रियता' के लिये उनकी यह समझ स्पष्ट होती है कि 'यशः नामकर्म' से यश मिलता है और 'अपयश नामकर्म' से अपयश मिलता है।'

श्रुतमद

श्लोक : माषतुषोपाख्यानं श्रुतपर्यायप्ररूपणां चैव ।
श्रुत्वातिविस्मयकरं विकरणं स्थूलभद्रमुने ॥९५॥
संपर्कोद्यमसुलभं चरणकरणसाधकं श्रुतज्ञानम् ।
लब्ध्वा सर्वमदहरं तेनैव मदः कथं कार्य. ? ॥९६॥

अर्थ माषतुष मुनि का कथानक (सुनकर) तथा आगम के भेदो की प्ररूपणा सुनकर, अति विस्मयजनक स्थूलभद्र मुनि का विकरण (वैक्रिय सिंह रूप का निर्माण एव श्रुतसप्रदायविच्छेद) सुनकर (९५)

सम्पर्क (बहुश्रुत आचार्यादि के साथ) और उद्यम से सुलभ, चरण-करण का साधक श्रुतज्ञान जो कि जात्यादि सभी मदो का नाश करने वाला है, उसे पाकर उसमे ही क्या मद करना ? (९६)

विवेचन . हे माषतुष मुनिराज !

गुरुदेव ने तुम्हे मात्र दो पद दिये याद करने के लिये ! 'मा रुष मा तुष' द्वेष मत कर राग मत कर। तुम्हारी स्मरणशक्ति इतनी तो कमजोर है कि तुम इन दो-पदों को भी सांगोपांग याद नही कर सकते। 'मा रुष मा तुष' की बजाय 'मासतुष मासतुष' रटने लगे। गुरुदेव ने तुम्हारी भूल बतायी 'मासतुष' नहीं अपितु 'मा रुष मा तुष' ऐसा बोलो, तुम दो हाथ जोडकर मस्तक झुका कर कहते हो 'मिच्छामि दुक्कडम्' और 'मा रुष मा तुष' बोलते हो परन्तु फिर भूल हो जाती है ! 'मास तुष' बोलने लगते हो, गुरुदेव फिर प्रेम भरे शब्दो मे भूल सुधारते हैं। तुम फिर 'मिच्छामि दुक्कड' कह देते हो पर वापस भूल हो जाती है।

गुरुदेव झुंझलाये बिना भूल सुधारते है, तुम जरा भी गुस्सा किये बिना भूल को स्वीकार करते हो और 'मा रुष मा तुष' याद करने का प्रयत्न करते हो। तुम याद नही कर पाते हो। दीन बीतते है। महिने बीतते है। बरसो पसार होते हैं। चाहे तुम 'मा तुष मा रुष' दो शब्द याद नहीं कर पाते पर उन दो शब्दो मे जो उपदेश है, वो तुम्हे याद हो जाता है। वो उपदेश तुम्हारी आत्मा के अणु अणु मे फैल जाता है। तुम्हारा मन राग और द्वेष से मुक्त बनता जाता है और तुम्हारी आत्मा अपूर्व समतायोग मे स्थिर बन जाती है। एक दिन तुम राग द्वेष की समूची जाल को काट कर सर्वज्ञ वितराग बन जाते हो। अनंत अनंत ज्ञान का आविर्भाव हो जाता है तुम्हारी आत्मा मे ! ओ मुनि-भगवंत ! आपको तो दो पद भी याद न रहे, फिर भी आपको केवल-ज्ञान मिल गया ! जबकि मैंने तो हजारों पद कंठस्थ कर डाले हैं तो भी केवलज्ञान की किरन भी मुझसे लाखो माईल दूर है। मुझे अपने श्रुतज्ञान का मिथ्या गर्व है। जो श्रुतज्ञान आत्मा को समता और वीतरागता के निकट न ले जा सके उस श्रुतज्ञान पर अभिमान क्या करना ? और फिर मेरे पास तो श्रुतज्ञान है भी कितना अल्प ! एक आगम ग्रन्थ के एक सूत्र के कितने अर्थ होते है ? क्या मुझे उन सब अर्थों का ज्ञान है ? नही ! अरे ! एक सूत्र का पूरा अर्थ भी ढंग से करना नही आता ! ऐसे अति अल्प श्रुतज्ञान पर गर्व क्या करना था ? महान् श्रुतधर पुरुषो ने एक एक सूत्र के सो सो अर्थ, हजार हजार अर्थ किये है, ऐसे अर्थ करना तो मेरी कल्पना से भी दूर दूर है। इन अर्थों

को पूर्णतया समझने की क्षमता भी मुझमे नही है। फिर क्यो अभिमान करना ?

जब प्रात स्मरणीय श्री स्थूलभद्र महामुनि जैसे अगाध ज्ञानी महर्षि के सामने देखता हूँ तब तो कभी भी श्रुतज्ञान का अभिमान नही करने की प्रतिज्ञा कर लेता हूँ।

जब आर्याए यक्षा यक्षदिन्ना वगैरह भगिनी आर्या भ्राता मुनिवर को वदना करने आती है, महामुनि मनमे सोचते है . 'भगिनी आर्याओ को मेरा ज्ञानातिशय वतलाऊ! मेरी वैक्रिय लब्धि का चमत्कार वतलाऊ!' उन्होने सिह का रूप वनाया। आर्या यक्षा आदि जब गुरुदेव भद्रवाहु स्वामी को वदना करके भाई मुनिराज को वदना करने आती है और भाई के स्थान पर सिह को देखकर चौक उठती है, भद्रवाहु स्वामी के पास आकर कहती है 'वहाँ तो भाई महाराज नही है, वहाँ तो एक सिह बैठा है!' गुरुदेव ने ज्ञान के प्रकाश मे पाया कि 'यह तो स्थूलभद्र ने अपनी वैक्रिय लब्धि फैलाई है, वहिन साध्वीओ को अपनी ज्ञानशक्ति से प्रभावित करने के लिये!' उन्होने साध्वीजी से कहा : 'जाओ, अब तुम्हे वहाँ तुम्हारे भाई महाराज के दर्शन होगे।' आर्याए आती है, भाई मुनिवर के दर्शन कर के प्रसन्न बन जाती है। भाई मुनिराज के ज्ञानातिशय पर मुग्ध बन जाती है। पर गुरुदेव भद्रवाहु स्वामी की ज्ञानदृष्टि मे स्थूलभद्र मुनि अपात्र वन जाते है, शेष चार पूर्वो के ज्ञान की प्राप्ति के लिये!

जब श्री स्थूलभद्रजी भद्रवाहु स्वामी के पास वाचना लेने के लिये जाते है तब भद्रवाहु स्वामी इनकार कर देते है। अब तुम्हे 11 से 14 पूर्व की वाचना नही मिलेगी!' स्थूलभद्रजी खूब विनती करते है पर भद्रवाहु स्वामी सहमत नही होते हैं। अन्त मे श्रावक सघ के अति आग्रह से 11 से 14 पूर्वो के मूलसूत्रो की वाचना दी, अर्थ न दिये सो नही दिये।

एक ही वार किया हुआ लब्धि-प्रदर्शन कितना खतरनाक बन गया ? स्थूलभद्र जैसे उच्च कक्षा के महर्षि को भी अपात्र वना दिया, तो फिर दूसरो की तो बात ही कहाँ! उच्च कक्षा का शास्त्रज्ञान अभिमानी को नही पचता है। विकृत बन जाता है। अत. अभिमानी व्यक्ति शास्त्रज्ञान के लिये अपात्र बन जाता है। जिन्हे उच्च कक्षा का शास्त्रज्ञान पाना है उन्हे अभिमान की आग से दूर रहना चाहिए।

महान् ज्ञानी पुरुषों के परिचय में और सतत पुरुषार्थ से श्रुतज्ञान प्राप्त होता है। जिस श्रुतज्ञान से चरण और करण की आराधना कर के, सभी तरह के मदों का समूलोच्छेदन करना है, उसी श्रुतज्ञान को पाकर मदोन्मत्त बनना क्या उचित है? प्रकाश से तो अंधकार को दूर हटाना है। यदि अंधकार दूर न हटता हो तो वो प्रकाश कैसा?

जिस ज्ञान से आत्मा पर छायी अज्ञान की बदली हटती नहीं, उस सम्यग्ज्ञान कैसे कहा जा सकता है? सम्यग्ज्ञान से तो जीवात्मा के राग द्वेष और मोह दूर होने चाहिए। अभिमान का अंधापन दूर होना चाहिए। अध्यात्म बिना का शास्त्रज्ञान संसार में भटका देगा तुम्हें, यह मत भूलना।

मदों का परिणाम

श्लोक एतेषु मदस्थानेषु निश्चयेन च गुणोऽस्ति कश्चिदपि।
केवलमुन्मादः स्वहृदयस्य संसारवृद्धिश्च ॥९७॥

अर्थ इन जाति आदि आठों मदस्थानों में परमार्थदृष्टि से तो सचमुच कोई गुण है ही नहीं, यदि कुछ भी है तो मात्र अपने हृदय का उन्माद और संसार की वृद्धि।

विवेचन इतना समझने के बाद क्या तुम्हें लगता है कि इन आठ मदों में से एक भी मद करने जैसा है? अभिमान करने में कोई फायदा नजर आता है? चाहे तुम्हें पारलौकिक दृष्टि से कोई नुकसान मालूम न पड़ता हो, पर क्या वर्तमान जीवन के दृष्टिकोण से भी कोई नुकसान नजर नहीं आता?

इन सब बातों को तुम तब तक नहीं समझ पाओगे जब तक कि तुम किसी भी मद की असर से घिरे हुए हो। जिस दिन जिस क्षण में तुम्हारे पर किसी भी तरह के मद का असर न होगा उस दिन उस क्षण में यदि तुम्हारे हाथों में ऐसा कोई ग्रन्थ आ गया, ऐसा किसी सत्पुरुष का समागम हो गया तो इन बातों को तुम भली भांति समझ पाओगे। ये बातें तुम्हारे पर गहरा असर छोड़ेगी। तुम मन ही मन संकल्प कर लोगे कि 'अब मैं कभी भी बल का, बुद्धि का या ज्ञान

का...कोई भी अभिमान नही करु गा।' तव तुम्हे इन अभिमानो के दुष्परिणाम समझ मे आयेंगे।

गुरुकृपा के तुम पात्र क्यो नही वन पाये? क्यो तुम्हे वडो के आशीर्वाद नही मिल पाते? क्यो तुम्हे स्नेही-स्वजनो का प्यार या प्रीत नही मिल पाती? मित्र और दोस्त क्यो तुम से दूर दूर रहना पसद करते हैं? तुम्हे कबूल करना ही होगा कि तुम्हारे व्यक्तित्व मे धवकती किसी अभिमान की चिनगारी ने ही ये सारी परिस्थितियाँ पैदा की है। आज तुम्हारे लिये किसी के भी हृदय मे न तो सच्चा प्रेम है, नही सच्चा स्नेह या विश्वास है। चूकि सब की निगाहों में तुम अभिमानी के रूप मे वैठे हो। तुम्हारी उन्मत्तता ने सबके हृदय मे तुम्हारे प्रति नापसदगी पैदा की है। अभिमान के उन्माद मे वोले गये तुम्हारे कटू वचनो ने अनेको के कोमल हृदय को वीध दिया है। कितनो के दिलो को ठेस पहुँचायी है। किसी दुष्ट व्यतर का मानो तुम्हारे हृदय मे प्रवेश हो गया हो...ऐसा वर्तन किया है तुमने सबके साथ! इस कारण तुम्हारे जीवन मे शून्यता छा गयी है। तुम्हारे हृदय को तो देखो, कितना चचल, अस्थिर और उद्विग्न वन गया है! क्या तुम्हे ऐसा हृदय पसद है? ऐसा हृदय तुम्हे आनन्द...प्रसन्नता की अनुभूति क्या दे सकता है? तो फिर तुम क्यो इन मदस्थानो का परित्याग नही करते हो? कर दो त्याग इन पापी मदस्थानो का। जिससे ऐसे कोई पापकर्म न वधे कि संसार मे दीर्घकाल तक भटकना पड़े और अनत अनत जन्म-मृत्यु के दुखो को सहना पड़े। चाहे कितनी धर्मसाधना हो, कितना भी त्याग और तप हो,.. व्रत और महाव्रत का पालन हो, पर यदि एकाध मद के सिकजे मे फस गये तो अनत अनत ससार की गर्ता मे डूवे समझो! 'मरिचि' का कथानक जरा ध्यान से सोचो। अपने कुल की उत्तमता के अभिमान मे उलझी उनकी आत्मा कैसी भटक गयी? चाहे क्यो न फिर वो तीर्थकर की आत्मा हो! अतः स्वप्न मे भी अभिमान की आग का स्पर्श मत करना।

विनय और नम्रता के दिव्य पुष्पों को तुम्हारे हृदय के वगीचे मे खिलने दो!

श्लोक जात्यादिमदोन्मत्त पिशाचवद् भवति दुःखितश्चेह ।
जात्यादिहीनतां परभवे च निःसंशयं लभते ॥९८॥

अर्थ जाति वगैरह के मद से उन्मत्त [मनुष्य] इस भव में पिशाच की भांति दुःखी होता है और परलोक में अवश्यमेव हीन जाति को प्राप्त करता है।

विवेचन एक नगर था। उसमें एक ब्राह्मण रहता था। नाम था उसका 'शुचि पिशाच'। पक्का शौचवादी था वो। पर उसकी दृष्टि अशुचिवादी बन गई थी। उसे सारे नगर में अशुचि और अपवित्रता ही नजर आती थी। एक दिन उसने नगर को छोड़कर दूर-दूर कहीं अन्जान प्रदेश में जाने का सोचा। जहां कोई व्यक्ति बसता न हो। वो एक जहाज में बैठकर समुद्र के बीच एक द्वीप पर जा पहुँचा। द्वीप निर्जन था। शुचि पिशाच तो खुशी के मारे झूम उठा।

उस द्वीप पर गन्ने के ढेर सारे खेत थे, पर इस शुचि पिशाच को तो रास्ते में ही पड़े हुए मीठे फल मिल गये। उसने फल चखे तो उसको बहुत मधुर लगे। उसे तो रोज का भोजन मिल गया। अपने आपको पवित्रतम मानता हुआ वो शुचि पिशाच उसी द्वीप पर अपने दिन बिताने लगा। वहाँ एक दिन उसने एक आदमी को देखा। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। जहाँ पशु पक्षी भी कम नजर आते थे, ऐसे निर्जन द्वीप पर अकेले इस आदमी को देखकर वो ठिठक सा गया। उसने उससे पूछा 'कौन हो तुम? क्या इधर आये हो?' उसने कहा 'महानुभाव, मैं भी तुम जैसा ही इन्सान हूँ, समुद्री बेड़े के साथ दूर देश में जा रहा था, रास्ते में तूफान की चपेट में आकर मेरा जहाज टूट गया, मैं तैरता हुआ इस द्वीप पर आ पहुँचा। वैसे तो व्यापारी हूँ परन्तु इस जगह पर मजबूर बनकर रहा हूँ। हालांकि जगह तो काफी सुन्दर है पर आपकी तारीफ?' शुचि पिशाच ने कहा 'मैं शौचवादी ब्राह्मण हूँ। गाँव गाँव नगर-नगर में सर्वत्र अशुचि होने से यहाँ पर आकर रहा हूँ।' व्यापारी ने ताज्जुब करते हुए पूछा 'पर तुम यहाँ खाते क्या हो?' शुचि पिशाच ने कहा 'यहाँ तो मुझे जमीन पर ही फल मिल जाते हैं। बड़े स्वादिष्ट होते हैं। बस, उनसे पेट भर जाता है।'

व्यापारी सोचने लगा : 'इस जमीन पर पड़े हुए कोई फल मेरी निगाह मे तो आये नही और ये जनाव तो वो खाते हैं, उसने पूछा : 'मुझे वतलाओगे वो फल ? कहा है ?' 'क्यो नही ? चलिये मेरे साथ।' कहकर शुचि पिशाच उस व्यापारी को वहां ले गया जहाँ वे फल विखरे हुए थे। फल वतलाकर उसने कहा 'ये फल मैं रोजाना खाता हूँ।' व्यापारी तो फल देखकर हस पडा। उसने कहा . 'जनाव ये फल नही है...ये तो...

'तो क्या है यह, तुम हस क्यो रहे हो ?'

व्यापारी ने कहा 'महानुभाव, इस जगह पर तो मे रोज शौच करने आता हू...यह तो मेरी विष्टा है। मैं यहां गन्ने का रस पीता हूँ, अत मेरी विष्टा भी मधुर लगती है तुम्हे! तुम्हे यह फल पसद आ गये। आहा! क्या कहना, आप तो पूरे के पूरे नापाक हो गये!' व्यापारी मारे हसी के वल खा गया। शुचि पिशाच तो हक्का-वक्का रह गया। 'अरे रे...मैं तो पूरी तरह अशुद्ध हो गया।' उसका पवित्रता का अभिमान पानी-पानी हो गया। उस द्वीप को छोडकर वो दूसरी जगह गया। वहा फिर पक्षियो के जूठे फल खाने पडे उसे। वहाँ से ही तीसरी जगह गया...यो भटक-भटक कर उसने जिन्दगी पूरी कर दी।

जाति, कुल, रूप आदि का मद करके उन्मत वना मनुष्य इस शुचिपिशाच की तरह दुखी होता है। उसके अभिमान को जव कोई दूसरा चूर-चूर कर डालता है तव उसका हृदय टूट जाता है। अभिमान तो किसी का भी नही रहा ससार मे, और न ही रहेगा कभी। शेर के सर पर सवा शेर होता ही है। जव अभिमानी का अभिमान खडित होता है...उसकी सारी इज्जत मिट्टी मे मिल जाती है तव उसके दुख की कोई सीमा नही रहती।

अभिमान की उन्मत्तता मे वधे पापकर्म जव उदय मे आते है तव दुख और त्रास का पार नही रहता। मनुष्य जिस वात का ज्यादा अभिमान करता है, कर्म उस वात को ही छीन लेते है उससे। जाति का अभिमान करने वाले को हीन जाति मे जन्म दे देता है। रूप पर झूमने वालो को तो ऐसा वेडौल शरीर देगा कि दुनिया उस पर

थूके । बल के अभिमानी का ऐसा बेबस बनायेंगे ये कम, कि लोग उसका मखौल उडायें । लाभ का गर्व करने वालों को ऐसा भिखमगा बनायेंगे कि दर-दर पर भटकने पर भी दो टूक रोटी न मिले । बुद्धि पर मुस्ताक मानव को ऐसा निपट मूर्ख बनायेंगे कि छोटे बच्चे भी उसकी हँसी उडाते फिरे । लोकप्रियता पर मगरूर व्यक्ति इतना तिरस्कृत होगा कि उसे कोई चाहने वाला ही न मिले । श्रुतज्ञान के अभिमानी का परलोक मे ऐसा जीवन मिलता है कि उसकी आत्मा अज्ञान के अधकार मे घिरी रहे ।

य कोई डराने की बात नहीं ह । नि शक बातें हैं ! सर्वज्ञ परमात्मा की ज्ञानदृष्टि म यह कार्य-कारण भाव स्पष्ट है । जिस बात का तुम अभिमान करोगे वो बात तुम्हारे पास टिकेगी ही नही । इसलिये ज्ञानी पुरुष अभिमान करने की मना कर रहे हैं । अत्यन्त करुणापूर्ण हृदय से अभिमान का त्याग करने की अपील कर रहे हैं ।

तुम्हारे पास यदि वर्तमान जीवन म उच्च कक्षा के जाति-कुल-रूप-बल इत्यादि है और तुम अगर इसका अभिमान नहीं करते हो, तो जन्मातर म तुम्हें इसस भी श्रेष्ठ रूप-बल वगैरह मिलेंगे । यो उत्तरोत्तर तुम्हें श्रेष्ठ सुख व साधन मिलेंगे आखिर म तुम अनामी, अरूपी और अजर अमर बन जाओगे ।

तो फिर इस लोक म अनर्थो की परपरा फैलाने वाले इस अभिमान को जीवन म क्या स्थान देना चाहिए ? दु ख के दावानल को प्रज्वलित करने वाले इस गर्व को आत्म भूमि म से उखाड फेंकना चाहिए । आत्मगुणो का नाश करने वाले जाति वगैरह मद की छाया भी अपने पर न गिरे इसकी सावधानी बरतना अति आवश्यक है । चाहे जैसे ऊँची कक्षा के जाति रूप-कुल-बल वगैरह मिले, उस पर कभी गर्व मत करना । देखना, यही जिंदगी की अनमोल घडियाँ अभिमान की आग म राख न हो जायें ।

मदत्याग के उपाय

श्लोक : सर्वमदस्थानानां मूलोद्घातार्थिना सदा यतिना ।
आत्मगुणैरुत्कर्षः परपरिवादश्च सन्त्याज्यः ॥६६॥

अर्थ सारे मदस्थानो का मूल जो [गर्व] है उसका विनाश चाहते हुए साधु को सदैव अपने गुणो से गर्वित नही बनना चाहिए और दूसरो का अवर्णवाद छोड देना चाहिए ।

विवेचन : क्या आत्मा के ऐसे भयकर हालहवालात करने वाले मदस्थानो का नाश करना है ? तो उसके मूल (Root) का नाश करना होगा। सारे मदस्थानो की जड है 'मान-कषाय ।' मान-कषाय का मूल है 'अह' की कल्पना । तुम्हे अह को भूलना होगा । 'मैं कुछ हूँ' I am something इस विचार से मुक्त बनना होगा। अह की जागृति मनुष्य मे दो बडे दुर्गुण पैदा करती है। १ अपने गुणो का गर्व और २. दूसरो का अवर्णवाद !

तुम्हे यदि भयस्थानो का त्याग करना है तो तुम्हारे गुणो की प्रशसा मत करो। 'मेरा रूप कितना लुभावना है ! मेरे जैसा सुन्दर कोई नही ! मेरा बल अजेय ! मेरे जैसा बलवान कोई नही ! मेरी बुद्धि के आगे तो अच्छे-अच्छे विद्वान् भी फीके पडते है।...मेरा ज्ञान अद्वितीय...मेरे ज्ञान की तुलना मे दूसरे किसी का ज्ञान नही !' तुम अपने आप की प्रशसा के गीत गाना बन्द कर दो ! इसके लिये तुम अपनी मनोवृत्तियाँ बदल दो। 'मेरे से तो कई महापुरुष श्रेष्ठ है...उन महापुरुषो के बल...बुद्धि...ज्ञान इत्यादि के आगे मेरी तो कोई गिनती ही नही है !' इस विचार को दृढ करो। दूसरो के बल, बुद्धि, ज्ञान वगैरह की भर्त्सना मत करो। दूसरे जीवो का अपमान मत करो। 'इसमे तो जरा भी बुद्धि नही है, निपट मूर्ख है....इसमे तो शक्ति नही, बिल्कुल दुर्बल है, यह तो नीच कुल मे जन्मा है !...यह तो बिल्कुल अभागा है...फलां व्यक्ति तो अज्ञानी है....कुछ समझ नही है उसके पास...ऐसा अवर्णवाद मत करो। किसी भी जीवात्मा को तुच्छता की दृष्टि से मत देखो। तिरस्कार की दृष्टि से मत देखो।

इसी तरह, तुम्हारी अपनी प्रशसा भी तुम मत सुनो। बार-बार स्वप्रशसा सुनने से मानकषाय पुष्ट होता है। 'अह' की कल्पना दृढ

बनती है। कभी स्वप्रशसा सुननी ही पडे तो उसमे डूब मत जाओ। प्रशसक को कहो 'तुम्हे मेरे म जो गुण दिखते ह वे तुम्हारी गुणदृष्टि को आभारी हैं। मुझे तो मेरे मे ऐसे कोई विशिष्ट गुण नही दिखते ह।'

कोई व्यक्ति दूसरो का अवणवाद करता हो तो भी तुम मत सुनो। दूसरो की निन्दा सुनने से दूसरो के प्रति तिरस्कार-घृणा नफरत पदा होती है। फिर तुम भी धीरे धीरे अवणवाद करने लगोगे। मान-कषाय की खुराक मिल जायेगी। इसके लिये तुम्ह बहुत सावधान रहना होगा। जिस ससार म, जिस दुनिया में तुम जीते हो उस दुनिया मे स्वप्रशसा और परनिन्दा के ढोल बज रह हैं। तुम्ह इनमे अलिप्त रहना होगा।

मदो से पारलौकिक नुकसान

श्लोक परपरिभवपरिवादात्मोत्कर्षाच्च बध्यते कम।
नीचर्गोत्र प्रतिभवमनेकभवकोटिदुर्मोचम् ॥१००॥

अथ दूसरा का पराभव [तिरस्कार] करने से और परिवाद [ ] करने से तथा अपने उत्कर्ष से नीचगोत्र कर्म करोडो भवो म भी न छूटे ऐसा जनम जनम तक बधता रहता ह।

विवेचन क्या तुम जानते हो विचार-वाणी और वतन से कम बधते हैं? दूसरे जीवो का तिरस्कार एव अवणवाद करने म कौनसा कम बधता है इसका ज्ञान है तुम्ह? वो कम जब उदय मे आता है तो कैसा फल देता है इसकी जानकारी है तुम्ह? कितने वरसो तक कितने जन्मो तक वो फल देता रहता है, उसकी समझ है तुम्ह? तुम्हे इस कर्म-तत्त्व को भली भाति समझ लेना चाहिए। इसे समझने के बावजूद भी यदि तुम्ह दूसरो का अवणवाद पराभव करना अच्छा लगता हो तो, हम कोई आपत्ति नहीं होगी। आठ प्रकार के कर्मों मे गोत्रकम छठा प्रकार है, उसके दो विभाग हैं एक उच्चगोत्र और दूसरा नीचगोत्र। दूसरे जीवो का तिरस्कार एव अवणवाद करने म नीचगोत्र कम बधता है। इस कम के उदय से जीवात्मा हीन जाति मे जन्म लेता है। म्लेच्छ जाति चडाल जाति म भी जन्म लेता है। करोडो जन्मों तक ऐसे

निकृष्ट कुलो मे जन्म लेना पडे। पशुयोनि मे भी गर्दभ वगैरह की हीन जाति मिलती रहे।

हीन जाति मे सतत अनेक प्रकार के भयो से त्रस्त बनकर जीना पडता है उस जीवात्मा को। सभी उसको सताये, सभी उसको रुलाये। दूसरो का पराभव करने का आत्मसतोष तो क्षणिक होता है, परन्तु इससे बधने वाले कर्मो का उदय जो दुःख और त्रास देता है, वो क्षणिक नही होता अपितु करोडो जन्मो तक भुगतना पडता है।

आत्मोत्कर्ष से, स्वय के बडप्पन की बाते करने से भी नीचगोत्र कर्म बधता है। तुम तुम्हारी महानता के गाने गाकर चाहे खुश होते रहो अल्प समय के लिये, स्वप्रशसा करके मिथ्या सतोष पाते रहो... पर उसका परिणाम भयकर है। यदि तुम 'कर्मबध' और 'कर्म उदय' के सिद्धात मे श्रद्धा रखते हो तो तुम्हे ग्रन्थकार की यह बात माननी होगी।

करोडो भवो तक तुम्हे हीन जाति मे जन्म लेना होगा। यह वर्तमान जीवन तो क्षणिक है, अल्पकालीन है, यहाँ से आत्मा ने जैसे ही सफर आरम्भ की, उसे एक क्षण से कम समय मे हीन जाति मे पैदा होना होगा। वहाँ फिर अनेको के घोर पराभव सहने होगे। अनेको का तिरस्कार सहना होगा। वहाँ तुम अपनी आत्मप्रशसा नही कर पाओगे। स्वप्रशसा करने लायक कुछ मिलेगा ही नही वहाँ पर।

यदि तुम्हे भावी जीवन मे उच्चजाति, उच्चकुल और सुन्दर रूप वगैरह पाना है तो स्वप्रशसा एव परनिन्दा के पापो से बचते रहो।

श्लोक कर्मोदयनिर्वृत्तं हीनोत्तममध्यम मनुष्याणाम्।
तद्विधमेव तिरश्चां योनिविशेषान्तरविभक्तम् ॥१०१॥

अर्थ कर्म [गोत्र] के उदय से मनुष्यो का नीचपन, ऊचपन और मध्यमपन निष्पन्न है, इसी तरह तीर्यंचो को [हीनत्व इत्यादि] अलग-अलग योनि के भेद से अलग-अलग होता है।

विवेचन : ऊचपन, नीचपन और मध्यमपन का ख्याल मानवसर्जित नहीं अपितु मनुष्यो के कर्मो से सर्जित है। मनुष्य के अपने कर्मो से उसका

ऊचपना सर्जित होता है नीचत्व निष्पन्न होता है और मध्यमपना सर्जित होता है। इस सर्जन को करने वाले कर्म का नाम है गोत्रकर्म।

मनुष्य को उत्पन्न होने की १४ लाख योनियाँ हैं। वो तीन विभागों मे विभक्त हैं। १ उत्तम २ मध्यम ३ अधम। उच्च गोत्रकर्म बाँधने वाला जीवात्मा उत्तम मनुष्ययोनि मे जनमता है। उच्च-नीच मिश्र गोत्रकर्म बाँधने वाला मनुष्य मध्यम मनुष्ययोनि में पैदा होता है। नीच गोत्रकर्म बाँधने वाला अधम मनुष्ययोनि मे जन्म लेता है।

ठीक इसी तरह तिर्यंच योनि भी तीन विभागों में विभक्त है। हाथी, अश्व इत्यादि उत्तम योनि वाले तिर्यंच कहलाते हैं। जबकि भेड़, बकरी इत्यादि मध्यम योनि वाले तिर्यंच कहलाते हैं और गर्दभ वगैरह अधम योनि वाले तिर्यंच कहलाते हैं। गोत्रकर्म के उदयानुसार जीवात्मा इन योनियों में जन्म लेता है।

अपनी आत्मसाक्षी से हमें नक्की करना होगा कि हमें आगामी जन्म कौन-सी गति में लेना है। यदि उत्तम मनुष्ययोनि में जन्म लेना है तो इस जीवन में किसी भी तरह का मद नहीं करना चाहिए। मान कषाय की जड़ों को काट डालना चाहिए। स्वप्रशंसा एवं परनिंदा की दुष्ट वृत्तियों को जड़मूल से उखाड़ना होगा।

वैराग्य के श्रेष्ठ पथ पर प्रयाण करने वाले पथिक का यह चिंतन है। इन मदस्थानों को वो वैराग्यमार्ग में विघ्नभूत समझता है। ये विघ्न उसके मार्ग में अवरोध पैदा न करें, प्रयाण को शिथिल न बना दें, इसके लिए साधक को सतत जागृत बने रहना चाहिए। ये जातिमद वगैरह विघ्न दर्शन में विघ्न नजर नहीं आते, दर्शन में तो मित्र से प्रतीत होते हैं। इस वैराग्य मार्ग में कई साधक इन्हें पहचान नहीं सके और इनकी जाल में फँसे रह कर भटक जाते हैं। साधक के आचार में बुद्धि का मद, ज्ञान का मद, लोकप्रियता का मद और तप का मद भी भयानक उपद्रव पैदा कर देता है। कभी साधक को ख्याल ही नहीं आता कि वो मद का शिकार बन गया है।

आत्महित की साधना के मार्ग पर चलने वाले महात्मा इन मदस्थानों से बचकर निकल जाते हैं और आत्मगुणों की उपलब्धि करके निर्वाण पद को प्राप्त कर लेते हैं।

श्लोक : देशकुलदेहविज्ञानायुर्वलभोगभूतिवैषम्यम् ।
दृष्ट्वा कथमिह विदुषां भवसंसारे रतिर्भवति ॥१०२॥

अर्थ : देश, कुल, शरीर, विज्ञान, आयुष्य, वल, भोग और वैभव की विषमता देखकर विद्वानो को इस [नरकादिरूप] भवसंसार मे किस तरह से प्रीती हो ?

विवेचन : क्या आप विद्वान है ?

क्या आप प्रज्ञावंत है ? यदि आपके पास पुनित प्रज्ञा है, निर्मल वुद्धि है, तो आपने इस संसार की अपार विषमताएं जानी होंगी। अपार-अनत विषमताओ से खचाखच भरा हुआ है यह ससार ! फिर चाहे वह देवो का ससार हो, मनुष्यो का ससार हो, पशु-पक्षी का या नारकीय आत्माओ का ससार हो। संसार यानि विषमता !

मनुष्य की प्रज्ञा जहाँ पर विषमता का दर्शन करती है वहाँ पर मनुष्यमन प्रीत के तार जोड़ता नही है। अन्जाने मे यदि प्रीति के फूल खिल भी गये तो वह जल्द ही मुरझा जाते हैं। जरा सी भी देर नही लगती हैं। यहाँ पर ग्रन्थकार महर्षि मनुष्य को ससार की अनेक विषमताओ का स्पष्ट दर्शन करवाते है। यदि मनुष्य के पास निर्मल वुद्धि हो तो वह उन विषमताओ का मर्मग्राही दर्शन कर सकेगा और उसकी प्रीति का प्रवाह दिशा वदल देगा।

१. **देश की विषमता**—समूचे विश्व के देश-प्रदेश एक से नही है। एक देश धन-धान्य और सरोवरों से हराभरा हो, सुहावना हो तो दूसरा देश दुष्काल, निर्धनता और पत्थरो से घिरा हुआ दुःखभरा हो...! किसी देश मे शान्त, प्रसन्न, उदार और प्रेमभरी प्रजा जिन्दगी को मजे से जीती है तो किसी देश मे प्रजा अशान्ति, क्लेश, सकीर्णता और वैर-विरोध की धधकती आग मे झुलसती है। कैसी विषमता है धरती के भिन्न-भिन्न भागो मे !

राजस्थान यदि काश्मीर को देखले तो ? उडीसा की गरीवी यदि गुजरात की धनिकता को देखले तो ? कहाँ अफ्रिका और कहाँ स्वीट्-

जरलेंड ? कहाँ वियतनाम, कहा जमनी व कहा जापान ? देश-देश के बीच कितनी विषमताएँ हैं ? और जीवात्मा की पसदगी के अनुसार उसे मनचाह देश मे जन्म मिलता नही ह !

जीवात्मा के शुभ अशुभ कम उसे अच्छे बुरे देश मे जन्म देते हैं। आज आप चाहे अच्छे देश मे हो, पर हमेशा अच्छे देश में ही जन्म मिलता रहे वैसा नियम नहीं है। कभी आपका जन्म काश्मीर मे हो तो कभी अफ्रिका के जगलों मे भी हो सकता है। कभी आप भारत की पवित्र धरती पर भी पैदा हो तो कभी हिंसा और क्रूरता से भरे इजीप्त या इस्रायल मे भी आपका पदा होना पडे। किन्ही भी दो देशों के बीच समानता नहीं है। यह 'देश अच्छा, यह देश बुरा,' ऐसा राग द्वेष क्यो करने के ?

२ **कुल की विषमता**—सभी जीवात्माओ का समान-एक से कुल में जन्म नही मिलता है। कोई ऊँचे कुल मे पैदा होता है तो कोई निम्न स्तर के कुल मे जन्म लेता है। कोई उच्च सम्भ्रात कुल मे पदा होकर बुरे काम करता है तो कोई नीच कुल मे पदा होकर भी उत्तम काय करता ह। ससार की यह अपरिहाय विषमता ह। इस विषमता को न तो साम्यवाद मिटा सकता है और नही समाजवाद मिटा सका है। जाति और कुल की विषमता देखकर, प्रज्ञावत पुरुष को इस ससार के प्रति अनुराग पदा नही हो सकता।

३ **देह की विषमता**—किसी की काया सुलक्षणा हो तो किसी की अपलक्षणा। किसी का शरीर सुडौल और सप्रमाण व मनोहारी हो तो किसी का शरीर बेडौल और बदसूरत। क्या यह विषमता बबूल के काटे की भाति चूभन जगी नहीं ह ? एक मनुष्य सुदर सुडौल और मन-भावन लगता है, एक मनुष्य कुरूप, बेडौल और देखने म भी पसद नहा आता ह। मानव मानव के बीच की यह विषमता क्या बुद्धिमान मनुष्य को आकुल दे करी नहीं ह ? यह विषमता उसकर किस पर राग करना और किस पर द्वेष करना ? विषमता के प्रति वैराग्य ही पैदा होता है।

४ **विचार की विषमता**—एक बुद्धिमान पुरुष किन्ह तत्त्वो का गहन चिंतन, मनन और पर्यालोचन करके दुनिया को नये नये मानिक-आध्यात्मिक आविष्कारो से आश्चर्यचकित कर देता है, तो एक व्यक्ति

अज्ञान के गहन तिमिर मे भटकता हुआ अपने साये को भी नही पह-चान पाता है। एक मनुष्य अपनी स्मृति और धारणा की अपार शक्ति से हजारो ग्रन्थो को याद रख लेता है तो दूसरा व्यक्ति अपना नाम भी भूल जाता है। जीव-जीव के बीच की यह कैसी असहनीय असमानता है? कितनी करुण विषमता है?

५. आयुष्य की विषमता—एक जीवात्मा का दीर्घ आयुष्य एक जीवात्मा का अल्पायुष्य! एक व्यक्ति सौ साल पूरे करता है जबकि दूसरा मनुष्य माँ के पेट मे ही मर जाता है। एक वृद्धावस्था मे जीवन बीताता है, दूसरा जवानी मे ही मौत का शिकार हो जाता है। सभी जीवो का जीवनकाल समान नही होता है इस ससार मे। बुद्धिमान के कलेजे को चीर दे वैसी इस ससार की विषमता है। फिर ऐसे ससार पर मन का प्यार कैसे बरसेगा? जीव-जीव के बीच की जीवनकाल की असमानता का चितन, भववैराग्य की जननी है।

६. बल की विषमता—एक मनुष्य के पास असाधारण शरीर-शक्ति होती है तो दूसरा मनुष्य अपने शरीर का बोझ भी उठा नही सकता। एक मानव सेकडो हजारो शत्रुओ का डटकर सामना कर सकता है जबकि दूसरा मानव एकाध दुश्मन को भी जीत नही सकता।

मनुष्य-मनुष्य के बीच बल-ताकात की असमानता तो है ही. देव और मनुष्य, मनुष्य और जानवर, जानवर और नारक...चार गति के जीवों के बल मे भी काफी विषमता है। जीवों की शारीरिक शक्ति समान नही होती है। यह असमानताए प्रज्ञावत पुरुष के लिये वैराग्य का कारण बन सकती है।

७. भोग की विषमता—जैसे कि दो व्यक्तियो के पास पाँचो इन्द्रियो के विषयसुख एक समान है, पर दोनो उन सुखो को समान ढग से भोग नही सकते। एक मनुष्य उन सुखो को थके बिना भोगता ही रहता है, जबकि दूसरा तो कुछ सुख भोगे न भोगे वहाँ तो थक जाता है। इच्छा होने पर भी और सामने पसद का भोजन है, फिर भी खा नही सकता। सामने स्वर्ग का रूप और यौवन होने पर भी उसे न तो वह देख सकता है नही वह उसका स्पर्श कर सकता है। सुखोपभोग मे भी कितनी विषमता? वैसे ही भोगसुखो को प्राप्त करने मे भी विषमता।

एक के पास विपुल भोगसामग्री होती है तो दूसरे के पास थोडी भी सुखसामग्री नही होती है। इस तरह का वैषम्य दर्शन आत्मा के वैराग्य को उजागर कर देता है।

८ वैभव की विषमता—एक मनुष्य के पास हीरे-मोती, सोना चादी और बाग बगीचा का पार नही है। दूसरे मनुष्य के पास खाने के लिये दो जून रोटी भी नही है और सोने के लिये दो गज जमीन भी नही है। एक व्यक्ति मखमली गद्दियो पर पसरता है तो दूसरे के पास बिछाने के लिये टूटी फूटी कथा भी नही है। एक के पास भव्य महल है तो दूसरे के पास झोपडी भी नही है। एक के पास पहनने के लिये सुदर किमती कपडो के ढेर है तो दूसरे के पास तन ढकने जितना कपडे का टुकडा भी नही है! यह है आदमी-आदमी के बीच की बडी मनहूस विषमता !

विद्वानो को भला ऐसे ससार पर राग होगा कैसे? अनुराग पैदा कैसे हो? उन प्रज्ञावत पुरुषो के दिल मे तो ससार के प्रति तीव्र उद्विग्नता उभरती होती है, ससार की आसक्ति के बधन टूट गये होते है। धर्मानुष्ठानो मे उनका अत करण लीन बना रहता है। विषमता मे मन स्थिर नही होता है। जहा कोई विषमता नही है ऐसे अनत सिद्ध भगवतो के मोक्ष मे ही मन लगता है विद्वानो का, प्राज्ञ पुरुषो का!

श्लोक अपरिगणितगुणदोष स्वपरोभयबाधको भवति यस्मात्।
पञ्चेन्द्रियबलविबलो रागद्वेषोदयनिबद्ध ॥१०३॥

अर्थ गुण व दोष का विचार नही करने वाला पाच इन्द्रिया के बल से विवल और रागद्वेष के उदय से बद्ध (जीवात्मा) स्व और पर दोनो को कष्टदायी बनता है।

विवेचन ग्रथकार कितना वास्तविक एव व्यवस्थित दर्शन करवा रहे हैं! जन्म-जीवन एव मृत्यु की अविरत यात्रा करते हुए जीवात्माओ का! यह दर्शन करने के बाद ससार के किसी भी अशुद्ध आत्मा के प्रति अनुराग पैदा हो ही नही सकता। राग के बधन एक ही झटके मे टूट जाते हैं। आत्मा वैराग्यरस मे नखशिख डूब जाती है।

ससार में भटकता जीवात्मा कि जो (१) गुण-दोष का विचार नही कर सकता है (२) जो पाच इन्द्रियो की शक्ति से उन्मत्त है और जो (३) राग-द्वेष के उदय मे घिरा हुआ है, वह जीवात्मा अपने आपको तो दु खी करता ही है, साथ-साथ दूसरो को भी दुःख देता है।

दुनिया मे कैसे - कैसे मनुष्यो के साथ जिन्दगी विताने की ? अधिकाश मनुष्य गुणदोष का विचार कर नही सकते है। क्या हित-कारी है और क्या अहितकारी है, उसे परख नही सकते। हितकारी को अहितकारी समझकर हितकारी का तिरस्कार करते है और अहित-कारी का स्वीकार कर लेते है। उपकारी को अनुपकारी मानकर उनका त्याग कर देते है और अनुपकारी का आदर करते है। परिणाम कितना करुण आता है ? वे खुद अपने आपका नुकसान करते हैं वह दूसरो के लिए भी दु खरूप वनते है।

पाचो इन्द्रियो की शक्ति का वैषयिक सुखो के भोग-उपभोग में अत्यत व्यय करके शक्तिविहीन वने हुए जीव कैसे दीन हीन और पर-वश वन जाते हैं, यह क्या दुनिया मे देखने नही मिलता क्या ? कौन उन्हे समझाए ? इन्द्रियो की उन्मत्तता जीवात्मा की समझ-शक्ति को नष्ट कर देती है। विषय-रस मे लीन वनी इन्द्रियाँ प्रतिपल जीवात्मा के भावप्राणो को रौंद डालती है। अनेकविध वैषयिक सुखो के भोगो-पभोग मे सशक्त इन्द्रियाँ आत्मा की पवित्रता को तहस नहस कर देती है ..जैसे विल्ली कवूतर को वोटी-वोटी कर देती है वैसे। ऐसे जीवा-त्माओ से भरे इस ससार पर क्या ममत्व रखना ? क्या अनुराग करना ?

तीसरी वात है राग और द्वेष के मचाये हुए हाहाकार ! राग और द्वेष की दर्दनाक चीखो से यह ससार कितना डरावना लगता है ? हर एक जीवात्मा इन राग द्वेष की लौह-जजीरों ने जकडा हुआ है। कोई एक पल भी ऐसी नही वीतती कि जो क्षण राग से रगी न हो और द्वेष से दहकती न हो !

रागी स्वय दु खी होता है, दूसरो को दु खी करता है। द्वेषी स्वय अशात वनता है, औरो की शाति मे खलल करता है। दुनिया में यह सव सहज है। यदि स्वस्थ मन से दुनिया का अवलोकन किया

जाये तो यह सत्य मिल सकता है । सत्य समझ मे आ जाय तो ससार का खीचाव रह ही नही ।

अज्ञानी जीवात्मा राग म सुख की कल्पना करते ह, पर उनकी यह कल्पना कच्ची मिट्टी के महल की भाति टूट गिरती है । वे दु ख के दावानल म सुलगते हैं । ससार की यह वास्तविकता है । विवेक शून्य, विचारशून्य, और वैराग्यशून्य जीवात्मा स्वय दु ख-त्रास और वेदना का शिकार बन जाते है और उनके परिचय मे आने वाले जीवात्मा भी उसी तरह दु ख त्रास और वेदना से घिर जाते हैं । पागल कुत्ते की भाति दनदनाते ये राग व द्वेष आत्मा को काट-काट कर खून स तरबतर कर देत ह । बेहोश आत्मा को शायद आज उस वेदना की अनुभूति न भी हो पर जब इन्द्रिया का उन्माद उतरता है, इन्द्रिया शक्तिविहीन बनती ह, कुछ विवक की निगाह खुलती है, तब व वेदनाएँ, वह जलन, जीवात्मा का बेतहाशा पीडा करती है ।

ससार मे इन तीन बात(जो ही बोलबाला है । समग्र जीवसृष्टि पर ये तीन बात छायी हुई है । अविवेक, उन्मत्तता एव रागान्धता । ऐसे ससार के प्रति राग हो ही कसे ? ऐसे ससार मे आसक्ति होगी ही क्या ? ऊपर से मीठा सुन्दर और सुहावना लगता ससार, भीतर से कडुआ, कुरूप व डरावना है । अविवक इसकी कटुता है उन्मत्तता उसकी कुरूपता है और रागान्धता उसकी डरावनी सूरत है ।

जिस प्रज्ञावन्त पुरुष का ससार की इस डरावनी वास्तविकता का ज्ञान हो जाय उस साहजिक तौर पर वैराग्य पैदा होगा ही । उसके आत्मा के प्रदश प्रदेश मे वैराग्य के रत्नदीप जलेंगे ही । उस क रोये रोये मे प्रशम के फूल खिलग ही । वैराग्यरस के कटोरे भर भर कर पीने के लिए, ससार की इन तीन बाता को सलाम करना ही होगा ।

शुभ विचारधारा वहती रहे !

श्लोक : तस्माद् रागद्वेपत्यागे पञ्चेन्द्रियप्रशमने च ।
शुभपरिणामावस्थितिहेतोर्यत्नेन घटितव्यम् ।।१०४।।

अर्थ : इसलिये, शुभ विचारों की स्थिरता के लिये, राग और द्वेप के त्याग मे, और पाच इन्द्रियों को शान्त करने के लिये प्रयत्न करना चाहिए ।

विवेचन : इस विपम ससार मे अपार विपमताओ का ज्ञानदृष्टि से दर्शन किया ? देश, कुल शरीर, ज्ञान, आयुष्य, वल, भोग और वैभव इन सव मे विपमता ही विपमता भरी है। दूसरी ओर जीवात्मा राग और द्वेप की उन्मत्तता से मदान्ध है। पाँचो इन्द्रियो की परवशता से दीन है। यह एक वास्तविकता है और इसका स्पष्ट दर्शन होने के वाद जागृत आत्मा का क्या कर्तव्य हो सकता है, यह कहना होगा क्या ?

१. राग और द्वेप की आग वुझाइये ।

२. पाँचो इन्द्रियो के उन्माद को शान्त किजीये ।

मात्र वाते करने से ही या मनमाने ढग से धर्मक्रियाएँ करने मात्र से ये दोनो कार्य सिद्ध नही हो सकेंगे। इनकी सिद्धि के लिये सर्वप्रथम मनुष्यको सकल्प करना चाहिए कि, 'मुझे मेरे हृदय मे धधकती राग-द्वेप की अगनज्वाला को वुझाना ही है। इस वर्तमान जीवन मे ही वुझानी है। मुझे मेरी उन्मादी इन्द्रियो को शान्त करनी है।' यह सकल्प मनुष्य को उस दिशा मे पुरुपार्थपरायण वनाये रखता है।

इस सकल्प की सिद्धि के लिये चाहिए शुभ, पवित्र...शुद्ध विचार-धारा। मात्र शुभ विचार नही चलेंगे, शुभ विचारो की धारा वहनी चाहिए, शुभ विचारो का सातत्य रहना चाहिए। पल दो पल के शुभ विचार राग-द्वेप की प्रचड आग को किस तरह वुझा सकते है ? वडी भारी घास की गजी सुलग उठी तो, क्या उसे वुझाने के लिये एक दो लोटे या एक दो वाल्टी पानी पर्याप्त हो सकेगा ? नही, वहाँ तो फायर-ब्रिगेड के वम्वो की भाति अविरत पानी की वर्पा चाहिए। जव तक आग न वुझे तव तक यह जलधारा वरसती ही रहनी चाहिए।

राग द्वेष की प्रचंड आग को बुझाने के लिए शुभ और शुद्ध विचारों की सतत जलवर्षा करनी होगी। शुभ और शुद्ध विचारो का सातत्य बनाए रखने के लिये किसी उपाय को खोज निकालना चाहिए। सभी जीवात्माओ के लिए एक ही उपाय नही हो सकता, अलग अलग उपाय हो सकते हैं। कोई भी उपाय किजिये, पर शुभ विचारधारा को निरंतर बहती रहती रखिये, अस्खलित गति से बहता रखिये।

पाच इन्द्रियो की अमाप शक्ति को अकुशित रखने के लिए, निरन्तर उछलती इन इन्द्रियो को शात प्रशात करने के लिए भी पवित्र विचारो का प्रचंड बल चाहिएगा। पवित्र विचारो के प्रचंड बल से ही इन्द्रियो की अमाप शक्तियो को अंकुशित किया जा सकता है। इन्द्रियो के उन्माद शात हो सकते है।

इसका फलितार्थ यह है कि सत क्रियाओ के सातत्य के साथ सद्-विचारो का सातत्य होना अनिवार्य है। सद्विचारो का पवित्र गगाप्रवाह आत्मभूमि पर बहते रखना चाहिए। सत्क्रियाओ की प्रचुरता जिन्दगी मे इसलिए ही आवश्यक है। सद्विचारो की धारा को अविरत बहती रखने के लिए ही ऋषि महर्षियो ने विविध धर्मक्रियाए करने का उपदेश दिया है।

देश, कुल, शरीर, ज्ञान आदि की विषमताए अनत विषमताओ के बीच भी सदविचारो की धारा स्खलित न होने पाये, शुभ परिणामो का कलकल बहता झरना सूख न जाये इसके लिए सतत जागृत रहना पड़ेगा। सतत प्रयत्नशील बन रहना होगा। यह कभी मत भूलियेगा कि राग द्वेष की आग को शुभ विचारो की अविरत जलधारा से ही बुझानी है। यह बात हमेशा स्मृति मे सजाए रखियेगा कि पांच इन्द्रियो की उपशान्ति पवित्र परिणामो के सातत्य से ही होती है। इसके अलावा दूसरे चाहे लाख उपाय किये जाये, पर परिणाम शून्य मे ही आयेगा।

तप-जप पूजा-सेवा, व्रत नियम वगैरह धर्मक्रियाए करने का उपदेश ज्ञानी पुरुषो ने इसलिए ही दिया है कि ये सभी पवित्र क्रियाओ मे मन जुड़ा रहे तो गंदे, अशुद्ध और अपवित्र विचारो मे मन बंध न जाय। धर्मक्रियाए करते समय यदि धर्मध्यान अखंडित रहे तो पापक्रियाए करते

समय भी अंतरात्मा जागृत रहेगी और विचारों में अपवित्रता नहीं आयेगी। क्रिया चाहे पाप की हो, विचार पवित्र ही रहेंगे।

ग्रन्थकार महर्षि जोर देकर उद्बोधन कर रहे हैं कि : चाहे कोई उपाय किजिये, आपको पसंद हो वह उपाय कीजिये, पर राग-द्वेष का त्याग कीजिये। पाँचों इन्द्रियों को शान्त कीजिए। अर्थात् राग-द्वेष की आग में झुलस रहे मन को बचा लिजिये। पाँच इन्द्रियों के पीछे लगे मन को वापस मोड़ लिजिये...इन्द्रियों के साथ जमी हुई मन की दोस्ती को तोड़ डालिए।

इन दोनों कार्यों की सफलता के लिए उपाय बतला दिया शुभ विचारों की अविरत धारा। पवित्र विचारों का सातत्य।

'परन्तु शुभ विचारों का सातत्य टिकता नहीं है...इसके लिये क्या करना चाहिए?' इस उलझन को सुलझाते हुए महर्षि आगे के श्लोक में बता रहे हैं :

श्लोक : तत्कथमनिष्टविषयाभिकांक्षिणा भोगिना वियोगो वै।
सुव्याकुलहृदयेनापि निश्चयेनागमः कार्यः ॥१०५॥

अर्थ : अनिष्ट विषयों की आकांक्षा वाले (उनसे) अत्यन्त व्याकुल हृदय वाले भोगासक्त जीवात्मा का (विषयों से) किस तरह वियोग हो? निश्चय से (ये विषय इस लोक और परलोक में नुकसान करने वाले हैं, ऐसा जानकर) आगम का (जिनप्रणीत शास्त्रों का) अभ्यास करना चाहिए।

विवेचन : जहर जैसे विषयों की तीव्र स्पृहा, अप्राप्त विषयोंके प्राप्ति की स्पृहा, प्राप्त विषयों के संरक्षण की तत्परता और विषयों के उपभोग की सतत वासना...आपके मन को, आपके हृदय को व्याकुल बनाएगी ही। हृदय को व्याकुल...विह्वल और संतप्त बनाने वाले उन विषयों को इष्ट कैसे कहा जा सकता है? ऐसे अनिष्ट विषयों के संपर्क में हृदय सतत व्याकुलता का अनुभव करता है। फिर भी आप उसका संयोग चाहते हैं? उसका उपभोग चाहते हैं? उन शब्द-रूप-रस-गंध और स्पर्श के असंख्य विषयों की अभिलाषाओं ने आपके पवित्र हृदय-मन्दिर को कितना गंदा-घिनोना कर डाला है, वह तो देखिये।

पर आप देख भी तो कसे सकते हैं अपने आपके हृदय मंदिर का। आप अत्यन्त भोगासक्त जो बन बैठ हैं। भोगासक्ति ने आपका अशक्त बना डाला है। आपका मन अच्छे बुरे का, इष्ट-अनिष्ट का विचार करने म अशक्त बन गया है। चिंतन मनन की शक्ति आपन खो दी है, विवेकबुद्धि भी नष्ट हो चली है।

इतने पर भी यदि सद्विचारो का एकाध किरण भी आपको मिल गया है, आपके मन मे इतना भी विचार पैदा हुआ है कि 'मेरा हृदय इन्द्रियों के विषयो मे अत्यन्त भोगासक्त है, मैं किस तरह इन विषयो का त्याग करु ? इन विषयो से मैं अलिप्त कैसे रह सकता हूँ ? चिन्तित मत बनिये आपका आतरमन इन विषयों के बधन से छूटना चाहता है न ? आपकी आतर चेतना इन विषया की विषमता का समझ गयी है ना ? तो आप मुक्त हो सकगे इस बधन से। मन वचन और काया स आप मुक्त हो सकगे। बिलकुल चिंता मत कीजिये।

आपका एक निश्चय अविचल रखना 'ये विषय इस वतमान जीवन म और मृत्यु बाद के परलोक के जीवन मे उभय लोक मे अहितकारी हैं। अनेक अनर्थो का कारण ह, अनेक दु ख और वेदनाओ की जड है।'

यह निश्चय करके, आप एक ही काम कीजिए आगमा का अध्ययन किजिये। शास्त्रो का अभ्यास किजिये। सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा के धमशासन म अनक आगम हैं, अनेक शास्त्र हैं, ग्रन्थ ह, आप उसके अध्ययन म खो जाइये।

ये शास्त्र और ग्रन्थ अनेक विषया मे फले हुए हैं। आप रसानुभूति कर सकें, जिसके अध्ययन, परिशीलन मे आप काफी आनन्द अनुभव कर सकते हैं एसे ग्रन्थ आप पसद किजिये। आपका गणित का विषय पसद है ता 'गणितानुयोग' के शास्त्र पसद किजिये। आपको 'द्रव्यानुयोग' का विषय पसद हो तो उसक ग्रन्थो को चुनकर उनके अध्ययन म डूब जाइये। यदि आपको आचार विचार का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्था का पठन प्रिय हा तो 'चरणकरणानुयोग' के ग्रन्या की पसदगी कर सक्त हैं। माना कि इन तीना तरह के ग्रन्थों में आपका दिमाग नहीं लग रहा होतो आप 'कथानुयोग' के सैकडो ग्रन्थो के पठन मे खो जाइये।

कौतूहल होने से शान्ति और स्वस्थता नही रहती । मध्य मे यानि सभोग की क्षणो मे तीव्र मोह की वेदना-व्याकुलता होने से तब भी शान्ति या स्वस्थता नही रहती । सम्भोग की समाप्ति के बाद बीभत्स अंग-दर्शन, करुणाजनक रुदन, शरम और भय की भावनाएं पैदा होने से शाति और स्वस्थता नही रह पाती ।

विषयसेवन से पूर्व शाति या स्वस्थता नही, विषयसेवन के समय शान्ति-स्वस्थता नही और विषयसेवन के बाद भी शाति-समता नही ! तो फिर विषय-सेवन की इच्छा क्यो करना ?

ज्ञानी पुरुष, आत्मद्रष्टा महर्षि क्षणिक सुख से भी अतरात्मा की स्थायी शाति और स्वस्थता को विशेष महत्त्व देते है। विषयसेवन मे चाहे क्षणिक सुख की अनुभूति मनुष्य कर लेता है, पर उन थोडी क्षणो के बीतने के बाद क्या ? उस वासना का ज्वर शात होने के बाद क्या ? मात्र अशाति और अस्वस्थता ही न ?

पूर्णज्ञानी वीतराग से ससार का कोई कोना अनदेखा नही होता है । कोई देश या प्रदेश अनजान नही होता है । फिर मानवी का शयनगृह अनदेखा कैसे हो ? चाहे उस शयनगृह के खिडकी-दरवाजे बद हो, केवलज्ञानी की दृष्टि उस बंद शयनगृह के भीतर भी देख सकती है । भीतर की बाते जान सकती है । पर यह देखने और जानने में केवलज्ञानी को न तो राग होता है, और नही द्वेष । चू कि वे वीतराग होते है ।

शयनगृह की गुप्त बात को प्रगट करके ज्ञानीपुरुष मनुष्य को उस विषयसेवन से दूर रहने की प्रेरणा दे रहे है । 'सेक्स-सेन्टर' से दूर रहने की सलाह दे रहे है । आत्मा की शाति और स्वस्थता को अखड रखने के लिए विषयसभोग का त्याग करने का उपदेश देते है । प्रशम-भाव मे आनंद का अनुभव करने के लिए सभोगक्रिया के क्षणिक सुख का आनद छोडना ही होगा ।

श्लोक **यद्यपि निषेव्यमाणा मनस· परितुष्टिकारका विषया: ।**
किम्पाकफलादनवद् भवन्ति पश्चाददितुरन्ता: ॥१०७॥

अर्थ : हालांकि सेवन करते समय विषय मन को सुखकारी लगते है फिर भी किंपाक फल के खाने की तरह पीछे से अति दु खदायी होते हैं ।

विवेचन "विषय सेवन से सभोग से क्षणिक सुख का अनुभव तो होता ही है, इस दृष्टिकोण से भी विषय सुख देनेवाले तो है ही न ?" आदि, मध्य और अत मे अशाति और अस्वस्थता का प्रतिपादन करने वाले ग्रथकार महर्षि को यह प्रश्न किया गया है। सभोग की क्रिया में चाहे अशाति या अस्वस्थता का अनुभव होता हो, साथ साथ कुछ सुख का अनुभव भी तो होता है न ?

ग्रथकार इस बात का स्वीकार करके प्रत्युत्तर देते हैं 'कबूल है तुम्हारी बात। विषयसेवन मे तुम्हारे मन को क्षणिक सताप क्षणिक सुख मिलता है पर इतनेमात्र से सभोग की क्रिया उपादेय नही हो सकती। विषयसेवन करने योग्य सिद्ध नही हो पाता।

जगल मे एक 'किंपाक' नामक वृक्ष होता है। उस वृक्ष पर जो फल लगते हैं उस फल का स्वाद आम के स्वाद से कही ज्यादा मीठा होता है। उसकी सुगध आम्रफल की सुगध से भी बहतरीन होती है। उस फल को खाय तो मीठा लगेगा। स्वादिष्ट लगेगा, पर वो पेट म जाने के साथ ही तुम्हारी नस खीचने लगेगी। तुम्हारा सर चकराने लगेगा। तुम्हे तीव्र वेदना का अनुभव होने के साथ कुछ ही मिनटो मे तुम्हारा आतम पखी पख फैला कर उड बठेगा।

उस किंपाक फल के जैसे ये विषय है। तुम विषयसेवन करो वहा तक तो तुम्हे सुख की अनुभूति हो, पर उस सभोगक्रिया म जो तीव्र मोह, प्रगाढ आसक्ति होगी उसके परिणाम स्वरूप जो पापकर्म बधेंगे, वे पापकर्म जब उदय में आयगे तब तुम एक मौत को नही अनेक मौत के शिकार बनोगे। एक दु ख नही अनत अनत दु ख तुम्हे आ घेरेंगे। इसलिये 'अल्प सुख तो मिलता है ना,' या मानकर विषय सेवन की वासना में विवश मत बनिये। छोट छोट मासूम बच्चे या भोली भाली औरतें क्या डाकूओ के चगुल में फस जाती है ? क्या आप जानते हैं ? डाकू सज्जन के वेष में छोटे बच्चो को टाफी चाकलेट देता है मीठी मीठी बातें बनाता है तो बेचारे उन छोटे बच्चो को वे डाकू अच्छे लगने लगते है डाकू पर विश्वास हो जाता है। फिर एक दिन बालक के गुम हो जाने का शोर मचता है। बच्चे को डाकू उठा ले गये होते हैं।

भोली स्त्रियाँ भी इसी तरह ठगी जाती है। हाथ और गले में सोने के जेवर पहन कर खड़ी हो, सुन्दर वस्त्रो से सजी हो, बाहर जाना हो, बस के इन्तजार में बस स्टेन्ड पर खड़ी हो, इतने मे एक गाडी आकर खडी रहेगी...गाडी मे बैठा हुआ सज्जन के वेष वाला एक व्यक्ति उतर कर आदरपूर्वक उस स्त्री से कहेगा : 'कहिये जी, आपको कहा जाना है ? आईये, मैं आपको छोड़ दूं। बैठ जाईये गाडी मे, आपको जहां जाना होगा वहां पहुँचा दूंगा।'

पुरुष के सुन्दर कपड़े, साफ सुथरी भाषा और सज्जन का व्यवहार देखकर वह भोली स्त्री बेचारी मुग्ध सी रह जाय और गाड़ी में बैठ जाय तो क्या होगा ? उसके जेवर तो जायेंगे ही, साथ ही इज्जत और जान का भी खतरा पैदा हो सकता है। आज तो कई शहरों में ऐसी दुर्घटनाए होने का अपन सुनते हैं।

मात्र बाहरी अच्छा दिखावा या कुछ पलो का सुख, इससे अगर खींच गये तो फसे समझना। इसलिए दीर्घदृष्टि से सोचिये। भविष्य का विचार किजीये। विषयसेवन से क्षणिक सुख का, कुछ ही क्षणों के सुख का अनुभव होता है, पर उन क्षणो मे तीव्र राग से जो पाप-कर्म बधते हैं, उसका गभीरता से तकाजा किजीये। इसलिए 'विषय-भोग विषभक्षण से भी ज्यादा भयकर हैं,' वैसा तीर्थंकर भगवतों ने कहा है।

सुख का तीव्र रागी जीवात्मा सुख के समय का या सुख के प्रकार का विचार नही कर सकता। जिस सुख की उसे तीव्र भूख लगी हो वो सुख चाहे क्यो न फिर अल्पजीवी हो...वो भोग ही लेगा। वो सुख हलके तरह का होगा तो वैसा भी ! वो तो उसमे फसेगा ही। मगधसम्राट श्रेणिक दुर्गधा पर मुग्ध नही बने थे क्या ? दुर्गधा के साथ सभोग नही किया था क्या ! सुख की तीव्र भूख विषयसुख की क्षणि-कता का विचार नही करने देता है।

यद्वच्छाकाष्टादशमन्न बहुभक्ष्यपेयवत् स्वादु ।
विषसंयुक्त भुक्त विपाककाले विनाशयति ॥१०८॥

तद्वदुपचारसभृत-रम्यकरागरससेविता विषया ।
भवशतपरम्परास्वपि दु खविपाकानुबन्धकरा ॥१०९॥

अर्थ जिस तरह अट्ठारह प्रकार के खाद्य और काफी खान व पीने योग्य स्वादिष्ट वस्तुओ से युक्त स्वादिष्ट भोजन यदि जहरवाला हो तो वह खाने स अततोगत्वा मारक बनता है उसी तरह चापलूसी व विनय वगैरह से बढ़ी हुई सुन्दरता स और अत्यधिक राग स सेवित विषय सैकड़ो भवो की परम्परा में भी दु खभोग की परम्परा करने वाले हैं।

विवेचन आपको अत्यन्त प्रिय और सर्वश्रेष्ठ भोजन परोसा गया है, आप अत्यन्त क्षुधातुर भी हैं, भोजन की थाली सामने है, श्रेष्ठ मिठाई प्रिय व्यजन, स्वादिष्ट नमकीन, मधुर शरबत सब कुछ सामने है, परोसने वाले बड़े प्यार और मनुहार स परोस रहे ह, आप खाने की तैयारी मे ही हैं इतने में आपका एक अति विश्वस्त और जिगरजान मित्र वहाँ पर दौड़ता हुआ आपके पास आता है आपका कौर मुँह मे नहीं डालने का इशारा करके बाहर बुलाता है और आपके कान मे कहता है 'इस भोजन का एक दाना भी मुँह मे मत डालना। धोखा हुआ है इस भोजन म जहर मिला दिया गया है।' इतना कह कर वो जल्दी वापस लौट जाता है।

कहिए, आप उस समय क्या करेंगे ? क्या वह प्रिय मधुर और स्वादिष्ट भोजन आप करेंगे ? उस भोजन पर आपका राग बना रहेगा ? नहीं अब तो आपको भी उस भोजन मे जहर नजर आयगा। बाहर की आँखा से नहीं पर भीतर की आँखा से जहर दिखेगा। भोजन के पदार्थों म एकरस बने हुए जहर को आँखे देख नहीं सकती हैं मन की आँखे ज्ञान की आँख देख सकती हैं। उन भोज्य पदार्थों मे मौत के दर्शन होते हैं शरीर म कपकपी फैल जाती है, शरीर में पसीना छूट

जाता है, आँखो मे भय, डर के साये उतर आते है, आप एक पल की भी देर किये वगैर उस भोजन का त्याग कर देगे ।

'मुझे जहर नजर नही आता है...यह तो मेरे स्वजन है...ये कभी धोखा नही कर सकते,...इतना कीमती भोजन कैसे फेक दिया जाये ? यह तो किसी ने जहर की गलत धारणा वाध ली है ।' ऐसे ऐसे तर्क कुतर्क आप करेगे क्या ?' 'इसमे जहर है या नही ?' यह जानने के लिए कुछ खाने का प्रयोग करेगे क्या ? विल्कुल नही, उन पदार्थो का स्पर्श भी नही करेगे !

वैपयिक सुख भी ऐसे है, जहरीले भोजन जैसे ! उसमे भी स्त्री-पुरुप के सयोग का सुख तो हलाहल जहर के साथ घुला हुआ है ।

मान लो कि किसी रूपसुन्दरी के प्रति अनुराग पैदा हुआ । उस रूपसी को भी आपके प्रति अनुरक्ति पैदा हो, वैसा आप चाहते है । उसे अनुरागी वनाने के लिए आप अनेक प्रयत्न करते है, कभी किसी वाग वगीचे मे या कही कश्मीर की टूर मे... श्री नगर या मनाली की किसी होटल मे वह मिल गयी, आप उसे खुश करने के लिए हर संभव प्रयत्न करने लगे, उसकी हर एक वात मानने-स्वीकारने के लिए तत्पर वने,... उसका एकाध मीठा स्मित...उसके एकाध वोल की कुहुक...पाने के लिए आप लालायित वन गये और चार पाँच दिन की उस 'सेवा' के वाद उस प्रियतमा ने आप से हस के वात की । अलग अलग भावो की अभिव्यक्ति के द्वारा आपका दिल वहलाने लगी । उसकी सुन्दरता मे आपने अभिवृद्धि पायी । आपका स्नेहसागर उछलने लगा । मोह के मौजे आकाश को छूने लगे ।

अव, दर्शन और श्रवण के वाद उस सुन्दरी के स्पर्श की वासना धधक उठी और दीन वनकर...भिखारी वनकर उसने देहसुख की याचना की, उसने अपना दिल और देह आपको सौपने की तत्परता वतायी... आप मोह के उन्माद मे नाच उठे और सभोग-सुख पाने के लिए अतुर हो गये ।

उसी समय आपके उस शयनगृह के दरवाजे पर दस्तक हुई । 'कोई आया...' समझकर आपने दरवाजा खोला...आपके सामने श्वेत-

वस्त्र मे सज्ज, हाथ मे दड आर पात्र आखा मे करुणा आर वाणी मे माधुय एसे साधुपुरुष को खडे देखा। उन्हा ने आपसे कहा

'मै कुछ भी लेने नही आया हूँ बल्कि कुछ कहने आया हूँ।' आपने कहा 'मुनिवर, आपको जा भी कहना हा कह द। मुनिवर ने कहा 'वत्स, विषयसुख हलाहल जहर से भी ज्यादा खतरनाक ह, जहर ता एक बार मात देता है, य विषयसुख तो सकडा जीवन को दुखद बना डालेगे सकडो मौत को बेमात बना दग। वापस लाट मेरे प्रिय बाल। शान्त हो, स्वस्थ बन। जा इद्रिय सुख पाने के लिए तू तत्पर बना है उसका त्याग कर।'

इतना कहकर धमलाभ का आशीर्वाद देकर, व साधुपुरुष चले गये। अब आप क्या कराग? आपको उस रूपसी मे हलाहल जहर के दशन हाग? आपकी उद्दिप्त कामवासना मे तालपूट विष के दशन हाग? हा, मन की आख खुली हा ता ही यह दशन शक्य ह। यह दशन होने के बाद गात्र शिथिल हा जायँ शरीर म पसीना पसीना हा जाये आख मार डर के फटी फटी रह जाय।

ग्रन्थकार महर्षि ने विषया को, अत्यधिक राग स सवित उन विषयो को सकडा हजारा जीवन की परपरा म दुखा का सातत्य देने वाले बताये हैं। यदि उन विषया का आसवन मद राग से–अल्प राग से हा, ता वे विषय इतन अधिक भीषण व दुखद नही बनते ह। और यदि उन विषयो का सेवन पूणतया छाड दिया जाय तो वे विषय एक पल का भी दुख हमे नही द सकते हैं।

पाच इद्रिया ने जिन जिन विषया के साथ अपना रागयुक्त सबध जुडता है, जिन जिन विषया के साथ हृदय आसक्ति स बधता ह, वे विषय अपनी आत्मा का अहित करन वाले बनत ह, अर्थात् अपनी रागदशा आर आसक्ति ही अपना अधःपात करती है।

'रागरससेविता विषया' या कहकर ग्रन्थकार ने तीव्र राग-दशा के प्रति इशारा किया हैं। जहाँ तक वषयिक सुखो का अपन सवथा त्याग न कर सके वहाँ तक उन विषया का सवन तीव्र राग से न करें! राग म तीव्रता को न जुडने द। 'विषयसभाग' म हलाहल जहर का दशन

करने वाली दिव्यदृष्टि खुल जाने के बाद, राग मे तीव्रता का आना सभव नही'। 'विषयसभोग' की भूख असह्य होने से वह उसका सेवन मजबूर होकर करता है, तब राग होगा...पर उस राग मे तीव्रता नही हो सकती।

'सम्यग्दृष्टि जीवात्मा विषयोपभोग करता है फिर भी वह पापकर्मो का बध अल्प प्रमाण मे करता है,' ऐसा कथन धर्मग्रन्थो मे किया गया है, इसका हार्द यही है। ज्ञानदृष्टि कहे या दिव्यदृष्टि कहे, योगदृष्टि कहे या सम्यग्दृष्टि कहे, यह दृष्टि राग मे तीव्रता को जुडने नही देती। द्वेष मे तीव्रता को शामिल नही होने देती। वह 'ज्ञानदृष्टि' यह है **'विषय जहर से भी ज्यादा भयकर है। जहर एक जीवन नष्ट करता है, विषय अनेक भव....अनेक जीवन बरबाद करते है।** विषयोपभोग करने से पूर्व और विषयोपभोग के बाद, यह ज्ञानदृष्टि खुली रहनी चाहिए। विषयोपभोग के समय ज्ञानदृष्टि खुली नही रह सकती। ज्ञानदशा हो सकती है। अर्थात् अतरात्मा जागृत हो, बहिरात्मा मोहनिद्रा मे हो।

पाँचो इन्द्रियो के विषयो के प्रति इसी ज्ञानदृष्टि से देखना है। शब्द-रूप-रस-गध-स्पर्श के प्रति 'ये विषय जहरीले हैं' ऐसा विचार दृढ कर देने का है। इस विचार से विषयराग का जहर उतरता जायेगा। जब विषयराग का जहर कम हो जायेगा तब वैराग्य का अमृत बढता जायेगा। वैराग्य का अमृत आपके मन को, जीवन को आनन्द से भर देगा। रागजन्य आनन्द से वैराग्यजन्य आनन्द दीर्घजीवी, परिशुद्ध और पुण्यवधक होता है।

जो विषयों में आसक्त वह मनुष्य नहीं

श्लोक : अपि पश्यतां समक्ष नियतमनियतं पदे पदे मरणम्।
येषा विषयेषु रतिर्भवति न तान् मानुषान् गणयेत् ॥११०॥

अर्थ कदम कदम पर नियत और अनियत मृत्यु को प्रत्यक्ष देखने पर भी जिन्हे विषयो में आसक्ति होती है उन्हे मानव नही गिनना चाहिए।

विवेचन : सामने मौत नजर आ रही हो फिर भी विषयो मे आसक्ति हो सकती है क्या? यदि हो तो उन्हे मनुष्य नही कहा जा सकता। उन्हे बुद्धिमान नही कहा जा सकता।

ससार की कौन सी गति म जीवात्मा के साथ मौत जुडी हुई नही है ? चाहे फिर वो स्वग का देव हो या नरक की आत्मा हो चाहे वह मनुष्य हो या तियच का पशु पक्षी हो, जिसका जन्म है उसका मौत निश्चित है।

मौत का स्मरण विषयरमण का मारक है। महाराष्ट्र म एक सन्त पुरुष कई वरसा पूर्व हो गये। उनका नाम था स्वामी एकनाथ। उनके पास एक श्रीमत भक्त आया। उन्होने एकनाथ से कहा 'आपके जीवन मे एक भी पाप नजर नहीं आता इसका कारण क्या है ? जबकि मेरे जीवन मे पाप के अलावा कुछ नजर नही आता, इसका क्या कारण ?

भक्त का प्रश्न शांति से सुनकर स्वामी एकनाथ ने आँखें मूद ली और ध्यान मे लीन हो गये। भक्त तो सामने बैठा रहा। कुछ देर बाद एकनाथ ने आँखें खोली और भक्त के सामने देखते हुए कहा 'तेरे प्रश्न का जवाब तो बाद मे दूगा पर मुझे आज से सातवे दिन तेरी मृत्यु नजर आ रही है।'

भक्त की आँख फटी सी रह गयी! क्या ? मेरी मृत्यु ' आजसे सातवें दिन ?' उसे एकनाथ के ज्ञान पर श्रद्धा थी और उनके वचन पर विश्वास था। वो बोल उठा 'क्या कहते हैं आप ? क्या सचमुच मेरी मौत सातवें दिन है ?'

'हाँ, सातवें दिन मुझे तेरी मौत दिख रही है।' भक्त अपने घर आया। परिवार को उसने कह दिया 'अब मेरा जीना मात्र सात दिन का है। मैंने मेरी जिंदगी मे ढेर सारे पाप किये है। अब इन सात दिनो मे मुझे किसी भी तरह का पाप नही करना है। मैं दुकान पर भी नहीं जाऊंगा और घर के काम म भी हिस्सा नही लूगा। अब तो रात-दिन बस परमात्मा का ही नामस्मरण करना है। और वह भक्त परमात्मा की भक्ति मे और नामस्मरण मे लीन हो गया। सातवें दिन स्वामी एकनाथ उनके घर पर भिक्षा लेने आये। भक्त को घर पर देखकर पूछा

'क्या भाई, दुकान पर नही गये क्या ?'

'भगवन् अब दुकान पर क्या जाना ! सात दिन से नही गया हूँ। दुनिया के सभी धधे छोड दिये है। दिन रात परमात्मा के नामस्मरण

मे लीन रहता हूँ।' भक्त ने एकनाथ के चरणों मे माथा टेक दिया। एकनाथ ने प्रश्न किया

'इन सात दिनो मे कितने पाप किये ?'

'एक भी नही ! सामने मौत दिखे फिर रग-राग या भोग विलास क्या अच्छे लगेंगे भगवन ? व्यापार-धंधा या और दुनियादारी की बाते याद ही नही आती ! फिर, आज तो मानवा दिन है।'

क्यो भाई, तुम्हारे प्रश्न का जवाब मिल गया न ? मेरे जीवन मे क्यो एक भी पाप नही है ? चूं कि मैं रात दिन मौत को आँखो के सामने रखता हूँ...। मौत की याद पापो मे रोक लेती है। तुझे मौत नजर के सामने रही इसलिए तेरा जीवन निष्पाप होता चला। तू प्रभु के ध्यान-कीर्तन में लीन हो सका। तुझे तो अभी जीना है। आज मरना नही है, यह तो निष्पाप जिन्दगी जीने का रहस्य तुझे बताना था, इसलिए ऐसा कहा था।'

ज्ञानी पुरुष कहते है . मृत्यु अनिश्चित है....कभी भी आयुष्य की डोर टूट सकती है। कहीं भी और कभी भी मृत्यु जीवात्मा पर हमला कर सकती है। ऐसी स्थिति मे विषयसुखो की महफिले उडायी जा सकती है क्या ? मानवी और तिर्यच का आयुष्य निश्चित नही होता है। कभी भी आयुष्य पूरा हो जाये। देवो का और नारक का आयुष्य निश्चत होता है। वैसे मृत्यु भी निश्चित होता है।

वर्तमानकाल मे अपने सभी के सोपक्रम आयुष्य होते है। यानि कि कभी भी आयुष्य पूरा हो जाय और मौत चली आये। धन-संपत्ति-इज्जत-आबरु या पुत्र-परिवार कोई भी नही बचा सकता। ऐसी अशरण नि सहाय स्थिति मे विषयसुखो की रग-रेलियाँ कैसे खेली जा सकती है ? फिर भी अगर विषयोपभोग करना हमे पसन्द है तो हम बुद्धिहीन पशु ही है। मानव नही है। चाहे शरीर मनुष्य का हो, आचरण पशु का ही कहलायेगा।

यदि अपन मानव है तो प्रतिदिन-हरपल मौत का स्मरण करते रहना चाहिए। अपने मृत्यु की कल्पना...मृत्यु के समय का वातावरण, मृत्यु के बाद का पुनर्जन्म...यह सब हमेशा, रोजाना एकाध बार भी सोचना चाहिए, तो विषयसुखो की आसक्ति अपने आप मद हो जायेगी। धीरे धीरे मन विषयो से अनासक्त होता चलेगा।

श्लोक विषयपरिणामनियमो मनोऽनुकूलविषयेष्वनुप्रेक्ष्य ।
द्विगुणोऽपि च नित्यमनुग्रहोऽनवद्यश्च संचिन्त्य ॥१११॥

अर्थ मन के अनुकूल विषयों में, विषयों के परिणाम के नियम का बार बार चिन्तन करना चाहिए (और) सर्वथा निर्दोष व बहुगुणयुक्त लाभ का विचार करना चाहिए।

विवेचन किसी भी विषय की अवस्था अवस्थित नहीं होती है। शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श, पांच इन्द्रियों के इन विषयों में से किसी भी एक विषय की अवस्था स्थायी-सदाकालीन नहीं होती है। अवस्थाएं बदलती रहती हैं। आज हमें शुभ और इष्ट मालूम होने वाला विषय कल अशुभ और अनिष्ट भी लग सकता है। आज अशुभ और अनिष्ट लगने वाला विषय दूसरे दिन शुभ और इष्ट भी प्रतीत हो सकता है।

कल जो आवाज, जो स्वर प्रिय लगते थे मनभावन प्रतीत होते थे, आज वे अनिष्ट और अप्रिय भी लग सकते हैं, आज जो स्वर अनिष्ट और अप्रिय लगता है, हो सकता है कल वह प्रिय और इष्ट भी लगे।

जिस तरह बुरे विषय अच्छे हो सकते है और अच्छे विषय बुरे भी बन जाते हैं वैसे इस मन की माया भी विचित्र है। मन को आज जो पसद न आये, आज जो देखना भी पसद न हो कल उसके बिना जिना भी दुश्वार लगने लगे। रागी और द्वेषी मन की प्रिय-अप्रिय की कल्पनाए इष्ट-अनिष्ट की कल्पनाएं शुभ अशुभ की कल्पनाए बदलती रहती हैं।

ज्यो विषयो की अवस्थाए परिवर्तनशील हैं त्यो मन के भाव भी बदलते रहते हैं। इसलिए जाग्रत मनुष्य को चाहिए कि वह विषयो के प्रति रागी आसक्त न बने। चूंकि अनुराग अवस्था की स्थिरता चाहता है। विषय की जिस अवस्था के प्रति अनुराग पैदा हुआ हो, उसी अवस्था को वह हर-हमेश के लिए बनाये रखना चाहता है।

पर यह तो नितात असभव है। अवस्था बदलती ही रहती है। प्रिय अवस्था जब अप्रिय अवस्था मे बदल जाती है तो उसका मन अशात हो उठता है, उसका दिल बेचैनी का शिकार बन जाता है।

अवस्था यानि पर्याय। पर्याय तो उत्पन्न भी हो और नष्ट भी हो जाय। हमेशा तो मात्र द्रव्य ही बना रहता है। इन्द्रियो के विषय तो द्रव्य के पर्यायो को मायाजाल है। द्रव्य के पर्याय इन्द्रियो के विषय बनते है जबकि द्रव्य ज्ञानदृष्टि का ही विषय बन सकता है!

शब्द मे माधुर्य–रुखापन...पर्याय है, जबकि भाषा-वर्गणा के पुद्गल द्रव्य है। रूप मे सौन्दर्य-सुडौलता या बदसूरती-बेडौलता पर्याय है, जब कि औदारिक वर्गणा के पुद्गल द्रव्य है। रस मे मधुरता...कटुता या स्वाद, बेस्वाद यह पर्याय है, जबकि औदारिक वर्गणा के पुद्गल द्रव्य है। गन्ध मे सुगन्ध या दुर्गन्ध यह पर्याय है, जबकि औदारिक वर्गणा के पुद्गल द्रव्य है। स्पर्श मे मुलायमता या रुखापन यह पर्याय है, जबकि औदारिक वर्गणा के पुद्गल द्रव्य है।

जीवात्मा यदि इन परिवर्तनशील पर्यायो के रागद्वेष से मुक्त हो जाय तो उसमे दुगुना ही नही...अनतगुना लाभ होता है। इष्ट-अनिष्ट और प्रिय-अप्रिय की कल्पनाओ मे जीवात्मा प्रगाढ राग–द्वेष कर के असख्य... अनत पापकर्म बाधता है। वे पापकर्म उस जीवात्मा को भीषण भवसागर मे फेक देते है। लाखो...करोडो दुर्गतिओ मे अपार वेदनाए सहन करता हुआ जीवात्मा दीन-हीन और जडवत् बन जाता है।

यदि वह इष्ट-अनिष्ट की प्रिय-अप्रिय की, कल्पनाओ से मुक्त हो जाय, राग–द्वेष की प्रचुरता से मुक्त हो जाय तो पापकर्मो के बधन से छूट जायँ। जिन्दगी मे नये पाप बधना बद हो जायं, कम हो जाय यह कोई छोटी मोटी बात नही, महान् लाभ है।

यह बात मात्र सुनने को या पढने की ही नही है, इस बात पर मनुष्य को गभीर चिंतन करना चाहिए। गहन अनुप्रेक्षा करने की है। ग्रन्थकार महर्षि इस बात को गभीरता से, पूरी सजीदगी से सोचने की प्रेरणा दे रहे है।

१ विषयो की अवस्थाए स्थायी नही होती, परिवर्तनशील ह ।
२ विषय विराग से पापकर्म नही बधते ह ।
३ 'पाप-रहितता' सबसे बडा लाभ है ।

इन तीन बातो पर गभीर चिंतन करना चाहिए । यदि अपन सचमुच आत्मशाति चाहते ह यदि हम दु ख त्रास और वेदना से मुक्ति चाहते हैं तो अपने मन के छिछले कूए को खोद करके गहरा करना होगा । मन के कूए मे से असत विचारो के कीचड को बाहर फेंक कर उसमे स्वच्छ पानी का प्रवाह बहता करना होगा । तो ही मन तत्त्वचिंतन मे जम सकेगा । तत्वो की अनुप्रेक्षा म प्रवेश कर सकेगा । जीवात्मा विषय राग से विराम पायें तो ही वह पापकर्मों के बधनोंसे बच सकता है, तभी दु ख त्रास और वेदनाओ से वह दूर रहने म सफल हो सकता है ।

आत्मा की रक्षा करें !

श्लोक इति गुणदोषविपर्यास दर्शनाद्विषयमूर्च्छितो ह्यात्मा ।
भवपरिवर्तनभीरुभिराचारमवेक्ष्य परिरक्ष्य ॥११२॥

अर्थ इस तरह गुण और दोष म विपरीत दर्शन करने से आत्मा विषयो म आसक्त बना हुआ है। ससारपरिभ्रमण से डरते हुए जीवो को 'आचाराग' का अनुशीलन करके उसकी (आत्मा की) रक्षा करनी चाहिए ।

विवेचन 'अभी भी मुझे इस भीषण भववन मे भटकना होगा ? अभी भी क्या मुझे इन ससार दावानल मे सुलगना होगा ? अभी भी क्या मुझे इस ससार के पाताल कुए मे बदी बन रहना होगा ? अभी भी क्या मुझ इस ससार-पिशाच के जबडा म जकडाये रहना होगा ? नही, नही अब मुझे भटकना नही है, सुलगना नहीं है ।

ससार-परिभ्रमण का भय क्या दिल को दहला रहा है ? भय के मारे क्या हृदय विदीर्ण हो रहा है ? तो तुम्हे एक ही काम करना होगा तुम्हारी आत्मा को बचा लेना होगा । आत्मा की सर्वांगीण रक्षा

करनी होगी। आज तक अपन ने खुद के आत्मा की परवाह नही की... आत्मा की ओर देखा तक नही...। अनत अनत जन्मो से विषयो की ओर ही देखा है...सोचा भी तो उसी के बारे मे। अपनी आत्मा घोर उपेक्षा और अवहेलना का पात्र बन गयी है। बिल्कुल ही भूला दी है हमने उसे...।

आइये, अपन देखे अब उस आत्मा की ओर गौर से। बिल्कुल बेहोश होकर...शान-भान भूलकर चारो खाने चित पडी है अपनी आत्मा। जरा उसके मुँह को तो सूंघिये...कितनी बदबू आ रही है? उसने जमकर विषय की शराब पी है, विषयरस के तीव्र नशे मे वह चकनाचूर है। ऐसी कदर्थना क्यो हुई आत्मा की, जानते हो? चूकि उसे विपर्यास हो गया है वस्तुदर्शन मे। उसकी दृष्टि में विपर्यास हो गया है...। गुणकारी को निर्गुणी समझ बैठी है...अवगुणी को गुणी के रूप मे स्वीकार करती है, हितकारी को अहितकारी के रूप मे मान रही है, अहितकारी को हितकारी के रूप मे देख रही है। मात्र देखती है या मानती है इतना ही नही, अपितु उसका आचरण भी तदनुसार ही हो रहा है...। अहितकारी को हितकारी समझकर उसका स्वीकार कर लिया है। दुखद को सुखद समझकर गले से लगा लिया है। गुणकारी का तिरस्कार कर बैठती है...अवगुणी समझकर। हितकारी से कोसो दूर भागती है अहितकारी मानकर।

पाँच इन्द्रियो के जो विषय कालकूट जहर से भी ज्यादा खतरनाक है, ज्यादा विनाशक एव विघातक है, उन विषयो को मूढ आत्मा हितकारी समझकर, सुखकारी समझकर भोगती है...झूमझूम कर भोगती है...। धर्म के जो पवित्र और सुखद अनुष्ठान है, जो कि अमृत से भी ज्यादा हितकारी है, सुखकारी है...उन अनुष्ठानो को दुखदायी समझकर, निरर्थक समझकर उनका त्याग कर देती है। ससार के द्वेषी, रागी और अज्ञानी स्नेही-स्वजनो को सुखकारी समझकर उनका सग-सहवास करती है, जबकि परम कृपालु परमात्मा को, उपकारी सद्गुरुजनो को और सत्प्रेरणा देने वाले कल्याणमित्रो को अहितकारी समझकर उनका त्याग कर देती है...उससे दूर रहती है।

कितना अनर्थकारी विपर्यास हो गया है आत्मा को? आत्मा के

इस विपर्यास को दूर करना अनिवार्य है। विपर्यास जब दूर होगा तब ही वह वस्तुतत्त्व का यथार्थ दर्शन कर पायेगा। तब ही वह हेय त्याज्य का त्याग करेगा और उपादेय-स्वीकार्य करेगा। दृष्टि का यह विपर्यास-दोष गंभीर रोग है। 'केन्सर' और 'टी बी' के रोग से भी ज्यादा खतरनाक और घातक है। केंसर तो एक जिन्दगी को तहस-नहस कर सकता है, जबकि यह विपर्यास-रोग तो असंख्य जन्मों की परम्परा को नष्ट भ्रष्ट कर देता है।

हाँ, इस रोग को मिटाने का औषध है ही नहीं, ऐसा मत समझना, औषध है। ग्रन्थकार महर्षि ने वह औषध बतलाया है एक धर्मग्रन्थ का। एक धर्मग्रन्थ के अध्ययन मनन और परिशीलन को औषध की संज्ञा दी है। वह ग्रन्थ है "आचारांगसूत्र"।

जैन शासन की स्थापना की बुनियाद सा यह 'आचार सूत्र' का नाम है। तीर्थंकर भगवंतो के श्रीमुख से "उप्पन्नेई वा, विगमेई वा, धुवेई वा" इस त्रिपदी का श्रवण करके, गणधर महर्षि जिस 'द्वादशांगी' की रचना करते हैं, उस द्वादशांगी के बारह शास्त्रों में सर्वप्रथम शास्त्र होता है "आचार"। हां, प्रत्येक तीर्थंकर के धर्मशासन की स्थापना में, हर एक गणधर सर्वप्रथम इस 'आचार' शास्त्र की ही रचना करते हैं। यह शाश्वत नियम है।

विषयरस की मदिरा का आकण्ठ पान करके बेहोश मूर्छित हुए जीवात्मा को होश में लाने के लिए इस 'आचार' ग्रन्थ का तत्त्वरसायन खिलाना होगा। 'आचार' ग्रन्थ का तत्त्वामृत घोट घोट कर पिलाना होगा। समझाकर पटाकर पिलाना होगा। तब कहीं 'विपर्यास' का रोग निर्मूल होगा। उसकी दृष्टि में ज्ञानज्योति का प्रज्वलन होगा। सम्यग्ज्ञान की दिव्य ज्योति उजागर होगी।

इस जीवन में बस, यह एक ही कार्य कर लें आत्मरक्षा का। आत्मा को घेरे हुए इस विपर्यास के रोग को जडमूल से नष्ट करने का।

श्लोक : सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपोवीर्यात्मको जिनैः प्रोक्तः ।
पञ्चविधोऽयं विधिवत् साध्वाचारः समनुगम्यः ।।११३।।

अर्थ : तीर्थंकरो ने सम्यक्त्वाचार, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार और वीर्याचाररूप पाच प्रकार का साध्वाचार (आचारांग का अर्थ) कहा है। उसे विधिपूर्वक जानना चाहिए।

विवेचन : जब तीर्थंकर धर्मतीर्थ की स्थापना करते है तब सर्वप्रथम वे आचारमार्ग का उपदेश देते है, अर्थात् पांच प्रकार के आचारो का वर्णन करते है। तीर्थंकर भगवन्तो की इस वाणी को उनके प्रमुख शिष्य जिनको गणधर कहते है, वे सूत्रबद्ध कर लेते है। वे सूत्र यानि आचारांग सूत्र!
'आचाराग' यह द्वादशागी का प्रथम अग है। उसमे पांच प्रकार के आचारो का विशद और विस्तृत वर्णन किया गया है। यहाँ संक्षेप मे अपन उन पाँच आचारो को जानेगे। इन पाच आचार को यहाँ प्रस्तुत मे साध्वाचार कहा गया है, यानि कि साधुजीवन मे आचरण करने के ये पॉच आचार है।

प्रथम आचार है सम्यक्त्वाचार। सम्यक्त्व को दर्शन भी कहा गया है, यानि कि सम्यक्त्वाचार को दर्शनाचार भी कहा जा सकता है। सम्यग्दर्शन यानि जिनवचन पर नि शक श्रद्धा। वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा के उपदेश-वचनो पर उन्ही के द्वारा दिये गये तत्त्वज्ञान पर किसी भी तरह की शका-सदेह नही करना। उन वचनो के अतिरिक्त किसी भी रागी–द्वेषी मनुष्य या देव के वचनो की ओर आकर्षित नही होना। जिनवचन की सत्यता को समग्रता व सपूर्णता से स्वीकारना।

अलबत्ता, उन जिनवचन की यथार्थता को समझने–स्वीकारने के लिए जिज्ञासा पैदा हो सकती है। उस जिज्ञासा को सन्तुष्ट करने के लिए ज्ञानी पुरुषो के चरणो मे बैठकर प्रश्न-पृच्छा भी की जा सकती है। मन मे पैदा होते प्रश्नो का समाधान पा कर जिनवचन को स्मृति के खजाने मे सगृहित बनाए रखना चाहिए। उन जिन-वचनो के अर्थ को, उसके मर्म को, तात्पर्य को अपने विचारो के साथ एकरस बना देना चाहिए।

दूसरा आचार है ज्ञानाचार। दर्शनाचार से जब बुद्धि पवित्र होती है तब वह मति ज्ञानाचार बनती है। दर्शनाचार से शास्त्रज्ञान जब सही समझ का रूप धारण करता है तब वह श्रुतज्ञानाचार बनता है। दर्शनाचार के शुद्ध पालन से आत्मभाव जब निर्मल बनता है और अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है तब अवधि ज्ञानाचार का जन्म होता है। मन पर्यवज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर मन पर्यवज्ञानाचार बनता है और जब केवलज्ञानावरण कर्म के संपूर्ण क्षय से केवलज्ञान प्रगट होता है तब वही केवलज्ञानाचार कहलाता है।

तीसरा आचार है चारित्राचार। आठ प्रकार के कर्मों के चय-समूह को रिक्त बनायें उसे चारित्र कहते हैं। पांच समिति [ईर्यासमिति भाषासमिति, एषणासमिति, आदान भण्डमत्तनिक्षेपणा समिति और पारिष्ठापनिका समिति] और तीन गुप्ति [मनोगुप्ति वचनगुप्ति, कायगुप्ति] रूप यह चारित्राचार है। चारित्र के पाँच प्रकार बताये गये हैं (१) सामायिक चारित्र (२) छेदोपस्थापनीय चारित्र (३) परिहारविशुद्धि चारित्र (४) सूक्ष्म संपराय चारित्र (५) यथाख्यात चारित्र। इन पांचों चारित्र में समिति और गुप्ति का पालन अनिवार्य होता है, इस लिए समिति गुप्ति के पालन को ही चारित्राचार कहा गया है।

चौथा आचार है तपाचार। तपाचार के बारह प्रकार बतलाये गये हैं। छह प्रकार का बाह्य तप एवं छह प्रकार का आभ्यंतर तप। अनशन उनोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश, संलीनता यह बाह्य तपाचार है जबकि प्रायश्चित, स्वाध्याय, ध्यान विनय, वैयावृत्य और व्युत्सर्ग, इस आभ्यंतर तपाचार कहा जाता है।

पाँचवा आचार है वीर्याचार। वीर्य यानि आत्मशक्ति। उपरोक्त चार आचारों के पालन में आत्मशक्ति का उपयोग करना यह वीर्याचार है। अप्रमत्त होकर ज्ञानाचार वगैरह चार आचारों के पालन में तत्पर होना चाहिए।

इन पाँच प्रकार के आचार का जो ज्ञान आचारांग सूत्र में निबद्ध है उस आचारांग सूत्र का अध्ययन भी सविधि करना चाहिए, यानि विधि योगोद्वहन की क्रिया और विशिष्ट तपश्चर्या के साथ अध्ययन करना चाहिए।

जिस स्थान मे रहकर अध्ययन करने का हो वह स्थान शुद्ध होना जरूरी है। जिस काल [दिन या रात का समय] मे अध्ययन करना हो वह काल भी शुद्ध होना आवश्यक है। कालशुद्धि प्राप्त करने के लिए 'कालग्रहण' की क्रियाए करने की होती है। कालशुद्धि के प्रवेदन की क्रिया भी की जाति है। इस ढग से किया हुआ आचारांग का अध्ययन ही मुनि के आत्मभाव को शुद्ध-शुद्धतर-शुद्धतम बना सकता है। मुनि की आत्मा मे ज्ञान परिणत हो जाता है। आत्मपरिणतिरूप हुआ ज्ञान मोक्षमार्गप्रकाशक ज्ञान हो जाता है। आत्मा पर लगे हुए कर्मो के लिए वह ज्ञान विनाशक बन जाता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धि-अशुद्धि की उपेक्षा करके किया हुआ धर्मग्रन्थो का अध्ययन आत्मशुद्धि मे उपयोगी सिद्ध नही हो पाता।

आचारांग : रूपरेखा

श्लोक . षड्जीवकाययतना लौकिकसन्तानगौरवत्याग : ।
शीतोष्णादि-परिषहविजय. सम्यक्त्वमविकम्प्यम् ॥११४॥
संसारादुद्वेगः क्षपणोपायश्च कर्मणां निपुण ।
वैयावृत्त्योद्योगः तपोविधिर्योषितां त्यागः ॥११५॥

अर्थ : छह जीवकाय की रक्षा, कुटुम्बिजनो के ममत्व का त्याग, शीत, उष्ण वगैरह परीषहो का विजय, अविचल सम्यक्त्व (११४)
ससार उद्वेग, कर्मो को खपाने का कुशल उपाय, वैयावृत्य मे तत्परता, तप का विधि और स्त्री का त्याग (११५) आचारांग के ये नौ भेद है।

विवेचन : समग्र आचारांग सूत्र मे पाँच प्रकार के आचार का उपदेश गूंथा गया है, यह बात बतलाकर अब आचाराग के अलग-अलग अध्ययनो मे जिन विषयो का प्रतिपादन किया गया है उसकी सामान्य रूपरेखा ग्रन्थकार दे रहे है।

आचाराग सूत्र के मुख्य दो विभाग है। विभाग को शास्त्रीय परिभाषा मे 'श्रुतस्कध' कहा जाता है। प्रथम श्रुतस्कंध और द्वितीय

श्रुतस्कंध। पहले श्रुतस्कंध में नौ अध्ययन है। यानि कि नौ प्रकरण हैं। प्रत्येक अध्ययन का नाम और अध्ययन का विषय बतलाया गया है।

(१) **शस्त्रपरिज्ञा** इस अध्ययन में सब प्रथम सामान्यतया जीवात्मा का अस्तित्व सिद्ध किया गया है। जीवों की छ: निकायें बतलायी गयी हैं। पृथ्वीकाय, अप्‌काय, तेजसकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। इन छः काय का स्वरूप समझाकर, उन जीवों का वध करने से संसार में जीवात्मा को परिभ्रमण करना होता है और कर्मबंध होता है, यह बात बतायी गयी है।

इस तरह के जीववध का त्याग मन-वाणी-वतन से करना चाहिए। जीववध न तो करना चाहिए, नहीं करवाना चाहिए और नहीं जीववध की अनुमोदना करनी चाहिए। यों नौ प्रकार से जीववध का त्याग करने का उपदेश देकर, उन छह जीवनिकाय के जीवों की रक्षा का प्रयत्न ज्ञानपूर्वक करने का सलाह मशविरा दिया गया है।

(२) **लोकविजय** 'लौकिक-संतान' यानि की माता पिता, पत्नि-पुत्री-पुत्र-स्नेही-स्वजन वगैरह। इन सब के प्रति स्नेह-लगाव नहीं रखने की आसक्ति नहीं रखने का उपदेश दिया है। यानि कि जिन संसारी स्वजनों का त्याग किया, उनकी तरफ का स्नेह भी त्यागना चाहिए, यह कहा गया है। इसके बाद क्रोध-मान माया और लोभ इन कषायों पर विजय प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है। क्षमा नम्रता सरलता और निर्लोभता से कषायों पर विजय पाया जा सकता है ऐसा कहा गया है।

(३) **शीतोष्णीय** क्षुधा - तृषा - उष्णता वगैरह बाईस परिषहों को समताभाव से सहन करने चाहिए। वे परीषह आयें तब डरपोक नहीं बनना चाहिए, यह बात इस अध्ययन में की गयी है। बाईस परिषहों में दो परिषह शीत है जबकि बीस परिषह उष्ण हैं। स्त्री परिषह और सत्कार परिषह को भावात्मक दृष्टि से शीत परिषह कहा गया है। बाकी के बीस परिषह उष्ण कहे गये हैं।

(४) **सम्यक्त्व** सम्यक्त्व यानि सम्यग्दर्शन। यह सम्यग्दर्शन तत्त्वार्थ की प्रगाढ श्रद्धारूप होता है। यह श्रद्धा शंका कांक्षा विचिकित्सा

से रहित होनी चाहिए और अविचल होनी चाहिए। इस विषय को इस अध्ययन मे विशद किया गया है।

(५) **लोकसार** : मुनि ससार से उद्विग्न होता है। हिंसा असत्य वगैरह पापो मे प्रवृत्त नही होता है। मुनि अकिंचन होता है, ये बाते बतलाकर, मुनि कामभोगो से, ससार के कामभोगो से क्यो उद्विग्न होता है, उसके हेतु–कारण बतलाये गये है। मुनि ससार मे सयम को ही सारभूत मानते है। निर्वाण को ही सारभूत मानते है। इसलिए सयम और निर्वाण का साधक ऐसा धर्मज्ञान ही उनके मन मे 'लोकसार' होता है। अपने मोक्षमार्ग को कभी भी छोडे बिना अविरत गति से वो प्रगतिशील बने रहते है। अततोगत्वा सारभूत मोक्ष को पा लेते है। यह बात काफी मार्मिक ढंग से इस अध्ययन मे की गयी है।

(६) **धूत** : इस अध्ययन मे स्वजन, मित्र, पत्नि, पुत्र वगैरह के प्रति निरपेक्ष भाव धारण करने को कहा गया है, अर्थात् इन सब स्वजन-परिजनो का त्याग करने का उपदेश दिया गया है। ज्ञानावरण आदि कर्मो का क्षय करने के लिए श्रुतज्ञानानुसार धर्मानुष्ठान करने की प्रेरणा देकर अन्त मे शरीर और उपकरणो का भी त्याग करने का उपदेश दिया गया है।

(७) **महापरिज्ञा** . श्रमण जीवन मे आराध्य मूल गुण [पॉच महाव्रत] और उत्तरगुण [गोचरी के ४२ दोषो का त्याग वगैरह] को सम्यक्तया जानकर उसके मुताबिक जीने का उपदेश इस अध्ययन मे दिया गया है। चाहे श्रमण के पास मत्रशक्ति हो, तत्रो का ज्ञान हो या अवकाशगमन वगैरह की लब्धि हो, पर उसका उपयोग भौतिक सुख-समृद्धि के लिए नही करने की लालबत्ती दी गयी है। सावधानी दी गयी है। अपने जीवन के प्रति निर्मम-निस्पृह बनकर आत्मगुणो की आराधना के लिए ही साधु को जीने का है, यह साराश है। जीवन का मोह मनुष्य के पास अनेक अकार्य करवाता है।

इसी अध्ययन का दूसरा विभाग है प्रत्याख्यानपरिज्ञा। इसमे त्याज्य का प्रतिज्ञापूर्वक त्याग करके सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र मे पुरुषार्थ करने को कहा गया है। 'वैयावृत्योद्योग' कहकर सत्कार्यो मे सतत उद्यमशील बनने का निर्देश दिया गया है।

यह महापरिज्ञा और प्रत्याख्यानपरिना अध्ययन आज आचाराग सून मे उपलब्ध नही है। वह कब और कसे लुप्त हो गये वो भी नहीं जाना जा सका है।

(८) **विमोक्षयतना सकल कर्मांशवियोगो मोक्ष** 'सव कर्मो का आत्मा से वियोग होना उसी का नाम मोक्ष है। श्रावक (गहस्थ) अमुक आशिकरूप मे ही कमक्षय कर सकता है इसलिए उन्हे दश-विमोक्ष' कहा गया है। साधुपुरुष सब कम का क्षय कर सकते हैं इसलिए उन्हे 'सवविमोक्ष' कहा गया है। इस मोक्षवणन के अन्तगत तीन प्रकार के अनशनो का वणन भी किया गया है १ भक्तप्रत्याख्यान २ इगिनी ३ पादपोपगमन। स्वेच्छाया व समाधिपूवक स्वीकार किये जाने वाले ये तीन मृत्यु के प्रकार है।

(९) **उपधानश्रुत** श्रमण भगवान महावीर स्वामी के द्वारा की गई तपश्चर्या का वणन इस अध्ययन म विस्तार से किया गया है। भगवान उमास्वातीजी ने इस अध्ययन को 'तपोविधि' कहा है। साथ-साथ 'ब्रह्मचय' का निर्देश योषितत्याग' के नाम पर किया गया है।

इस आचाराग सूत्र पर चोदह पूवधर श्री भद्रबाहु स्वामी ने प्राकृत भाषा मे नियुक्ति की (गाथाबद्ध) रचना की है। उन्होन मूल सूत्र की विशद विवेचना के साथ साथ अवातर अनेक विषयो का देकर आचार के विषयो को और ज्यादा व्यापक बनाये हैं।

आचाराग के सूत्रो और नियुक्ति—गाथाओ पर महान् प्रज्ञावत आचाय श्री शीलाकाचाय ने सस्कृत भाषा मे टीका की रचना करके गभीर विषयो को भी सरल सुबोध और सरस बना दिया है। पारि-भाषिक शब्दो की सरल परिभाषा, आत्मा, कम वगरह परोक्ष विषयो की तलस्पर्शी स्पष्ट विवचना और गणधर भगवन्तो की गहन वाणी म से उद्धत तात्पय यह सब सचमुच चित्त को आनन्द से आप्लावित कर दे वसा आह्लादक है।

'आचाराग का अध्ययन चिंतन मनन जो सरल और सुबोध प्रतीत होता ह इसका श्रेय नियुक्ति और टीका को ही है। अन्यथा गणधर भगवन्त श्री सुधर्मास्वामी की सूत्रात्मक वाणी तो मुझ जसे अल्पन और मन्द बुद्धि के मानव के लिए दुर्बोध ही है।

अब ग्रन्थाकार आचाराग के दूसरे श्रुतस्कन्ध की विषय सूचि दे रहे हैं।

श्लोक : विधिना भैक्षग्रहणं स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिता शय्या ।
इर्या-भाषाम्बर-भाजनैषणावग्रहाः शुद्धाः ॥११६॥

अर्थ : [आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध की प्रथम चूलिका के सात अध्ययन के नाम] विधिपूर्वक भिक्षाग्रहण, स्त्री-पशु-नपुसक से रहित उपाश्रय, ईर्याशुद्धि, भाषाशुद्धि, वस्त्रशुद्धि, पात्रशुद्धि और अवग्रह शुद्धि ।

विवेचन . आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध मे नौ अध्ययनो मे जो तत्त्वज्ञान गूंथा गया है वह मोक्षमार्ग की अन्तर्यात्रा मे काफी उपयोगी है, फिर भी उसमे जो कुछ कहा गया है वह सक्षिप्त है। कुछ महत्त्वपूर्ण बाते नही भी कही गयी है। इसलिए दूसरे श्रुतस्कंध की रचना हुई है। प्रथम श्रुतस्कंध मे जो बाते नही कही गई या कहनी शेष रह गई वे बाते, और जो सक्षेप मे कही गयी है उनका विस्तार दूसरे श्रुतस्कंध मे किया गया है, ताकि मोक्षमार्ग के आराधक मनुष्य को उपयोगी विशद और सुस्पष्ट मार्गदर्शन मिल सके।

दूसरे श्रुतस्कंध के चार मुख्य विभाग हैं। इन विभागो को 'चूलिका' के नाम से उद्बोधित किये गये है। प्रत्येक चूलिका के अवातर अध्ययन है। उन अध्ययनो के अवातर उद्देशक (प्रकरण) दिये गये हैं।

प्रथम चूलिका के सात अध्ययन है। एक ही कारिका मे उन सात अध्ययनो के नामो का निर्देश ग्रन्थकर्ता ने किया है। उन प्रत्येक अध्ययन मे कौन-कौन से विषय का निरुपण है, प्रतिपादन है...उसका सक्षिप्त परिचय यहां पर दिया जा रहा है।

१. पिंड-एषणा :—

साधु और साध्वी जो भिक्षा ग्रहण करते है वह भिक्षा उद्गम-उत्पादन और एषणा के ४२ दोष से रहित ग्रहण करने की होती है। इस भिक्षा के विषय की काफी विस्तार से इस अध्ययन मे चर्चा की गयी है।

२. शय्या-एषणा :—

शय्या यानि प्रतिश्रय या उपाश्रय। साधु-साध्वी को कैसे स्थान मे

रहना चाहिए, जिस स्थान म रहना हो, वहा किस तरह रहना चाहिए, उसकी विस्तृत चचा इस अध्ययन मे की गई है। मूलगुणशुद्ध और उत्तरगुणशुद्ध ऐसे मकान म रहना चाहिए वसा विधान यहाँ पर किया गया है।

३ इर्या एषणा

साधु साध्वी भिक्षा लेने के लिये जाय, विहार कर किसी भी कारणवशात् गमनागमन करे, वह गमनागमन उसे धीरे धीरे करना चाहिए, दृष्टि का जमीन पर स्थिर रखकर गमन करना चाहिए और किसी भी त्रस या स्थावर जीव की हिंसा न हो जाय, उसकी सावधानी बरतनी चाहिए, इस बात का इस अध्ययन मे भली भाति समझायी गयी है। चलने की क्रिया जीवन की एक महत्त्वपूण क्रिया है। वह क्रिया अत्यन्त सजागता के साथ करने की जिनेश्वर दवा की आज्ञा है।

४ भाषा जात

साधु साध्वी को कसे शब्द बोलने चाहिए, कसे शब्द नही बोलने चाहिए, साधु साध्वी की वाणी स्व पर को नुकसान करने वाली नही होनी चाहिए। साधु साध्वी को विचार करके बोलना चाहिए ये भाषा प्रयोग इस अध्ययन म बतलाये गये है। बोलने की क्रिया मानव जीवन की महत्त्वपूण क्रिया है। वाणीसयम साधुजीवन का प्राण है।

५ वस्त्र एषणा

साधु-साध्वी का कसे और कितने वस्त्र धारण करने चाहिए, वे वस्त्र कहा से और कसे लेने चाहिए—इस विषय का इस अध्ययन म स्पष्ट किया गया है। वस्त्रपरिधान–यह भी जीवन की एक विशिष्ट क्रिया है। वस्त्र के लक्षण देखने के होते हैं। अच्छे लक्षण वाले वस्त्र ग्रहण करने चाहिए। खराब लक्षण वाले वस्त्र नही लेने चाहिए।

६ पात्र एषणा

साधु साध्वी का जिस जगह का, जिस भूमि का, जिस मकान का उपयोग करने का हो, उसके मालिक की इजाजत लेनी चाहिए। देवेन्द्र, राजा, गृहपति शय्यातर और सार्धर्मिक साधु-साध्वी [यदि उस मकान मे पहले से रहते हो] की इजाजत लेनी चाहिए। साथ ही साथ उस

मकान मे जितनी जगह का जिस प्रयोजन मे उपयोग करना हो उतनी जगह के उपयोग की इजाजत लेनी चाहिए। इस विषय का स्पष्ट मार्ग-दर्शन इस अध्ययन मे दिया गया है।

साधु-साध्वी के जीवन से अत्यन्त सवधित सात बातो को इन सात अध्ययनो मे इतनी सरलता से समझाया गया है कि साधु-साध्वी को सुन्दर-सहज और स्पष्ट वोध हो जाय। इस मार्गदर्शन के अनुसार यदि साधु-जीवन जिया जाये तो समग्र जीवन व्यवहारशुद्ध और अपाय-रहित हो जाय।

श्लोक : स्थाननिषद्याव्युत्सर्गशब्दरूपक्रियाः परान्योन्याः ।
पञ्चमहाव्रतदार्ढ्यं विमुक्तता सर्वसङ्गेभ्य· ॥११७॥

अर्थ [आचाराग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कध की दूसरी चूलिका के सात अध्ययनो के नाम] स्थानक्रिया, निषद्याक्रिया, व्युत्सर्गक्रिया शब्दक्रिया, रूपक्रिया, परक्रिया और अन्योन्यक्रिया। पाच महाव्रतो मे दृढता [तीसरी चूलिका] सर्वसग से मुक्ति [चौथी चूलिका]

विवेचन पहली चूलिका मे जो सात अध्ययन है, उन अध्ययनो के अवातर उद्देशक [प्रकरण] है, जबकि इस दूसरी चूलिका के जो सात अध्ययन है, उसके अवातर उद्देशक नही है, अवातर प्रकरण नही है।

दूसरी चूलिका के सात अध्ययनो के जो विषय है, वह मात्र किया-त्मक ही नही अपितु भावात्मक भी है। अपन अब एक एक अध्ययन के विषय की सामान्य रूपरेखा देखेंगे।

१. स्थान-क्रिया

साधु को कैसे स्थान मे रहना चाहिए—यह बात विशिष्ट ढग से इस अध्ययन मे की गई है। विशिष्ट प्रतिज्ञा को धारण करने वाला साधु, अपने कायोत्सर्ग ध्यान को किस भाँति करता है – उसका वर्णन किया गया है। विशिष्ट प्रतिज्ञाओ को यहाँ 'चार तरह की 'प्रतिमा' कही गयी है।

२. निषद्या क्रिया

ध्यान और स्वाध्याय के योग्य स्थान मे रहे हुए साधुओ को क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए, वह इस उध्ययन मे बत-

लाया गया है। अर्थात् साधुओ को परस्पर शरीर का स्पर्श नही करना, माहोदय हो उस तरह एक दूसरे से चिपटना नही। वगरह महत्त्वपूर्ण बातें संक्षेप मे कही गयी हैं।

३ व्युत्सर्ग क्रिया

स्थान पर रहे हुए साधुओ को मल-मूत्र का त्याग कहाँ करना और कहाँ नही करना, उसका स्पष्ट मार्गदर्शन इस अध्ययन मे दिया गया है। मल मूत्र के आवेग को रोकने की सूत्रकार ने मनाई की है।

४ शब्द क्रिया

स्थान पर रहते या बाहर आवश्यक कार्य से जाते समय प्रिय अप्रिय शब्द साधु के कान पर तो गिरते ही, पर वह सुनकर साधु राग-द्वेष न करे। इरादापूर्वक गीत संगीत सुनने के लिए वो न जाय। सहजतया शब्द कान मे गिर जाय तब वह राग या द्वेष न करे। इस विषय का सर्वांगीण विवेचन इस अध्ययन मे किया गया है।

५ रूप क्रिया

आवश्यक कार्यवशात् परिभ्रमण करते हुए साधु यदि कही सुन्दर फूलो से सजे हुए स्वस्तिकादि देखें, कही सुन्दर पुतलियां वगरह देखे, कही रथ वगरह मे काष्ठ की कारिगरी देखे, कही मणी-माणेक के तोरन वगैरह देखे तब साधु 'यह अच्छा, यह बुरा ,ऐसे राग द्वेष न करे। इरादतन वो देखने न जाय। इस अध्ययन मे इस विषय का संक्षिप्त रूप से निर्देश किया गया है।

६ परक्रिया

साधुओ को परस्पर एक दूसरे के शरीर की सेवा-सुश्रुषा भी नही करनी चाहिए। 'कोई मेरी सेवा करें' ऐसी अभिलाषा भी नही करनी चाहिए। साधु को अपने शरीर के प्रति कितना निस्पृह रहना है, यह बात इस अध्ययन मे बताई गयी है।

(७) साधुओ को परस्पर एक दूसरे के शरीर की सेवा-सुश्रुषा भी नही करनी चाहिए। एक दूसरे के लिए सावद्य औषधोपचार भी नही करना चाहिए, इस विषय को इस अध्ययन के अन्तर्गत समझाया गया है।

दूसरी चूलिका में इन सात अध्ययनों के द्वारा श्रमण जीवन में अति उपयोगी सात विषयों की विवेचना की गयी है।

तीसरी चूलिका का नाम है : भावना। पांच महाव्रतों के पालन में दृढ़ता लाने के लिए प्रत्येक महाव्रत की पांच-पांच भावनाओं से भावित बनने को कहा गया है। साथ ही दर्शनशुद्धि के लिए दर्शन भावना, ज्ञानशुद्धि के लिए ज्ञान भावना और चारित्रशुद्धि के लिए चारित्र भावना बतायी गई है। वैराग्यभावना और तपोभावना भी बतायी गई है। वैराग्यभावनामय अनित्यादि बारह भावनाएँ बतलायी गयी हैं। इसके पश्चात् श्रमण भगवान महावीर स्वामी के जन्म से लेकर केवलज्ञान की उत्पत्ति तक का वृत्तान्त दिया गया है।

चौथी चूलिका का नाम है विमुक्ति। इस चूलिका में पांच विषयों की विवेचना की गई है : १. अनित्यता २. पर्वत ३. रूप्यदृष्टान्त ४. सांप की केंचुली का दृष्टांत ५. समुद्र का दृष्टान्त। भावविमुक्ति के दो प्रकार बतलाकर चूलिका चालु होती है। देश से [आंशिक] मुक्त साधु से लगाकर भवस्थ केवलज्ञानी और सर्वविमुक्त होने वाले सिद्ध।

अनित्यादि भावनाओं से परिपुष्ट आत्मभाव वाले महामुनि उपसर्ग-परिषह के सामने पर्वत की भांति अडिग होते हैं। पृथ्वी की तरह सर्वसह होते हैं। इस तरह सर्वसंग से मुक्त वे मुनि कैसे होते हैं, इनका हृदयस्पर्शी वर्णन इस चूलिका में किया गया है।

आचारांग के दूसरे श्रुतस्कंध की चारों चूलिकाएँ, राग-द्वेष और मोह के तीव्र जहर को उतारने के लिए गारुड़ी मंत्र जैसी हैं। चाहिए, पुनः पुनः इनका चिन्तन और परिशीलन।

आचारांग का प्रभाव

श्लोक : साध्वाचारः खल्वयमष्टादशपदसहस्रपरिपठितः ।
सम्यगनुपाल्यमानो रागादीन् मूलतो हन्ति ॥११८॥

अर्थ : अट्ठारह हजार पदों में कथित और यथोक्त विधि से पालन किया हुआ साध्वाचार सचमुच राग-द्वेष-मोह का नाश करता है।

विवेचन — ओ मुनि! तन मन और आत्मा को झुलसा देने वाली राग की धधकती ज्वालाओं को बुझाना है? पूछ लो अपने भीतर के अन्तःकरण से, राग-द्वेष आग जैसे लगते हैं? राग की जलन का अनुभव किया है? राग तुम्हें सुहावने-लुभावने फलों का बाग तो नहीं लगता? राग के बाग में तन-मन को प्रफुल्लित करना अच्छा तो नहीं लगता है न? यदि वह अच्छा लगता है तो उस राग के बाग को तहस नहस करना तुम्हारे बस की बात नहीं।

भौतिक वैषयिक सुखों की सारी इच्छाएँ राग हैं। सुखों में राग है, सुखों की असंख्य कामनाएँ राग हैं, स्नेह और प्रेम भी राग है। बोलो, ऐसी रागदशा के प्रति तुम्हें नफरत जगी है नहीं? सभी संतापों का कारण, सभी दुःखों का मूल और सभी सर्वनाशों की बुनियाद यह रागदशा है, इस सत्य को तुमने निःशंकतया स्वीकारा है? यदि हाँ, तो उस रागदशा का आमूल उच्छेदन करने का संकल्प कर लो!

इसी तरह प्रिय मुनि! क्या तुम्हें द्वेष के प्रति सतत अरुचि पैदा हुई है? तुम्हें उपशमरस से छलकते सरोवर में छलांग लगाने से रोकने वाले इस द्वेष के कांटे को दूर करना है? ईर्ष्या रोष निंदा असूया, वैर-विरोध वगैरह को तुम्हारी आत्मभूमि पर से उखाड़ना है? आत्मशक्ति का मन प्रसन्नता को तहस नहस करने वाले द्वेष के इन मित्रों की मित्रता तुम्हें तोड़नी है? तो तुम्हें दृढ़ संकल्प करना होगा कि 'मुझे अब द्वेष की परछाईं भी नहीं लेना है।

प्रिय मुनि, शुद्ध-बुद्ध मुक्त आत्मा पर आच्छादित घनघोर अज्ञान के बादलों को क्या बिखेरना है? उन बादलों की छाया में तो अब जीना नहीं है ना? जिस अज्ञान ने तुम्हारी आत्मा को मूढ़ बना रखा है, जिस अज्ञान ने तुम्हारी आत्मा को आत्यंतिक भुला कर तुम्हें जड़ संगी और भोगरंगी बना डाला है, उस अज्ञान के कज्जल-श्याम अंधकार को क्या तुम चीरना चाहते हो? इस मनुष्य के जीवन में ही यह कार्य हो सकेगा, उसमें भी तुमने तो श्रमण-जीवन को स्वीकारा है। श्रमण-जीवन में इन राग द्वेष और मोह को नष्ट करने का उत्कृष्ट पुरुषार्थ हो सकता है। अरे, उस पुरुषार्थ के लिए ही तो यह श्रमण जीवन है!

इस पुरुषार्थ को करने के लिए यथार्थ मार्गदर्शन, भव्य प्रेरणा और सतत सावधानी का 'सिग्नल' तुम्हे 'आचारांग' देगा! तुम 'आचारांग' को अपना जीवन–साथी चुन लो। तुम उसके एक-एक सूत्र को याद करलो। एक-एक सूत्र के अर्थ को समझ लो। उसके भावार्थ को आत्मसात् करलो। उसके तात्पर्यार्थ को तुम्हारी अनुप्रेक्षा की राहो का 'माईल स्टोन' बनालो!

हाँ, यह सब तुम स्वय नही कर सकते! ... इसके लिए तुम्हे ऐसे गुरुदेव को खोजना होगा जिन्होने कि 'आचारांग' को अपना जीवन बना रखा हो। उनका जीवन ही साक्षात्-जीता-जागता आचाराग हो! साध्वाचारो की वो जीवनमूर्ति हो! उनके परम पावन चरणो मे मन वचन-काया से समर्पित हो जाना। वे तुम्हे आचाराग की ज्ञानगगा मे नहलाकर शुद्ध करेगे, निर्मल करेगे।

शायद इस दु खद और डरावने पचम काल मे ऐसे गुरुदेव तुम्हे नही भी मिले! फिर भी तुम निराश मत होना। आचाराग के द्वारा निर्दिष्ट मोक्षमार्ग के प्रति गाढ अनुराग रखने वाले और आचाराग के साध्वाचारो से हरा-भरा जीवन जीने की तीव्र चाहना वाले गुरुदेव तो तुम्हे इस काल मे भी मिल जायेगे। तुम उन पूज्य के चरणो मे बैठकर विनयपूर्वक और विधिसह आचाराग के सूत्रो को ग्रहण करना, उन सूत्रो का अर्थ समझना। उन सूत्रो के तात्पर्य को जानना। बाद मे तुम स्वय अपनी निर्मल-पारदर्शी प्रज्ञा से चितन-मनन करना। ज्यो-ज्यो तुम उन क्रियात्मक और भावात्मक तत्त्वो के आलोक मे टहलते जाओगे त्यो-त्यो तुम्हारे राग-द्वेप और मोह की उन्मत्तता अपने आप शात हो जायेगी! तुम्हारी आत्मा विराग की मतभर मस्ती मे झूम उठेगी! उपशमरस का अमृतपान तुम्हारा भीतरी यात्रा को निरतर वेगवान बनायेगा। तुम्हारो आत्मा हरपल हरक्षण ज्ञानाकाश की क्षितिजो पर उड़ाने भरेगी।

अठारह हजार पद सख्या वाला यह आगम 'आचाराग' सचमुच श्रमण जीवन का प्राण है। दस प्राणो की एक-एक धडकन के साथ इस प्राण की धडकन मिल जानी चाहिए। वो मिल जाने के बाद सास के हर सूर मे संयम के सुमन खिल उठेगे! शब्दों की हर सीढी पर

स्मरणान के दिये जल उठेंगे । कदम कदम पर शांति और समता के स्वस्तिक रचाते जायेंगे ।

महामुनि, तुमने जब आत्मभावना की धूनी सुलगा ही दी है तो फिर साधना के मैदान में 'आचारांग' का अजोड शस्त्र लेकर राग द्वेष और मोह के सामने पूरी ताकत से डटकर लोहा ले लो। तुम्हे अवश्य विजय मिलेगी। सुलगायी हुई धुनी सफल बनेगी। सफलता का सुरम्य स्मित तुम्हारे चेहरे पर चांदी की भांति दमक उठेगा! आत्मा शाश्वत् आनन्द से छलक जायेगी ।

श्लोक आचाराध्ययनोक्तार्थ-भावनाचरणगुप्तहृदयस्य ।
न तदस्ति कालविवरं यत्र क्वचनाभिभवनं स्यात् ॥११८॥

अर्थ आचारांगके अध्ययनों में जो अर्थ कहा गया है उसका अभ्यासपूर्वक आचरण करने से जिसका हृदय सुरक्षित है, वहाँ काल का ऐसा एक भी छिद्र नहीं है कि जहाँ कभी भी पराभव हो।

विवेचन 'मैंने आचारांग को पूर्णतया कंठस्थ कर लिया है, श्री भद्रबाहु-स्वामी की निर्युक्ति और श्री शीलांकाचार्य की टीका भी पढ़ ली है कभी कभी आचारांग के सूत्रों का स्वाध्याय भी करता हूँ, फिर भी मुझे कषाय सता जाते हैं, प्रमाद अच्छा लगता है, विकथाओं का रस पसन्द आता है और मैं निराश हो जाता हूँ। मुझे साधना के जीवन के मैदान पर अपनी करारी हार महसूस होती है।'

मुनिराज, तुमने आचारांग के सूत्र याद कर लिये और निर्युक्ति व टीकाएं पढ़ लीं, इतने मात्र से तुम कषाय, प्रमाद और विकथा पर विजय नहीं पा सकते। कषाय तुम्हें सतायेंगे ही। प्रमाद तुम्हें बेहोश दे हो जायगा! और विकथाएं तुम्हें पुद्गलरसी ही बनायेंगी, उनको उन सबको तुम्हारे भीतर घुसने का मौका मिल जाता है।

जब तुम आचारांग सूत्र का स्वाध्याय नहीं करते, जब तुम उसका अध्ययन या चिंतन मनन नहीं करते तब वे कषाय वगैरह तुम्हारे भीतर घुसने का अवसर पा लेते हैं। समय का एक नन्हा सा छिद्र भी उनके लिए काफी है।

तुम्हे चाहिए कि तुम समय का एकाध छेद भी मत रखो ताकि उस छेद मे से कपाय वगैरह घुस जायँ तुम्हारे भीतर ! हरपल तुम्हे 'आचाराग' के अर्थचिंतन मे, अर्थानुप्रेक्षा मे तुम्हारे मनको, तुम्हारे हृदय को जोडे रखना है। 'आचाराग' के दो श्रुतस्कधो मे कितनी रसपूर्ण बाते कही गयी है। कितनी तात्विक और दिल को भा जाय वैसी बाते गूथी हुई है। उन सब बातो मे से किसी बात को लेकर तुम उसका रसास्वाद करते रहो ।

चाहे तुम आहार करते हो या विहार करते हो, तुम्हारा मन तो उन तत्वो की चिंतना मे ही रममाण होना चाहिए। सूत्र तो तुम्हे याद है ही...बस, उन सूत्रो के सहारे ही तुम्हारा चिंतन-मनन-परिशीलन चलते रहना चाहिए ।

ज्यो ज्यो उन तत्वो का अभ्यास बढता जायेगा त्यो त्यो उन तत्वो की वासना [तीव्रतर भावनात्मक असर] तुम्हारे विचारो पर जम जायेगी। तुम्हारी समग्र विचार-सृष्टि आचारागमय हो जायेगी ! आचाराग के तत्वो के अलावा और कोई विचार तुम्हारे भीतर पैदा ही नही होगा ।

विचार आचार के प्रेरक होते है। वृत्ति मे से प्रवृत्ति पैदा होती है। इसलिए 'आचारांग' के विचार तुम्हे साध्वाचार के अनुष्ठान की ओर ले जायेगे। तुम उन सब अनुष्ठानो मे एकरस बन जाओगे। चूंकि उन अनुष्टानो मे तुम्हारी स्वय की अभिरुचि पैदा होगी। जिस क्रिया मे मनुष्य की अभिरुचि पैदा होती है उस अनुष्ठान मे वो लीन बन सकता है। इसलिये, तुम्हारे विचार और तुम्हारे आचार आचा-रागमय हो जायेगे ! एक पल भी ऐसी नही होगी कि जिस पल पर आचाराग के विचार की या आचार की चौकी न हो। फिर वे कपाय वगैरह कैसे तुम्हारे हृदय मे प्रवेश कर पायेगे ?

प्रश्न : दिन-रात एक से विचार और एकसी कियाए करने मे उबाहट महसूस होती है। विचार भी एक से सतत नही रहते है, कपाय बीच मे घुसपेठ कर जाते है।

उत्तर : महात्मन्, ऐसे उबने से तो मोक्ष की कटीली पगडडी पर चलना संभव नही होगा। रोग को दूर करने के लिये रोजाना एक ही

दवाई दिनो तक, महीनो तक ली जाती है वहा तो ऊबने की बात नही। रोजाना एक ही अनुपान एक ही सा भोजन लेने पर भी नही ऊबते। चूकि रोगनिवारण का लक्ष्य है। ऐसे ही यदि तुम्हारा लक्ष्य निर्धारित हो कि 'मुझे मेरे चित्त मे कषाय प्रमाद या विकथा को प्रवेश देना ही नही है,' तो तुम्हे आचारागसूत्र की वात वा ही एकसी वात, बार-बार सोचने मे भी ऊबाहट महसूस नही होगी। रोजाना उस पर चितन मनन करोगे और रोजाना उसमे से नये आनन्द की प्राप्ति होगी। रोजाना उन साध्वाचारो के अनुष्ठानो मे रत रहोगे और रोजाना नया आस्वाद पाओगे।

आचाराग को छा जाने दो तुम्हारे जीवन की हर एक क्षण पर। घुलमिल जाने दो तुम्हारे सास की हर धडकन मे। गूथ जाने दो तुम्हारे दिमाग के प्रत्येक विचार मे। समा जाने दो तुम्हारे हर एक शब्दो के साये मे। एकमेक हो जाने दो तुम्हारे शरीर की एक एक क्रिया मे। फिर तुम देखोगे कि कषायो पर प्रमाद पर विकथा पर तुम्हारी कितनी शालीन विजय होती है।

दो कहानिया

श्लोक पशाचिकमाख्यान श्रुत्वा गोपायन च कुलवध्वा।
सयमयोगरात्मा निरन्तर व्यापृत कार्य ॥१२०॥

अर्थ पिशाच की कथा और कुलवधू के रक्षण की सुनकर सयमयोगो मे निरन्तर आत्मा को व्यापृत रखना चाहिए।

विवेचन एक सेठ थे। वरसो से व्यापार करते थे पर श्रीमत नही बन पाये थे। उन्हे चाहना थी श्रीमत होने की। एक वार किसी एक योगी का दिदार हो गया। योगी से सेठ ने श्रीमत बनने का उपाय पूछा। योगी ने सेठ को एक मत्र दिया और कहा 'इस मत्र के जाप से एक पिशाच तेरे वस मे होगा। वह पिशाच तेरी हर इच्छा को पूरी करेगा और तुझे सुखी बनाएगा।'

सेठ ने वडी खुशी और अहोभाव व्यक्त किया मत्रदाता योगी के प्रति। मत्रजाप चालु किया। कुछ ही दिनो मे पिशाच सेठ के वश

मे आ गया । सेठ तो खुश-खुश हो उठे । सेठ ने पिशाच को आज्ञा दी कि उनके लिए एक सुन्दर और भव्य हवेली का निर्माण किया जाय । देखते देखते मे तो पिशाच ने एक मनहर हवेली का निर्माण कर दिया । सेठ ने तिजोरी को सोने-चादी और वहुमूल्य जौहरात से भरने को कहा । पिशाच ने पलक झपकते ही तिजोरी को तर कर दिया । सेठ ने कहा अनाज के गोदाम भर देने को । कुछ ही देर मे सभी गोदाम अनाज से खचाखच ! सेठ ने जो जो आज्ञा की, पिशाच ने अविलम्व उन आज्ञाओं को पूरा किया । शाम होते होते तो सेठ की सारी आज्ञाएं पिशाच ने पूरी कर दी ।

अव पिशाच परेशान करने लगा सेठ को । 'सेठ आज्ञा करो ।' सेठ ने कहा —'अव आज इतना ही रखो...और आज्ञा कल करूगा !

'नही, यह नही होगा...तुम आज्ञा करते रहो, वर्ना मैं तुम्हे ही खा जाऊगा ।'

सेठ की सिट्टीपिट्टी गुम ! पर सेठ भी कम नही थे...तत्काल उन्हे एक विचार आया और उन्होने पिशाच से कहा 'अच्छा, मेरी हवेली के आगे के चौक मे वरावर वीचोवीच एक खम्भा गाड़ दो ।' आख मटकाते ही खम्भा तैयार ।

'अव क्या आज्ञा ?'

'देखो ऐसा करो, जव तक मै और कोई आज्ञा न करू तव तक तुम इस खम्भे पर चढ-उतर करते रहो ।'

वेचारा पिशाच ! खम्भे पर चढता है और उतरता है...दूसरा करे भी तो क्या ? सेठ चैन से जी रहे है ।

यह एक उपनय कथा कहकर ग्रन्थकार साधु-साध्वी को निरतर आचारागनिर्दिष्ट सयम-अनुष्ठान मे निमग्न रहने का कह रहे है । मन-वचन और काया के योगो को सयम के योगो मे प्रवृत्त वनायें रखने का निर्देष कर रहे है । मन-वाणी और शरीर के योग पिशाच जैसे हैं । उन्हे यदि निरतर सत्प्रवृत्ति मे न लगाये रखा जाय तो वे आत्मा को खा जाते है, आत्मा को दुर्गति मे पटक देते है ।

०० ०० ००

एक श्रीमत सेठ थे । उनका एकलौता युवान बेटा अचानक मौत का शिकार हो गया । माता पिता को काफी गहरा सदमा पहूँचा । यौवन की देहरी पर खडी पुत्रवधु की दु खद स्थिति को देखकर उनका दिल वेदना से दहक उठा । बहू के दिल मे जरा भी अनमनापन महसूस न हो, इस ढग से वे उसे रखते है ।

बहू के पास कोई काम था नही । वो बस, सारे दिन अपने खड म बठी रहती । जब वो निवास खड म बैठे रहने से या सोये रहने से ऊब जाती, हवेली के झरोखे मे बठकर राजमाग पर आते जाते मनुष्यो को निहारती रहती ।

एक दिन, रास्ते पर से एक खूबसुरत युवक गुजरता है, उसकी नजर सठ की हवेली के झरोखे की तरफ जाती है । वो बहू भी उस समय झरोखे मे खडी है । दोनो की नजर आपस में टकरायी और वही हुआ जो होना था । परस्पर अनुराग अकुरित होन लगा । अब तो रोजाना नजरें मिलती हैं । इशारो ही इशारो मे बातें होनी हैं । दोनो क दिल मे कामना का ज्वार उफान लगा और बात पहुँच गयी मिलन-सकेत तक ।

सास और ससुर इत्तफाक स इस बात को ताड गय । उन्हे दु ख हुआ । पर वे समझदार थे । उन्होन सोचा 'यह सब बेकार बठ रहने का परिणाम है । बिना काम का दिमाग तो जिन्दगी का बाग उजाड देता है । खाली मन तो भूत का घर है । वो जीवात्मा को गलत रास्त पर चलने के लिए मजबूर बना देता है । उसको बरबाद कर देता है ।' उन्होन तुरत बहू को बुलवाया और बडे प्यार से उसे घर के सभी काय सम्भालने के लिय कहा । सारे घर का हिसाब किताब भी उसे सौंप दिया । गाय भसो की देखभाल रसोई का काम महमानो की आगत-स्वागता का काय सुबह सुबह से दही बिलोन का काय का काम काम और काम । रात हो और बहू बेचारी थकान क मारे सीधी पहुँच जाय गाढ निद्रा की गोद मे ! वो भूल गयी सब इशारे प्यार भरे ! उसकी वासनाओं को काम न धक्का मार निकाल दिया । पतन की गर्ता में गिरने स वो बाल बाल बच गई । उसका जीवन पावन बन गया ।

यह कथानक कहने के साथ ही ग्रन्थकर्त्ता महर्षि साधु-साध्वी को निरतर विविध सयम-अनुष्ठानो मे प्रवृत्त रहने की सिफारिश कर रहे है ! श्रमण-श्रमणी को चाहिए कि वो एक पल के लिये अपने दिमाग को अवकाश ना दे ! उनके दिमाग मे हर क्षण तत्वज्ञान की रमणता चलती रहनी चाहिए । उनकी वाणी सदैव निरवद्य-निष्पाप बनी रहनी चाहिए । उनकी तमाम कार्य-प्रवृत्ति सावधानीपूर्ण होनी चाहिए । कोई भी इन्द्रिय शब्दादि विषयो मे आसक्त नही होनी चाहिए ।

सुबह से लगाकर रात्रि को शयन करे तब तक के तमाम सयम-योगो मे जरा भी ऊबाहट महसूस किये बगैर श्रमण को डूबे रहना चाहिए । पाँच प्रहर यानि की पन्द्रह घटे वो स्वाध्याय-ध्यान मे बिताये...। इसके अतिरिक्त समय मे वो आहार विहार ओर निहार की प्रवृत्ति करे ।

आचाराग मे प्रदर्शित आचारमार्ग और विचारमार्ग पर चलने वाले श्रमण ओर श्रमणी कभी भी विषय-कषाय वगैरह शत्रुओ से पराजित नही होते । वे कभी उनसे पराभूत नही होते ।

मनुष्यलोक के वैभव

श्लोक : क्षणविपरिणामधर्मा मर्त्यानामृद्धिसमुदया. सर्वे ।
सर्वे च शोकजनका संयोगा विप्रयोगान्ता ॥१२१॥

अर्थ मनुष्य के सभी ऋद्धि-समूह पलभर मे बदल जाने के धर्म वाले है । सभी सयोग वियोग के अन्तवाले है और शोकजनक है ।

विवेचन : दुनिया का प्रत्येक पदार्थ परिवर्तनशील है । मानव जिन जिन पदार्थो पर मुग्ध बनता है, जिन जिन वैभवो के प्रति आकर्षित होता है, जिस जिस समृद्धि का सग्रह करने को ललचाता है...वे सब पदार्थ ..वैभव...समृद्धि परिवर्तनशील है । कुछ भी शाश्वत् नही है. . कोई पर्याय अविनाशी नही है ।

जिन वैभवो को देखकर मनुष्य खुश होता है, उन वैभवो की जब अवस्था बदल जाती है तब वही मनुष्य नाराज हो जाता है ! उन

नभवा पर का उसका प्रेम उतर जाता है और वा शाक के सागर म डूब जाता है।

रूपवती पत्नि जब रोग या किसी दीर्घ बीमारी के चगुल मे फस कर बदसूरत बन जाती है तब कैसा मन सताप होता है, यह किसी अनुभवी पति–महोदय से पूछ लिजीयेगा।

धान्य के गादामो मे भरा अनाज जब नष्ट जाता है तब दिल म कितनी खाघली होती है, यह किसी अनाज के सग्रहकर्ता से सवाल किजीयेगा।

दुकान मे भरे हुए जौहरात के दामा म जब भारी गिरावट आ जाती है तब भीतर मे क्या कुहराम मचता है, यह किसी जौहरी से पूछियेगा।

सुन्दर सुडौल और रूप–यौवन मे गदराये शरीर मे जगह जगह कीडा की बुलबुलाहट पैदा हो जाती है, अनेक बीमारियाँ शरीर का घर लेती है तब कितना दुख होता है यह किसी रोगी का पूछ लिजीयेगा।

अत्यन्त निकट के स्नेही-स्वजन का प्यार जब हवा हो जाता है तब दोस्त जब दुश्मनी के दाव खेलता है तब भीतर मे कितनी पीडा होती है, यह बात अपने आप को पूछियेगा।

तो फिर क्या इस मानवीय जगत के वैभवा की अभिलाषा करनी चाहिए? तो फिर क्या दुन्यवी समृद्धि की कामनाओ म कुलबुलाना चाहिए? मानव जगत के पलभर म बनते बिगडते भोगसुखो म आसक्ति क्या रखनी चाहिऐ? मत करो अभिलाषा, मत करो कामनाए इस तुच्छ असार और पल–दोपल मे नष्ट जाने वाले वैषयिक सुखो की! कामनाए अभिलाषाए करनी ही हैं तो आत्मा की जो अविनाशी गुण-समृद्धि है उसकी करो! आत्मा की शाश्वत गुणसमृद्धि पाकर तुम स्वय कृतार्थ बन जाओगे!

ज्यो मानव की समृद्धि परिवर्तनशील है त्यो मानवीय सम्बन्ध भी परिवर्तनशील है! नाशवन्त है!

'सयोगा वियोगान्ता' जिसका सयोग उसका वियोग! जिसका मिलना उसका बिछडना! जब कोई सयोग या कोई मिलन कायम बन

रहता ही नही तो फिर उन सयोगो में क्या तो खुश होना ? उन सयोगों और सम्बन्धो के लिए पाप क्यो किये जाय ?

कभी भी तुम्हारी प्रिय व्यक्ति ने तुम्हारे साथ का संबध नही विगाड़ा हो...तुम्हारा सवध वरसो से प्रेमभरा चला आ रहा हो,... चलते रहने दो...! पर मौत तो उस सवध को पलक झपकते ही तोड डालेगी ! मौत ने गाढे प्रेमीओ के सम्बन्ध को भी वडी निर्ममता से काटा है...। प्रगाढ सवधो को उसने पलभर मे तोड़ा है...और तोड रही है...।

हालाँकि जिन्दगी भर तक एक से प्रेम के सवध तो टिकना ही मुश्किल है। चू कि दुनिया के अविकाश सम्बन्ध...सयोग स्वार्थप्रेरित होते है...। जहा स्वार्थ को झटका लगा कि सवध हो गया हवा ! जहा स्वार्थ हुआ पूरा कि सम्वन्ध कट गया ! रागी, द्वेषी और अज्ञानी जीवो के सवध क्षणिक ही होते है...। चाहे फिर वो सवध पिता-पुत्र का हो,...माता-पुत्री का हो,...पति-पत्नि का हो, गुरु-शिष्य का हो...! वो सवध टूटे विना नही रहेगा ।

जव प्रियजन के सयोग का वियोग होता है तव कितनी गहरी वेदना होती है, वो जानना हो तो श्री रामचन्द्रजी को पूछना कि जव सीताजी को रावण उठा ले गया था तव तुम्हारी क्या हालत थी ? सीताजी से सवाल करना कि श्री राम ने जव तुम्हे जगल मे धकेल दिया और तुम्हारा त्याग किया तव तुम्हारी मनोव्यथा कैसी थी ?

उस सगर चक्रवर्त्ती को भी मिल आना और पूछना कि तुम्हारे ६० हजार पुत्रो को जव अग्निकुमार देव ने एक साथ जलाकर राख वना डाले, तव तुमने कितना कल्पात किया था !

यदि सयोग को क्षणिक न माना, सयोग को शाश्वत् मानकर उस सयोग मे सुख पाया तो मरे समझो ! उस सयोग का जव वियोग होगा तव तुम वियोग की वेदना नही सह पाओगे ! शायद तुम अपने प्राण से भी हाथ धो डालो ! शायद तुम पागल भी हो जाओ ! श्री राम जैसे महापुरुष लक्ष्मणजी के शव को कंधेपर रखकर महीनों तक अयोध्या की गलियो मे घूमे थे,...वो क्या था ?

मानवीय वैभवो को पल भर मे बिगडने वाले समझो। ससार के तमाम सबधो को विनाशी मानो, शोकजनक मानो। तो तुम्ह उन वैभवो की अभिलाषा नही होगी, उन सम्बन्धो मे ममता का पुट नही बढेगा।

भोग सुख प्रशम सुख

श्लोक भोगसुख किमनित्यभयबहुलै काक्षित परायत्तै ।
नित्यमभयमात्मस्थ प्रशमसुख तत्र यतितव्यम ॥१२२॥

अर्थ अनित्य, भय से परिपूर्ण और पराधीन भोग-सुखो स क्या? नित्य, भयरहित और स्वाधीन प्रशमसुख म प्रयत्न करना चाहिए।

विवेचन ❀ क्या तुम्ह अनित्य विनाशी क्षणिक सुख पसन्द है?
❀ क्या तुम्ह भय मे भरे हुए भय से घिरे हुए सुख पसन्द है?
❀ क्या तुम्ह पराधीन-परतत्र सुख पसन्द ह?

ससार के बाजार मे मिलने वाले सुख ऐसे हैं! चाह वह सुख मीठे-मधुर शब्द का हो, चाहे वह सुख सौन्दय रूप का हो, चाहे वह मनपसन्द सुवास का सुख हो, चाह वह स्वादिष्ट और प्रिय रस का सुख हो, या फिर मखमल से मुलायम स्पर्श का सुख हो! य सभी वैषयिक सुख अनित्य हैं। विनाशी है। क्षणिक हैं! तुम्हार पास ये सुख हमेशा रहग ही नही। तुम्हारी प्रबल इच्छा हो उन सुखो को अपन पास रखन की, फिर भी वो नही रह सकते।

तुम्हारे पास सुदर, निरोगी स्वस्थ शरीर है, तुम्हार पास ढर सारी सम्पत्ति है, तुम्हारे पास सभी अधुनातन सुख-सुविधाओ स सज्ज बगला है तुम्हारे पास विदेश मे आयात की हुई 'इम्पाला या 'शेवरलेट' कार भी है पर इन वस्तुओ के साथ-साथ तुम्हारे पास अनेक भय भी तो हैं!

❀ इन सब के बिगड जाने का भय!
❀ इन सब के चोरे जान का भय!

(२) इन सब के लूट जाने का भय...!

(३) इन सब के नष्ट हो जाने का भय...!

(४) 'यह सब अन्याय-अनीति और जालसाजी से इकट्ठा किया है' वैसे इल्जाम-आरोप आने का भय !

(५) सरकार के द्वारा पकड़े जाने का भय !

(६) सरकार के दड का भय !

अनेक तरह के सुख-सुविधा युक्त साधन मौजूद होने पर भी ये भय तुम्हे उन सुखो का यथेच्छ उपयोग करने मे बाधक बनते है। इतना ही नही, इन सुख के साधनो का उपभोग करने के लिये तुम स्वय स्वतत्र भी नही, स्वाधीन भी नही हो...! तुम स्वय के शरीर के ही पराधीन हो। यदि तुम्हारा शरीर निरोगी नही है, स्वस्थ नही है, तो तुम पाच इन्द्रियो के विषयसुख नही भोग सकते। यदि तुम्हारे परिवारिक, कौटुम्बिक, सामाजिक और राष्ट्रीय सजोग अनुकूल नही है है तो भी तुम तुम्हारे सुखो का उपभोग नही कर सकते। तुम पराधीन हो अपने को ! तुम पराधीन हो सयोगो को ! तुम पराधीन हो परिस्थितियो को ! तुम वृद्धावस्था और मृत्यु के पराधीन हो, भरपूर सुखो के सैलाब मे डूबे तुम्हे अचानक मौत का एक स्पर्श लेकर चलता बन जाता है...। तुम्हारा कुछ भी नही चलता वहा पर ! यह क्या छोटी मोटी पराधीनता है ?

अत ऐसे सुखो की अभिलाषा ही छोड दो। ससार के बाजार मे से सुखो को खरीदना बद करदो। अनत अनत जन्मो से वे सुख खरीद कर, उन सुखो को भोग कर...कुल मिलाकर कुछ ही नही पाया है। पाया है निरा दुःख ! केवल त्रास ! और निरी विडम्बनाए ! अब तो रास्ता बदलना ही होगा...बाजार बदलना होगा...।

अब तुम आओ मेरे साथ, एक नये नवेले बाजार मे, यह है आत्मा का बाजार ! तुम्हारे ही भीतर में यह बाजार लगा हुआ है। वहा सुख मिलता है, अपार सुख मिलता है ! उन सभी सुखो की तीन विशेषताए होती है वे सुख

१८ नित्य [चिरस्थायी] होते हैं

१९ अभय [भयरहित] होते ह

२० स्वाधीन [स्वतंत्र] होते हैं।

ये सुख तुम्हें आखों से नहीं दिखेंगे उन सुखों को तुम जीभ से चखना चाहो या नाक से सूंघना चाहो तो यह नामुमकिन है। उन सुखों का तुम स्पर्श भी नहीं कर सकते। जैसे वे सुख इन्द्रियातीत है वैसे ही उनकी अनुभूति इन्द्रियातीत है। यह अनुभव तुम्हारा मन कर सकता है। तुम्हारी आत्मा कर सकता है।

पहले तुम प्रशम का सुख प्राप्त करो। वह सुख नित्य है अभयप्रद है और स्वाधीन है। प्रशमभाव उपशमभाव की ऐसी प्राप्ति करो प्राप्त करके उसे इस तरह सहज संभाल कर रखना कि वह कभी जाये ही नहीं। यह भाव जैसे ही आत्मसात् हुआ कि वहां आत्मा में सुख का सागर लहराया समझो। भय की डरावनी मायामरीचिका तो तुम देखा कर भाग जायेगी। किसी भी तरह का भय तुम्हें डरा नहीं सकता। तुम निर्भय बन जाओगे और दूसरों को भी निर्भय बना दोगे।

प्रशमभाव में से पैदा होते सुख के उपभोग में तुम स्वाधीन हो। वहां कोई पराधीनता या पराश्रितता नहीं हैं। प्रशमभाव में से क्षमा का सुख नम्रता का सुख सरलता का सुख और निर्लोभता का सुख प्रगट होगा। दुःखी जीवों के प्रति करुणा का सुख पैदा होगा। उत्तम आत्माओं के प्रति प्रमोदभाव का सुख पैदा होगा। इन सब सुखों को तुम निर्भयता से भोग सकोगे। स्वतन्त्रतया भोग सकोगे।

यह सब नित्य, स्वाधीन, और अभय सुखों को पाने के लिये निरन्तर प्रयत्न करने की प्रेरणा यहां पर ग्रन्थकार महर्षि दे रहे हैं। अपन उस प्रेरणा का स्वीकार और मन-वाणी-वर्तन से उन सुखों को पाने के लिये प्रयत्न चालू करें। इस जीवन में यदि इन प्रयासों में जरा भी सफलता मिल गई तो जीवन धन्य बन जायगा।

श्लोक : यावत् स्वविषयलिप्सोरक्षसमूहस्य चेष्टयते तुष्टौ ।
तावत् तस्यैव जये वरतरमशठं कृतो यत्न ॥१२३॥

अर्थ : अपने विषयों की इच्छुक इन्द्रियों के समूह की सन्तुष्टि के लिए जितना प्रयत्न किया जाता है, उतना प्रयत्न निष्कपटतया उसे [इन्द्रियों के समूह को] जीतने में किया जाय, वह श्रेष्ठ है।

विवेचन : सुबह और शाम...
दिन और रात...
महीनों और बरसों...

क्या जीवनपर्यंत तुम अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने का कार्य ही करते रहोगे? इन्द्रियों की सेवा-सुश्रूषा में ही जिन्दगी बीता देनी है? क्या तुम जीन्दगीभर तक उनके प्रिय विषय पूरे करते रहोगे? इतनी सेवा तुमने की, क्या मिला तुम्हें?

थोडा सा क्षणिक और तुच्छ सुख मिला, उसमें तुम खुशी के मारे खिल उठे! पर तुम यह क्यों भूल जाते हो कि साथ साथ दुःख भी कितने मिले! जब तुम इन इन्द्रियों को इनके प्रिय और अनुकूल विषय न दे पाये तब इन इन्द्रियों ने तुम्हें कितना व्यग्र, अशांत और दीन-हीन बना डाला, यह तुम याद करो। सदा अतृप्त रहने वाली इन्द्रियों को तुम कभी भी तृप्त नहीं कर सकते! आज तृप्त की, कल वापस अतृप्त! सुबह तृप्त की, शाम को अतृप्त! शाम को तृप्त की तो रात में अतृप्त!

सतत और सख्त परिश्रम करके तुमने अपनी मानसिक, वाचिक और कायिक शक्तियाँ क्षीण कर दी। तुम आत्मन्! अपने आप को ही भूल गये हो...। तुम्हारे स्वयं के प्रशमसुख को एक तरफ रखकर इन वैषयिक सुखाभास में तुम बूरी तरह फस गये हो!

मैं तुम्हें यह नहीं कहता कि इन्द्रियों को उनके विषय दो ही मत। दो, उन इन्द्रियों को उनकी मात्रा में तुम विषय दो, पर तुम स्वयं

उनकी गुलामी में से मुक्त हो जाओ। तुम इन्द्रियों के गुलाम नहीं अपितु मालिक बनकर उसकी योग्यता के अनुसार उन्हें विषय दो। वो मांगे इतना मत दो। तुम इन्द्रियों के मालिक बनकर तुम्हारी विकास यात्रा में उनसे काम लो। हाँ, इन्द्रियों के माध्यम से ही तुम्हें भव्य धर्मपुरुषार्थ करना है, इसके लिए इन्द्रियाँ सशक्त और सक्षम तो चाहिएगी ही। इसके लिए उन्हें उनके विषय देने भी होंगे, पर विवेक से।

अनंत अनंत जन्मों से मालिक बन बैठी इन्द्रियों को पराजित करने के लिये तुम्हें प्रामाणिकतया कठिन पुरुषार्थ करना होगा। पर उस पुरुषार्थ से तो यह पुरुषार्थ करना अच्छा है। इन्द्रियों के चरणों में हाजिर रहकर खुश रखने के पुरुषार्थ से तो उन्हें पराजित करने का पुरुषार्थ करना लाख गुना बेहतर है।

इन्द्रियों को पराजित करना यानि उनका कचूमर नहीं निकाल देना है उसे तुम्हें ऐसे विषय देने होंगे कि वो तुम्हारे अंकुश में रहे। देखो, इसके लिए तुम्हें थोड़ा मार्गदर्शन दे रहा हूँ —

✽ श्रवणेन्द्रिय को प्रिय शब्द चाहिए। तुम उसे रागप्रचुर शब्द मत दो, परमात्मभक्ति के मधुर शब्द दो। सद्‌गुरु के उपदेश वचन दो, उत्तम पुरुषों के गुणानुवाद के शब्द दो।

✽ चक्षुरिन्द्रिय को तुम विकारोत्तेजक रूप मत दो। तुम उसे भव्य जिनमंदिर जिनमूर्ति का रूप दो। तुम उसे शत्रुंजय गिरनार जैसे पवित्र पहाड़ों का रूप दिखाओ। तुम उसकी दृष्टि को देखने की रीत को बदल डालो।

✽ घ्राणेन्द्रिय किसी पुष्प की, किसी इत्र की सुगंध ले तो उसे लेने दो तुम्हें उसमें रागी नहीं बनना चाहिए कोई दुर्गंध आये तो तुम उसमें द्वेषी मत बनना।

✽ रसनेन्द्रिय को शक्य इतना कम रस देना। शरीर को टिकाने के लिये भोजन तो करना ही होगा। आहार और पानी पेट में जायेंगे भी तो जीभ पर होकर ही। प्रिय-अप्रिय रसों की अनुभूति के समय तुम्हें राग-द्वेष से बचने की जागृति रखनी चाहिए।

स्पर्शनेन्द्रिय को जड़-चेतन द्रव्य का स्पर्श तो होगा ही। प्रिय-विषय का स्पर्श कम देना। हालांकि उसे तो कभी पत्थर का स्पर्श भी पसन्द आ जाता है..। फिर भी प्रिय-अप्रिय स्पर्श के समय तुम्हें रागी-द्वेषी नहीं बनने का। यदि तुम इस तरह जागृत रहे तो इन्द्रियों पर तुम्हारी अवश्य जीत होगी।

'मुझे इन्द्रिय-विजेता बनना है,' इस निर्णय के साथ पुरुषार्थ-प्रयत्न चालू कर दो। ज्यों ज्यों यह पुरुषार्थ बढ़ता जायेगा त्यों त्यों तुम्हें 'प्रशमसुख' का अपूर्व और अद्भुत अनुभव होगा। इन्द्रियविजेता ही 'प्रशमसुख' की अनुभूति पा सकता है। जिसने इन्द्रियों को अंकुशित रखी है वही 'प्रशमसुख' का अनुभव कर सकता है।

सुख : रागी का, वीतरागी का

श्लोक : यत् सर्वविषयकाङ्क्षोद्भवं सुखं प्राप्यते सरागेण।
तदनन्तकोटिगुणितं मुधैव लभते विगतरागः ॥१२४॥

अर्थ : सर्व विषयों की आकांक्षा में से पैदा हुआ जो सुख रागी जीवात्मा को मिलता है, उससे अनन्त कोटिगुण सुख बिना मूल्य का रागरहित जीवात्मा को मिलता है।

विवेचन : सुख के दो प्रकार हैं, एक रागी का सुख और दूसरा वीतराग का सुख। अपन रागी हैं, पाँचों इन्द्रियों के विषयों के सुख का अपनने अनुभव किया है। अपन को यह भी अनुभव है कि वैषयिक सुख मात्र इच्छा करने से, मात्र कामना करने से नहीं मिलते। उन सुखों को पाने के लिये मन से कितने ही विचार...कितनी ही योजनाएं बनानी होती हैं! वाणी से कितनों की ही चापलूसी करनी पड़ती है और काया से कितना सख्त परिश्रम करना पड़ता है! यह सब परिश्रम करने के बाद जो सुख मिलता है वो कितना अल्पकालीन-क्षणिक होता है?

जो विषय आज अपन को पसंद है कुछ दिन बाद वो अच्छा नहीं लगेगा! एक विषय पर सतत राग नहीं टिकता है, राग के पात्र बदलते ही रहते हैं...। जो शब्द भूतकाल में श्रुतिमधुर प्रतीत होते थे आज वे

अच्छे नही लगते। जो रूप भूतकाल मे नयन और मन को रमणीय लगता था, आज वो देखना भी पसन्द नही ! जो रस कल तक सुस्वादु लगता था, वर्तमान मे वो ही बेस्वाद मालूम होता है। किसी भी इन्द्रिय का कोई भी विषय हो, अच्छा, मनभावन, मनहर हो पर उस विषय का सुख अल्पकालीन ही होता है। क्योंकि अपन रागी है ! रागी का सुख क्षणिक ही होगा ! रागी विषयो मे से सुख पाना चाहता है विषयो की अवस्थाए परिवर्तनशील होती हैं वैसे मन के राग-द्वेष भी परिवर्तनशील होते हैं। राग स्थायीभाव नही है। विषय की अवस्था स्थायी परिणाम नही है। दोनो अस्थायी हैं। इसलिये दोनो के सयोग से पैदा हुआ सुख भी अस्थायी होता है।

प्रभात मे दिखने वाला सृष्टि सौन्दर्य मध्याह्न को नजर नही आता। मध्याह्न की सृष्टि साझ की वेला मे नही होती ! सध्या की सुहावनी रम्यता रात के आचल मे नही टिकती ! और रात की रासलीला सुबह कहाँ होती है ? इसी तरह बचपन की मुग्धता साहसिक यौवन मे नही मिलती । यौवन की उडान प्रौढावस्था मे नही ! प्रौढावस्था की प्रगल्भता वृद्धावस्था मे नही रहती ! सब कुछ बदलता रहता है । रागी जीवात्मा इस परिवर्तनशील सृष्टि के विषयो मे से कितना और कैसा सुख पा सकता है ?

यदि तुम्हे भरपूर सुख पाना है अनुभव करना है भरेपूरे सुख का, तो तुम रागरहित बनो, द्वेषरहित बनो ! यानि की वीतराग बन जाओ ऐसा नही कहता, तुम कुछ क्षणो के लिये 'मध्यस्थ' बन जाओ। कुछ देर के लिए बिना राग और बिना द्वेष के बन जाओ ! उन क्षणो मे तुम अपने आप मे खो जाओ। आत्मभाव मे गोता लगा दो । उन क्षणो मे तुम्हे जो अनुभव होगा वो अपूर्व होगा ! उस सुख का सवेदन प्रगाढ होगा। स्पर्शनेन्द्रिय के प्रिय विषय के प्रगाढ आलिंगन मे से पैदा होते वैषयिक-शारीरिक सुख से वह आतर सुख काफी अच्छा सुपीरीयर होगा। वैषयिक सुख की मात्रा से आतर सुख की मात्रा अनन्त-करोड गुनी ज्यादा होगी ! तुम उसकी गिनती कर ही नही सकते !

दिन मे ऐसी मध्यस्थभाव की क्षणो को प्राप्त करो। मन को विषयो के सम्पर्क से मुक्त करो। विषयमुक्त मन को आत्मा के साथ मिलने

दो। हाँ, विषयमुक्त मन ही आत्मा के साथ मिल सकता है, आत्मसुख का संवेदन ऐसे मन के द्वारा ही होगा।

जो चम्मच कड़वे शाक में बिगड़ा हुआ है, वह चम्मच तुम यदि मीठे शाक में डालकर उसका स्वाद करने जाओगे तो तुम्हें मीठास का अनुभव नहीं होगा। वैसे ही विषयानन्द में बिगड़ा हुआ मन आत्मानन्द की अनुभूति करने के लिए समर्थ नहीं होता है। कुछ क्षण के लिए तुम अपने मन को विषयों से बिल्कुल अलग कर दो, एकदम साफ-सुथरा बना दो, बाद में उस मन को अन्तरात्मा के साथ जोड़ो। अन्तरात्मा में रहे हुए अपार...अनन्त सुख का 'सेम्पल' तो तुम्हें चखने के लिए मिलेगा ही।

फिर वैसी मध्यस्थभाव की क्षणों को बढ़ाना, यह तुम्हारा कार्य होगा। रागदशा में अनुभूत वैषयिक सुखों की अपेक्षा मध्यस्थ दशा में अनुभूत आंतर सुख यदि तुम्हें ज्यादा अच्छा लगेगा, उच्चतम लगेगा, श्रेष्ठ लगेगा तो तुम स्वयं ही मध्यस्थ दशा को बढ़ाने का प्रयत्न करोगे ही। तुम्हारे आंतर सुख का महासागर उछलने लगेगा। एक जीवन, एक भव ऐसा आयेगा कि जिस जीवन में तुम सदा सदा के लिए वीतराग बन जाओगे। तुम्हारा सुख शाश्वत् बन जायेगा।

रागी के सुख से वीतराग का सुख काफी अच्छा है...। किसी भी तरह के परिश्रम के बिना मिल जाने वाला है, इसलिए वीतराग बनो! रागद्वेष-रहित अवस्था पाने के लिए पुरुषार्थ करो।

दुःख मात्र रागी को...

श्लोक : इष्टवियोगाप्रियसंप्रयोगकांक्षासमुद्भवं दुःखम्।
प्राप्नोति यत्सरागो न संस्पृशति तद्विगतरागः ॥१२५॥

अर्थ : इष्ट वियोग में और अप्रिय संयोग में, इष्ट के संयोग की इच्छा में से और अप्रिय के वियोग की इच्छा में से पैदा होने वाला दुःख जिसे कि सरागी पाता है, वीतराग उस दुःख का स्पर्श भी नहीं करते।

विवेचन : प्रियजन का जब विरह होता है, वियोग होता है तब मन कितना तड़पता है—व्याकुलित होता है...विलाप करता है, यह तुम्हें यदि

जानना हो तो किसी एक ऐसे सरोवर के किनारे चले जाना कि जिस सरोवर में चक्रवाक चक्रवाकी के जोड़े दिनभर क्रीड़ा करते हो सध्या के रंगो पर श्यामल रंग की चादर लिपटी हो चक्रवाकी को छोड़कर चक्रवाक आकाश में ऊंचे-ऊंचे उड़ता जा रहा हो तब पानी पर सर पटक-पटक कर रोती बिलखती उस चक्रवाकी को देखो ! प्रिय के वियोग में उस प्रिय के सयोग की तीव्र चाहना मन को कितना दुःखी बना देती है दुःख के दावानल में झोंक देती है जलाती है, तब तुम्हे समझ में आयेगी।

अप्रिय - अनिष्ट के सयोग मे, उस अप्रिय - अनिष्ट व्यक्ति से छूटने के लिए मन कितना तड़पता है विलाप करता है झूरता है यह तुम्हे यदि जानना हो तो लंका के देवरमण उद्यान में बैठे हुए सीताजी से पूछो। रावण से छूटने की और श्रीराम से मिलने की तीव्र अभिलाषा ने उनकी मानसिक स्थिति कैसी कर डाली थी ?

सीताजी की मृत्यु हुई। वे बारहवें देवलोक में इन्द्र बने, वहाँ उन्हें श्रीराम की स्मृति हो आई। उन्होंने अवधिज्ञान से मध्यलोक में रहे हुए श्रीराम को देखा। श्रीराम को अणगार-अवस्था में देखा धर्मध्यान में लीन हुए देखा। सीतेन्द्र को कपकपी हो आई 'क्या रामचन्द्रजी शुक्लध्यान में प्रविष्ट होकर, घातीकर्मों का क्षय करके, वीतराग सर्वज्ञ बनकर मोक्ष में चले जायेंगे ? तो फिर इस ससार में मुझे कभी भी उनका सयोग मिलना नहीं होगा ? नहीं, मैं उन्हें शुक्लध्यान में प्रविष्ट नहीं होने दूंगा।'

सीतेन्द्र के दिल में श्रीराम से हमेशा विरह की कल्पना ने धुकधुकी पैदा दी। सीतेन्द्र का मन विह्वल हो उठा। प्रियजन के सयोग की चाहना जीवात्मा को कितना अस्वस्थ और अशांत बना डालती है ? इस सयोग - वियोग की चाहनाएं जीवात्मा की रागदशा की पदाईश है ! रागी को ही सयोग - वियोग के दुःखो की ज्वाला में सुलग सुलग कर मरना होता है।

जो वीतरागी बन गये, जिन्होंने अपना आत्मभूमि में से राग-द्वेष की जड़ें उखाड़ फेंकी, आत्मभूमि को ही ऐसी बना डाली कि जिसमें कभी राग-द्वेष पैदा हो ही नहीं ! अरागी अद्वेषी आत्मा को इस विश्व

मे न तो कुछ प्रिय होता है नही कुछ अप्रिय होता है । उन्हे न तो कुछ इष्ट होता है और नही कुछ अनिष्ट होता है । प्रिय-अप्रिय और इष्ट-अनिष्ट की कल्पनाए राग-द्वेष की पैदाईश है...। वीतरागी और वीतद्वेषी को वे कल्पनाए होती ही नही है, तो फिर उन कल्पनाओ मे से पैदा होने वाला दु:ख कहाँ से होगा ?

शायद कोई यो कहे 'प्रिय और अप्रिय की कल्पना विना का जीवन भी क्या जीवन है ? विना दु ख का, सुख भी क्या सुख है ? दु ख होता है तव ही तो सुख सुखरूप लगता है।'

तव तो तन्दुरस्ती के सुख के लिये रोग का दु.ख भी चाहिए ! चाहते हो क्या कि तुम्हारा शरीर रोगो से घिर जाये ? श्रीमत होने के सुख के लिये गरीवी का दु ख भी चाहिए ! श्रीमताई से ऊव गये हो क्या ? गरीवी चाहते हो ? विना दु ख का शुद्ध सुख कभी देखा ही नही !... कभी अनुभव भी नही किया ऐसे सुख का...तो फिर शुद्ध सुख की कल्पना कैसे आयेगी तुम्हे ? अपन हमेशा दु खमिश्रित सुख के लिए आदती वन चूके है। ससार की चारो गति मे दु ख और सुख साथ साथ रहते है । कही दु.ख ज्यादा और सुख कम, तो कही सुख ज्यादा और दु ख कम ! पर होते है दोनो ! इसलिए जव ज्ञानी पुरुष दु.खरहित सुख की वात करते है तव 'ऐसा सुख हो सकता है क्या ?' वैसी शका पैदा होती है और 'दु ख रहित सुख की अनुभूति का आनन्द क्या ?' वैसे सवाल उठते है ।

वीतराग आत्मा को प्रिय-अप्रिय की कल्पनाओ से रहित स्वाधीन शाश्वत् सुख होता है । उनकी रागरहित आत्मा को किसी भी तरह का दु ख छू नही सकता। एक वार आत्मा वीतराग वन गयी फिर कभी भी वो रागी नही वनती, अर्थात् उसे कभी भी दु खो का स्पर्श नही होता ।

दु ख के साथ सुख का अनुभव तो अपनी आत्मा ने अनत अनत जन्मो मे किया, अव भविष्यकालीन अनतकाल अपन दु खरहित शुद्ध सुख का अनुभव करने का प्रयत्न करे तो ? इसके लिए अपन को अपने राग-द्वेष को कम करने का पुरुषार्थ आरम्भ करना चाहिए। जिन जिन रास्तो से राग-द्वेष कम होते हो उस रास्ते पर चलने के लिए मन-वाणी

और काया से पुरुषार्थ करना चाहिए। राग-द्वेष की तीव्रता कम कर देनी चाहिए। इस वर्तमान जीवन में वीतराग न हो सकें तो कुछ नहीं, पर विरागी तो बनना ही चाहिए। यह जिन्दगी तो विरागी बनने के लिए ही है।

श्लोक प्रशमितवेदकषायस्य हास्यरत्यरतिशोकनिभृतस्य ।
भयकुत्सानिरभिभवस्य यत्सुख तत्कुतोऽन्येषाम् ।।१२६।।

अर्थ जिसने वेद और कषायों को शान्त कर दिया है, जो हास्य, रति अरति और शोक में स्वस्थ रहता है, जो भय और निन्दा से पराजित नहीं होता है उसे जो सुख होता है वैसा सुख दूसरों को कैसे हो?

विवेचन क्या तुम्हें वैसे सुख का अनुभव करना है जिसका अनुभव तुमने न तो किसी गति में किया हो और नहीं किसी भव में? वैषयिक सुखों से नितांत अलग, कषायों से भिन्न, हास्य रति से अलग प्रकार का ऐसा सुख यदि पाना है तो यहाँ पर ग्रन्थकार उस सुख को पाने का रास्ता बतलाते हैं। अलबत्ता, रास्ता सरल नहीं है, सीधा भी नहीं है, बड़ा कठिन मार्ग है, फिर भी साहसी के लिए, सात्विक के लिए वह अशक्य नहीं है। आइये, अपन उस रास्ते की पहचान तो करें।।

(१) यदि तुम पुरुष हो तो तुम्हें तुम्हारा पुरुषवेद शांत करना होगा। यदि तुम स्त्री हो तो तुम्हें तुम्हारा स्त्रीवेद शांत करना होगा। अर्थात् तुम्हारी दैहिक वासना से वासना के वेग से तुम्हें मुक्त बनना चाहिए। वासना को शांत कर देना चाहिए। यह मैथुन की वासना से मुक्त होना कोई सरल या हँसी खेल का काम नहीं है। प्रतिक्षण जागृति चाहिए, प्रतिपल सावध रहना चाहिए। बाह्य-आभ्यंतर तपश्चर्या के के द्वारा, ज्ञान-ध्यान की सतत रमणता के द्वारा और विविध संयम योगों की आराधना के द्वारा तुम अपनी वासना को, दैहिक सुख की लालसा को शांत बना सकोगे।

(२) तुम्हें कषायों को शांत करना होगा। क्रोध को क्षमा से, मान को नम्रता से, माया को सरलता से, और लोभ को निर्लोभता से शांत करते रहो। जब जब क्रोध की आग धधक उठे दिल में, तब क्षमा

का चिंतन करो। क्षमा-जल के सीचन से क्रोध की आग बुझेगी। जब जब मान–अभिमान जगे तब तब नम्रता के विचार से उसे शांत करो। माया-कपट करने की वृत्ति पैदा हो तब सरलता का सहारा लेकर माया-कपट की इच्छा को परास्त करो। लोभवृत्ति जब उछलने लगे तब निर्लोभता का साथ लेकर उसे दबा दो। कषायो को उपशात करने के दृढ निर्धार के साथ सावधानी भरा पुरुषार्थ करोगे तो अवश्य तुम्हे सफलता मिलेगी।

(३) हँसी छूटे वैसा प्रसग आने पर तुम स्वस्थ रहना–हँस मत देना! कुछ ऐसा देखा...सुना...कि जो हँसने के लिए बाध्य करे, फिर भी तुम हँसना मत! समझकर मत हँसना। समग्र ससार के जड-चेतन भावो को ज्ञानदृष्टि से देखने वाले महात्मा को ससार मे कुछ भी विचित्र नही लगता है! सब कुछ सभवित लगता है। प्रत्येक घटना के कार्यकारणभाव को वो जानता है, फिर वो हँसे कैसे? हर्ष मे से हास्य पैदा होता है। आतमभाव मे रहे हुए मनुष्य के भीतर हर्ष का विकार टिक नही सकता। हँसने का निमित्त सामने होने पर भी जो न हँसे वही स्वस्थ रह सकता है।

(४) हँसने का तो नही, इन्द्रियो के प्रिय विषयो मे रति भी नही करना। यानी की प्रिय विषयो मे प्रीति नही बाँधना। विषयासक्ति यह अस्वस्थता है! आत्मभाव मे, स्वभाव मे स्थिर रहना वह स्वस्थता और अनात्मभाव मे–विभाव मे रहना वह अस्वस्थता! आवश्यक विषयो का उपयोग करना यह अलग बात है, और विषयो मे डूबे रहना वह अलग बात है। विषयो मे प्रियत्व की कल्पना ही मत करो। इसके लिए विषयो की नि सारता का विचार करो। विषयासक्ति के दारुण परिणामो का चितन करो।

(५) जैसे प्रिय विषयो मे रति नही करने की, वैसे ही अप्रिय विषयो मे अरति नही करना। अप्रिय-अनिष्ट विषयो के सयोग मे उद्विग्न नही होना। उद्विग्नता यह भी अस्वस्थता है। अस्वस्थता यह मानसिक दु ख है। विषय मे न तो अच्छाई है और न बुराई है। जीवात्मा उसमे अच्छे या बुरे की कल्पनाएँ किया करता है। वे कल्पनाएँ भी स्थिर नही रहती हैं। कल्पनाएँ बदलती रहती है। अच्छा विषय बुरा लगता है, बुरा विषय

अच्छा लगता है । इस तात्विक समझ को हृदयस्थ करने वाले तत्वज्ञानी अरति-उद्वेग मे अपने। आप को झुलसाना नही।

(६) जब तुमसे तुम्हारी प्रिय वस्तु या व्यक्ति का वियोग हो तब तुम्हे शोक नही करना चाहिये । 'सयोग अनित्य है,' इस विचार को अच्छी तरह दृढ बनाना । प्रियजन का सयोग, वैभव सपत्ति का सयोग, विषय सुख का सयोग ये सब सयोग अनित्य ह । 'जो अनित्य हो उसका वियोग होता ही है,' इस विचार को मजबूत बनाना । रोग से शरीर आक्रात हो जाय, यौवन अलविदा करे, मौत के साये नजर आने लगे – उस समय शोकाकुल मत हो जाना ।आखो को आँसूआ से मत भर देना। यह सब इस ससार मे सहज और स्वाभाविक है, इसलिए स्वस्थ बने रहना ।

(७) निभय बनो ! निभयता के बिना सुख नही है, निभयता के बगर शाति नही है । क्यो भयभात होते हो ? तुम्हारा क्या लूट जायेगा ? जो वास्तव मे तुम्हारा है उसे कोई चुरा कर नही ले जा सकता जा तुम्हारा है ही नही वा यदि लूट भी जाये, चुरा लिया जाये ता तुम्ह क्या परशान होना चाहिए ?

तुम ज्ञाता बनो, दृष्टा बनो । तुम्हारे आसपास जो कुछ हो रहा है उसे ज्ञानदृष्टि मे देखते रहो जानते रहो । राग-द्वेष को उसमे मिलाये बिना देखना । राग-द्वेष को परे रखकर जानना । तुम्ह घबरान की कोइ जररत नही है।

तुम्ह दुनिया से क्या ले लेना है ? तुम्हे दुनिया का क्या दे देना ह ? तुम्हें दुनिया स क्या छपाना है ? महानुभाव, तुम्ह किसमे भय है ? इस सृष्टि म जा होना है वह होगा ही, जा भाव सुनिश्चित है उन्ह कोई नही बदल सकता ।' जिनशासन के इस सिद्धात को आत्मसात बना डाला ।

चाहे जसा भयप्रद निमित्त तुम्हारे सामने आये, पर तुम्हारा रोया भी नही फडकना चाहिए। भयविजेता बनो। भय से कभी हारना मत । भय से भयभीत मत होना ।

(८) तुम्हारी यदि कोई निन्दा करें ता करन देना। निन्दा और प्रशसा मे शोक या हर्ष मत करना । निन्दा सुनकर अकुलाना नही

बौखलाना नही। निन्दक तो निन्दा करेंगे ही...प्रशंसक प्रशसा भी करेंगे। तुम्हे इन दोनो परिस्थिति मे शात रहना चाहिए।

निन्दा को पचाने की शक्ति तुम्हे प्राप्त करनी ही चाहिए। जो मनुष्य अपनी निन्दा सुनकर क्रोध नही करता है, उद्वेग नही करता है, भयभीत नही होता है, वह मनुष्य सच्चा वीर पुरुष है। 'इस दुनिया ने तीर्थंकरो की भी निन्दा की है, फिर मैं कौन ?' इस तरह तुम्हारे मन का समाधान करलो। तुम तुम्हारे कर्तव्यमार्ग पर चलते रहो। निन्दा और तिरस्कार करने वाले तुम्हारा कुछ भी विगाड़ नही सकते। विगड़ता है अपने ही पापकर्मो के उदय से !

प्रशांत आत्मा ही परम सुखी

श्लोक : सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी ध्यान-तपोवल-युतोऽप्यनुपशान्त.।
तं लभते न गुणं यं प्रशमगुणमुपाश्रितो लभते ॥१२७॥

अर्थ : सम्यग् दृष्टि, ज्ञानी, ध्यानी और तपस्वी (साधक) भी यदि प्रशात न हो तो वह वो गुण प्राप्त नही करता है, जो गुण प्रशमगुणयुक्त (साधक) पा लेता है।

विवेचन : क्या तुम मिथ्या मान्यताओ से मुक्त वने हो ? तुम्हे सम्यग्-दर्शन की आतर-प्रतीति हुई है ? तो फिर तुम इतने अशान्त इतने वेचैन क्यो हो ? इतनी कपाय-विवशता क्यो है ? इतनी वासना की परवशता किसलिए ? क्या तुम यह समझ वैठे हों कि 'हमारे पास सम्यग् दर्शन है इसलिये हमारा मोक्ष हो जायेगा...' ऐसी भ्रमणा मे मत रहना। जव तक तुम्हारा सम्यग् दर्शन तुम्हे आत्मगुणो के खजाने की ओर न ले जाय, जव तक तुम कषायो की आग को शान्त न करो... जव तक विषय-वासना की विवशता को दूर न करो तव तक शायद यह सम्यग्दर्शन का दिया कही वुझ भी जाय...!

माना कि तुम्हारी वुद्धि तीक्ष्ण है...और तुम्हारा शास्त्र-ज्ञान काफी गहरा है...फिर भी तुम अशात नजर आ रहे हो...फिर भी तुम वेचैन दिख रहे हो...ऐसा क्यो ? क्या ऐसा तो नही कही कि, तुम्हे अपनी

बुद्धि और अपने शास्त्रज्ञान पर इतना भरोसा हो गया कि 'हमारी बुद्धि और हमारा शास्त्रज्ञान हमे मोक्ष दिलवा देगा!' इस विश्वास के सहारे ही शायद तुम विषयो की गलियो मे रागद्वेष की रगरेलिया मना रहे हो! आतर शाति और चित्त प्रसन्नता की उपेक्षा करके, उपशमभाव को सरसरी तौर पर नजरअंदाज करके, मात्र बुद्धि और ज्ञान के सहारे तुम आत्मगुणो की समृद्धि नही पा सकोगे, इतना याद रखना।

कही तुम दिन-रात मे दो तीन घटे सविकल्प या निर्विकल्प ध्यान लगाकर 'मैं तो ध्यानी हूँ और ध्यान के जरिये आत्मा का प्रकाश पा लू गा, ऐसा तो नही मान बैठे हो ना? ध्यान के उन दो-तीन घटो को छोडकर बाकी के समय में तुम कषायो का सहारा लेते हो, वषयिक सुखो की मखमली शय्या पर लोटते हो और मान रहे हो कि तुम्हे *केवलज्ञान हो जायेगा। तुम्हे वीतरागता यू ही हसते खिलते मिल जायेगी!* यह तुम्हारी निरी अज्ञानदशा है। कषायो को उपशान्त किये बगर, विषयवासना की आग को बुझायें बगैर तुम कभी भी आत्मा की पूर्णता नही पा सकोगे।

तुम तपस्वी हो। आठ उपवास, सोलह उपवास और शायद महीने के उपवास भी कर लेते हो! एक साथ पाचसो या हजार आयबिल भी कर सकते हो! नगे पर और नगे सर आग बरसाती गरमी मे मिलो तक पदल चल सकते हो, यह तो सब ठीक है, पर जब कोई तुम्हारा अपमान करता है तब तुम गुस्से से बौखला उठते हो न? कोई तुम्ह मान-सम्मान न दे तो अकुला उठते हो न? कही कोई खूबसूरती नजर आयी तो वहा ललचा जाते हो न? दुनियादारी की बातें जानने-सुनने की उत्सुकता तुम्हें चचल बनाये रखती है न? फिर भी तुम समझ रहे हो कि मैं घोर तपस्वी हूँ इसलिये मेरे सारे कर्म नष्ट हो जायगे *और मैं वीतराग बन जाऊगा', ऐसी मिथ्या कल्पनाओ में उलझना मत।* उपशमभाव के बिना कोई भी वीतराग नहीं बन सकता है।

सम्यग्दर्शन के द्वारा, उसके सहारे साधक को प्रशम-वाटिका म पहुँचना है बुद्धि और शास्त्रज्ञान के सहारे साधक को उपशम के निर्मल-शीतल जल से छल-छल भर सरोवर के किनारे पहुँचना है। आत्मध्यान परमात्म ध्यान की तल्लीनता के जरिये साधक को जड-सृष्टि के आकर्षण

से मुक्त होना है। जडसृष्टि को जानने-देखने की उत्सुकता से अलग करना है अपने आपको। उग्र तपश्चर्या करके उन्मत्त विषय-वासना को जला देना है और निर्विकार अनाहार आत्मदशा को प्राप्त करना है।

प्रशात आत्मा ही निजानद की मस्ती मे डूब सकती है। प्रशात मनुष्य ही अगम-अगोचर सुख की मधुर अनुभूति कर सकता है, चाहे फिर उसके पास सूक्ष्म बुद्धि न हो, या गहरा शास्त्रज्ञान न हो...! चाहे वो ध्यान करता हो या न करता हो...तीव्र तपश्चर्या भी न करता हो...!

- रस्से पर चढकर नृत्य करने वाले उस ईलाची के पास क्या था? क्या सम्यग्दर्शन था? शास्त्रज्ञान था? ध्यान था? तपश्चर्या थी? नही! फिर भी वे उपशान्त बने...और सर्वज्ञता उन्होने पायी।
- मा रुप मा तुप' इतने जरा से दो शब्द भी याद न रख पाने वाले मापतुप मुनि के पास कौनसा बडा शास्त्रज्ञान था? फिर भी वे प्रशान्तभाव की पूर्णता को पा सके।
- एक-एक साल से लगातार ध्यानस्थ दशा मे खडे बाहुबलीजी को तब तक ही केवलज्ञान नही हुआ जब तक कि मान कषाय ने उनका पीछा नही छोडा...उनकी आत्मा पूर्ण-रुपेण प्रशात न बनी!
- सवत्सरी-महापर्व के दिन भी तपश्चर्या नही कर सकने वाले कूरगडु मुनि वीतराग-सर्वज्ञ बन गये, जानते हो किसके प्रभाव से? वह प्रभाव उपशमभाव का ही था।

  प्रशमभाव की आराधना यानी क्रोध वगैरह कषायो को उपशांत करने की आराधना।

  प्रशम गुण की आराधना यानी विषयजन्य वासनाओ को प्रशांत करने की आराधना।

यह आराधना सम्यग् दर्शन-ज्ञान चारित्र को सविशेष उज्जवल बनाती है। यह आराधना चित्त की चचलता को, उत्सुकता को निर्मूल करती है। आत्मगुणो मे रममाण रखने वाले और बाह्य भावो की रमणता से बचने वाले इस 'प्रशमगुण' को अतरतम से वदन! दिल का निमत्रण!

श्लोक नवास्ति राजराजस्य तत्सुखं नैव देवराजस्य ।
यत्सुखमिहैव साधोर्लोकव्यापाररहितस्य ॥१२८॥

अर्थ लौकिक प्रवृत्तियों से मुक्त साधु को जो सुख इसी जन्म में मिलता है वो न तो चक्रवती को मिलता है और नहीं देवेन्द्र को उपलब्ध होता है।

विवेचन यहां जिस सुख की बात की जा रही है वो कोई भौतिक या शारीरिक सुख की बात नहीं है, यह तो है मन के सुख की बात! भीतर के सुख की बात! यह है आत्मा के सुख की बात! पांच इन्द्रियों के वैषयिक सुख-वैषयिक सुख के साधन तो राजा महाराजा के पास भी बहुत होते है, देवलोक के देवेन्द्रों के पास भी काफी होते हैं फिर भी उनके पास मन का सुख नहीं है। मन की शांति नहीं होती!

धर्मग्रन्थों में जिस चक्रवर्तीपन का वर्णन आता है, जो देवलोक व इन्द्र का वर्णन आता है, वो वर्णन पढ़ने से, उन चक्रवर्तीयों और इन्द्रों के वैषयिक सुखों का ख्याल आता है। अपार और अपूर्व सुखवैभव देख कर दुनिया को लगता है कि 'इस दुनिया में श्रेष्ठ सुखी तो ये चक्रवर्ती ही हैं ये देव-देवेन्द्र ही हैं। उनसे बढ़कर सुख दुनिया में फिर और किसके पास होगा!'

वर्तमान समय में भी दुनिया में जो अरबोपति या करोड़ोपति है, उनके सुखवैभव देखकर मनुष्य बोल उठता है 'कितने सुखी लोग हैं! कितना विपुल वैभव? कितनी सुख-साहबी! कितना सुखी जीवन! कितनी खुशहाल जिंदगी!' मात्र बाहरी नजर से देखने वाले और सोचने वाले मनुष्य सुख की कल्पना भौतिक सुख के साधनों के माध्यम से करते हैं, पर वास्तविकता बिल्कुल उल्टी है। आज अपनी दुनिया में चक्रवर्ती राजा नहीं है वासुदेव या बलदेव नहीं हैं, वर्ना यदि व होते तो अपन उनसे जाकर पूछते कि 'आप निर्भय या निश्चिंत हो?' तो जवाब मिलता कि 'हमारे पास सुख के साधन हैं पर हम निश्चिंत नहीं हैं! निर्भय नहीं है। इसलिए वास्तव में हम सुखी नहीं है हमको प्राप्त भौतिक सुख नित्य नहीं अनित्य है भयरहित नहीं अपितु भयसहित है, स्वाधीन नहीं परन्तु पराधीन है! इस तरह के भय

मे और चिताओ से हम घिरे हुए रहते है, हमारा मन अशाति की आग मे सुलगता है... हम उद्विग्न बने रहते है।'

देवलोक के इन्द्र भी आज तो कहानी-किस्सो के विषय बन गये है! फिर भी यदि कभी-कभार सपनो की दुनिया मे इन्द्र मिल जाय तो पूछ लेना कि 'हे देवराज, आप सुखी हो न? आपका मन सदैव शांत-प्रशान्त, प्रसन्न और प्रफुल्लित रहता है न? आपके मन मे इर्ष्या...रोष...राग आसक्ति, ये सब बाते अशाति...उद्वेग तो पैदा नही करते हैं न? इन्द्र का क्या जवाब मिलता है....जरा ध्यान से सुनना और उस पर सोचना।

भौतिक सुख-साधनो की वृत्ति-प्रवृत्ति से मुक्त महात्मापुरुषो को पूछना कि उनका सुख कैसा है! उनके अनुपम सुख की अभिव्यक्ति वे शब्दो मे नही कर सकेंगे। प्रशमसुख की अद्भुत अनुभूति की अभिव्यक्ति शब्दो मे हो ही नही सकती।

जिन्हे किसी भी बाह्य सुख को पाने की आकांक्षा नहीं है, जिन्हे किसी भी दु ख को दूर करने की अभिलाषा नही है...बाहरी सुख-दुख की कल्पनाओ से मुक्त रहने वाले वे साधुपुरुष जिस आंतर-सुख का अनुभव करते हैं, चक्रवर्ती या देव-देवेन्द्र भी उस सुख का आस्वादन तक नही कर सकते।

जिस किसी मनुष्य को प्रशमसुख का अनुभव पाना हो उसे ससार की तमाम प्रवृत्तिओं से मुक्त होना ही होगा। किसी भी तरह की...जरासी भी प्रवृत्ति नही चाहिए। मन से उसके बारे मे सोचना नही...वाणी से उसके बारे मे कुछ भी बोलना नही...और काया से उस बाबत मे कोई क्रिया नही करना। उसका मन डूबा होगा प्रशम के सुख में! उसकी अविनाशी मस्ती होती है प्रशमसुख के सागर मे!

वीतराग समान कहलाते अनुत्तर देवलोक के देवो को भी जब अपना आयुष्य पूरा होना होता है तब 'मुझे मनुष्य-स्त्री के पेट मे बद होना होगा', यह कल्पना दु खी दु.खी कर देती है! अनुत्तरवासी देवो के सुख भी इस तरह दु ख से कलंकित होते हैं! अकलक...बिना मिलावट का सुख होता है मात्र साधुपुरुषो को! लौकिक प्रवृत्तिओ से मुक्त ऐसे साधुपुरुषों को।

मन-वाणी और शरीर को सदैव लोक-प्रवृत्तिओं से मुक्त रखने के लिये चाहिए विशिष्ट ज्ञान। वो विशिष्ट ज्ञान यानी मात्र श्रुतज्ञान नही...

मात्र शास्त्रो का ज्ञान नही विशिष्ट ज्ञान यानी आत्मज्ञान। परिणति-ज्ञान। आत्मा के प्रदेशो प्रदेश मे ज्ञान का प्रकाश फैला हुआ होना चाहिए। आत्मा का एकाध प्रदेश भी अज्ञान के अधकार से आवत्त नही होना चाहिए। ऐसे ज्ञानी महात्मा ही लौकिक प्रवृत्तिओ से मुक्त रह कर, प्रशम सुख के दरिये मे मस्ती छानते हैं।

ज्ञानी साधुपुरुष कभी भी मन के दु खो से तडफता नही है। विकल्पो की जाल मे वो कभी उलझता नही है। राग द्वेष की धधकती आग म वो कभी जलता नही। उसका आत्मज्ञान उसे सासारिक प्रवृत्तिओ से मुक्त कराकर निवृत्ति की गुफा मे ले जाता है। निवृत्ति की गुफा म प्रशमसुख की प्राप्ति होती है। प्रवत्ति की सतही जमीन पर तो दु खदद का दावानल ही सुलगने का। प्रवृत्ति के साथ कोई न कोई आकाक्षा जुडी हुई रहेगी ही। अत प्रशमसुख के प्रार्थी मनुष्य को प्रवृत्तिओ की पीडा म से मुक्त होकर, मन वचन-काया के साथ आत्मज्ञान आत्मध्यान के सहारे निवत्ति की गुफा मे पहुँच जाना चाहिए।

कौन साधु स्वस्थ रहे ?

श्लोक सत्यज्य लोकचितामात्मपरिज्ञानचि तनेऽभिरत ।
जितरोषलोभमदन सुखमास्ते निज्वर साधु ॥१२६॥

अर्थ लोक की [स्वजन परिजन की] चिन्ता छोडकर आत्मज्ञान के चितन म अभिरत रहने वाला, राग द्वेष और काम को जीतन वाला वह इस कारण नीरागी बना हुआ साधु स्वस्थ रहता है [उपद्रवरहित जीता है]

विवेचन जो आत्मसाधक स्वजन-परिजन की चिता छोड देता है और आत्मचितन मे अभिरत रहता है वो ही आत्मसाधक स्वस्थ रह सकता है। जिन स्वजन परिजन का त्याग करके अपनी आत्मा के कल्याण का साधन के लिये मनुष्य चारित्रधर्म की राह पर चल निकला है उसे, अपने उन स्वजन व परिजनो के दु ख, दरिद्र और दुर्भाग्य की चिताए नही करनी चाहिए। उन स्वजनो को याद भी नहीं करने चाहिए।

'मेरे माता पिता निधन हो चुके हैं गरीबी ने उनको घेर लिया है उनका क्या हाल होगा ? मेरे वे स्वजन रिश्तेदार रोगग्रस्त हो चुके हैं

क्या होगा उनका ? मेरे वे मित्र-दोस्त आर्थिक सकट मे फंस गये है...साथ ही राज्य के अपराधी हो गये है...क्या होगा उनका ?' ऐसी चिन्ताओ से साधक को मुक्त रहने का है।

'मेरे वे स्वजन कोई पुण्यकार्य नही करते है .नही तो वे दान देते है .नही तप करते है.. परमार्थ-परोपकार भी नही करते है...उनका जन्मातर मे क्या होगा ? क्या उनकी दुर्गती होगी ? वे क्या नरक मे जायेगे ?' ऐसी चिन्ता भी साधक को नही करनी है। उसे उन स्वजन-परिजनो को विसार देना है. .विल्कुल भूल जाना है...मन को इन सभी चिन्ताओ से मुक्त वनाये रखना है।

पर ये सव चिन्ताए करने की आदत श्राजकाल की नही, अनादिकाल की है। अनादिकालीन वूरी आदतो से मुक्त होने का प्रयत्न भी कितना प्रवल होना चाहिए ? उस प्रयत्न मे सातत्य भी कितना चाहिए ? प्रवल और सतत प्रयत्न के सहारे ही उन वूरी श्रादतो मे से व्यक्ति छूटकारा पा सकता है। वह प्रयत्न है श्रात्मचिन्तन का ! श्रात्मविपयक चिन्तन मे मन को श्रोतप्रोत वना देना चाहिए।

'इस अनादि ससार मे परिभ्रमण करते हुए मेरी आत्मा ने कितने दारुण शारीरिक एव मानसिक दु ख पाये है ? वैषयिक सुखो मे निरन्तर भूमता-झूमता जीवात्मा कभी भी तृप्त हुआ ही नही, सदा-सर्वदा अतृप्त ही अतृप्त ! कभी वो सतुष्ट नही हुश्रा। विषयो की मृगतृष्णा मे दौडता ही रहा.. भटकता ही रहा—मरता रहा—जन्मता रहा। अभी भी इस चक्र का अन्त नही आया। श्राज मैं मानव हूँ, मुझे मानवजीवन मिला है, इस जीवन मे मुझे उस अतृप्ति की आग को वूझा देना है। मुझे इस समूचे विश्व का वास्तविक दर्शन हो चुका हे। विश्व की यथार्थता को मैंने पहचानी है। मोक्षदर्शन का श्रववोध मुझे प्राप्त हुआ है। अव मै ऐसा श्रातर-वाह्य पुरुपार्थ करू कि मेरे भी भव-भ्रमण का अन्त आ जाय। आत्मा सिद्ध-वुद्ध मुक्त हो जाय।

इस विचारधारा को केन्द्रविन्दु वनाकर आत्मचिन्तन के श्रनत आकाश मे ऊँचे ऊँचे उडता हुआ साधक आत्मा सवसे पहले तीन आतर-शत्रुओ पर धावा वोलता है।

ॐ राग पर आक्रमण करके रागविजेता बनता है।
ॐ द्वेष पर आक्रमण करके द्वेषविजेता बनता है।
ॐ कामवासना पर आक्रमण करके कामविजेता बनता है।

ग्रंथकार आचार्य भगवंत ने राग द्वेष और काम को ज्वर की उपमा दी है। ये तीनों अनादि के ज्वर है। टायफॉईड या न्यूमोनिया के ज्वर से भी ज्यादा खतरनाक ये तीनों ज्वर हैं। लोकचिंता का त्यागी एवं आत्मचिंता का अनुरागी साधक इन तीन ज्वरों को दूर करने के लिये आजीवन भरसक प्रयत्न, शक्य सभी उपचार करता रहता है।

ज्वर के ताप में सिकता अकुलाता मनुष्य पलभर भी प्रसन्न नहीं रह पाता। एकाध क्षण भी वो खुशी नहीं अनुभव कर पाता। इन तीन तीन तरह के ज्वर में तड़पता हुआ मनुष्य कुछ पल के लिये प्रसन्नता पाये तो भी कैसे? स्त्री के राग में तड़पते और जलते मनुष्य की बेचैनी क्या तुमने कभी देखी नहीं है? पैसे के पीछे पागल बने और चीखते चिल्लाते मनुष्य की दयनीय स्थिति का अंदाजा क्या तुम नहीं लगा सकते? शरीर की ममता में बिसूरते बिलखते और आंसू बहाते मनुष्यों की बदहवासी क्या तुमने नहीं देखी?

अपयश, पराजय, पराभव और अपमान से फड़कते, गुस्से में बौखलाते, होश हवास गँवा देते मनुष्यों की दिल को दहलाने वाली चीखें क्या तुमने नहीं सुनी? प्रदीप्त वासनाओं से विवश बनकर, तीव्र कामावेग से व्याकुल होकर, निःसार और निःसत्त्व बनकर बमौत मरने वाले जीवों को क्या तुम नहीं देखते?

अपनी आत्मा ने भी अनंत जन्मों में इन दारुण वेदनाओं को भोगा है। अब, अगर इनमें से छुटकारा पाना हो, इस जानलेवा ज्वर से मुक्त बनना हो तो लोकचिंता का त्याग कर दें और आत्मा की स्वभावदशा के चिंतन मनन में लीन बनें। यही एक रास्ता है तरीका है। स्वस्थ रहते हुए जीने का।

वे साधुपुरुष अद्भुत स्वस्थता से जीवनयात्रा कर रहे हैं कि जो समग्र परचिंताओं से मुक्त हैं और आत्मचिंतन में डूबे हैं। जिनके राग-द्वेष और काम विकार के विषयज्वर शांत हो चुके हैं। ऐसे योगीपुरुषों की भावभरी स्मृति करते हुए हमी अवस्था पाने हेतु अपने पुरुषार्थशील बनें।

श्लोक : या चेह लोकवार्ता शरीरवार्ता तपस्विनां या च ।
सद्धर्मचरणवार्ता-निमित्तकं तद् द्वयमपीष्टम् ॥१२०॥

अर्थ . कोई भी इहलोक की वार्ता या शरीर की बातें साधुओं के सद्धर्म और चारित्र के निर्वाह में हेतुभूत हो, वो दोनों [लोकवार्ता-शरीर-वार्ता] अभिमत है [यानि की जिनशासन को मान्य है]

विवेचन 'यदि साधु समग्रतया लोकचिता का त्याग कर दे तो वह अपना जीवन कैसे जीयेगा ? शरीर के निर्वाहहेतु उसे लोगो के पास तो जाना ही होगा न ? इस सवाल का जवाब देते हुए भगवान उमास्वाती कहते है : "साधुजीवन जीने के लिये, साधुजीवन मे आराध्य धर्मयोगो की आराधना के लिये शरीर का स्वस्थ होना बहुत जरुरी है। शरीर की स्वस्थता की अधिकाश निर्भरता आहार और पानी पर टिकी है। आहार-पानी के बगैर शारीरिक एव मानसिक स्वस्थता बरकरार रह नही सकती । आहार-पानी लाना भी गृहस्थो के पास से ही होगा। अत. साधुओ को गृहस्थो के सपर्क मे आना ही होगा। ऐसा सपर्क वर्ज्य नही है, त्याज्य नही है।

साधु को इतना विचार तो करना ही चाहिए कि 'उसे दोपरहित भिक्षा कहा से मिलेगी ?' वो भिक्षा के समय का भी चितन करे कि उसे 'गृहस्थो के घरो मे भिक्षा कब मिलेगी ?' उसे गृहस्थ की आर्थिक व मानसिक स्थिति का भी विचार करना चाहिए : वो गृहस्थ की पारिवारिक स्थिति का विचार भी करे। इन सब विचारो का मुख्य केन्द्र-बिन्दु होगा शरीर को निराकुल रखने के लिये आहार-वस्त्र पात्र वगैरह लेने का। जो कि सयमजीवन के लिये अति आवश्यक होता है।

१. साधु ऐसे गृहस्थ-घरो मे भिक्षा लेने हेतु जाये जहा कि उसे दोप-रहित भिक्षा उपलब्ध हो सके। इसके लिये वो ऐसे गृहस्थ घरो के बारे मे विचार करे और सहवर्ती साधुओ से बातचीत भी करे।

२ हर-एक गाँव मे लोगो के भोजन करने का समय भी एक सा नही होता । इसलिये जिस गाव मे साधु हो उस गाव के लोगो का भोजन का समय जाने। उस समय पर ही भिक्षा लेने के लिये जाय।

७ भिक्षा लेते समय उस गृहस्थ के वैभव का, संपत्ति का विचार करे। यदि वह घर निर्धन सा हो तो उस घर के लोगों को जरा सी भी तकलीफ न हो उतनी ही अल्प भिक्षा ले।

८ घर चाहे श्रीमंत हो, परन्तु दान देने की अभिरुचि न हो तो बहुत कम भिक्षा ग्रहण करे अथवा न भी ग्रहण करे।

५ घर में पारिवारिक झगडे हो रहे हों या किसी तरह की गंभीर बीमारी हो, किसी की मृत्यु हो गई हो, तो उस घर में भिक्षा के लिए न जाय।

ऐसी अनेक चिंताएँ साधु को करनी चाहिए। जिस चिंता का संबंध अपनी धर्मसाधना के साथ न हो वैसी व्यर्थ चिन्ता साधु को नहीं करनी चाहिए। लोगों की आरम्भ-समारंभ-भरी व्यापारिक बात उसे नहीं करनी चाहिए।

साधु अपने शरीर की भी सार-संभाल रखे। पांच इंद्रियों की देखभाल रखे। चूंकि उसे भी कोई धर्मआराधना करनी है, उसका मुख्य साधन-माध्यम है शरीर। उसे धर्मग्रन्थों का श्रवण करना है इसलिये उसके कान कार्यशील होने चाहिए। उसे धर्मग्रन्थों का अध्ययन करना होता है, परमात्मा की प्रतिमा के दर्शन करने होते हैं, पदयात्रा करनी होती है, प्रतिलेखन की क्रिया करनी होती है, इसलिये उसकी आंखें निरोगी चाहिए। साधु का जीवन स्वाश्रयी होता है, इसलिये उसका हर एक अंगोपांग सशक्त और व्याधिरहित होना चाहिए। अतः साधु अपने शरीर का संभाल। उसका लक्ष्य अलबत्ता धर्मारथम की आराधना का होना चाहिए।

क्षमा-नम्रता-सरलता-निर्लोभता वगैरह दस प्रकार के साधुधर्म का पालन भी स्वस्थ शरीर से ही हो सकता है। क्षुधातुर मनुष्य प्रायः क्षमाभाव में स्थिर नहीं रह सकता। अस्वस्थ शरीर से तपश्चर्या नहीं हो सकती है, स्वाध्याय नहीं हो सकता है, सेवा-भक्ति नहीं हो सकती है।

लोकचिंता नहीं करने की और शरीर के प्रति ममत्वरहित होने का उपदेश देनेवाले ज्ञानीपुरुष लोकचिंता और शरीरचिंता करने का मार्ग

वताते है ! यही है अनेकात दृष्टि ! 'लोकचिंता करनी ही नही चाहिए'... 'शरीरचिन्ता भी नही करनी चाहिए', ऐसा एकान्त प्रतिपादन नही करते हैं। लोकचिन्ता नही करनी चाहिए और करनी भी चाहिए ! शरीर का लालन - पालन नही करना चाहिए और करना भी चाहिए...! चाहिए साधु के पास ज्ञानदृष्टि ! विवेकदृष्टि !

क्षमा वगैरह श्रमणधर्म के पालन हेतु, पाच महाव्रतमय चारित्रधर्म के पालन हेतु, साधुधर्म की व्यवहारक्रियाओ के लिये शरीर की सार-सभाल करना और उसके लिये लोकसपर्क व लोकविचार करना अति आवश्यक होना चाहिए। रागवश या मोहवश वनकर स्नेही—स्वजनो के सुख-दु ख की वाते करना...चिन्ता करना...यह वर्ज्य है। शरीर की शोभा के लिये...शरीर को वलवान वनाने के लिये...अच्छे उद्दीपक पदार्थ खाना, घी - दूध -दही वगैरह का ज्यादा मात्रा मे उपयोग करना, इन सव वातो का निषेध किया गया है।

समाज के लोगो के साथ ऐसा सपर्क नही चाहिए या उनके लिये ऐसे विचार नही करना चाहिए जिससे की साधु का वैराग्य खत्म हो जाय। शरीर को ऐसी तुष्टि-पुष्टि नही करनी चाहिए कि जिससे साधु के मन मे विकार पैदा हो, साधु की रसवृत्ति प्रवल हो। निराकुल और निर्विकार चित्तवृति यथास्थित रहे...वर्धमान वने...और सयमयात्रा निरतर गतिशील रहे, इतनी मर्यादा मे लोकवार्ता और शरीरवार्ता करनी चाहिए।

संयमी का आधार भी संसार

श्लोक : लोकः खल्वाधार सर्वेषां ब्रह्मचारिणां यस्मात् ।
तस्माल्लोकविरुद्धं धर्मविरुद्धं च संत्याज्यम् ॥१३१॥

अर्थ : सभी सयमी जनो का आधार लोक (जनपद) ही है, इसलिये लोकविरुद्ध और धर्मविरुद्ध का त्याग करना चाहिये।

विवेचन : जिस जनसमाज की छाया में सभी सयमी स्त्री-पुरुषो को जीवन जीना होता है, उस जनसमाज की उपेक्षा सयमी स्त्री-पुरुषो को नही करनी चाहिए। चारित्र-धर्म की आराधना करने वाले साधु और

साध्वीजी को जनसमाज का मूल्यांकन ज्ञानदृष्टि से करना है। उन्हें समझना है कि 'हमारी संयमयात्रा का आधार जनसमाज है।' यह समझ कर उस आधारभूत जनसमाज की रुचि अरुचि का ख्याल रखना है। आधार को कभी भी आघात न पहुँचे, धक्का न लगे इसकी पूरी सावधानी रखते हुए जीवन जीना है। फिर वो चारित्रधारी संयमी मध्यममार्गी हो या उत्कृष्ट साधना का साधक हो! चाहे वो गाव या शहरों में विचरता हो या जंगलों और बीहड वनों में परिभ्रमण करता हो!

क्यों न संयमी पुरुष परनिरपेक्ष जीवन जीते हो, पर उन्हें शरीर को निरामय बनाये रखने के लिए आहार की जरूरत तो रहेगी ही। उसे शरीर की ममता चाहे न हो, पर शरीर की लाज को ढकने के लिए कपडों की आवश्यकता भी होगी ही। शक्य है वे क्षेत्रनिरपेक्षतया अप्रतिबद्धरूप से संयमयात्रा करते हों फिर भी उन्हें अल्पकालीन निवास स्थान की अपेक्षा रहेगी ही। यह आहार-वस्त्र-आवास वगरह उसे जनसमाज से ही प्राप्त करना होता है। यदि वो जनसमाज की उपेक्षा करेंगे- अवगणना करेंगे, तिरस्कार करेंगे तो उन्हें आहार वगरह की प्राप्ति असुलभ हो जायेगी। उनकी संयमयात्रा विकट बन जायेगी। इसलिए,जनसमाज को अप्रिय और अरुचिकर हो वैसे कार्य साधु को नहीं करने चाहिए। साधु को यह ज्ञान भी होना जरुरी है कि जनसमाज की दृष्टि में कौन से कौन-से काम निंदनीय माने जाते हैं, त्याज्य गिने जाते हैं। साधु को चाहिए कि वो लोकमानस का अध्ययन करे। लोकमानस का अध्ययन किस तरह किया जा सकता है इसकी समुचित जानकारी मार्गदर्शन धर्मग्रन्थों में उपलब्ध है।

कुछ उदाहरण लेकर अपन इस बात को स्पष्ट तौर पर समझें। सामान्यतया जिस घर में लडके लडकी का जन्म हुआ हो उस घर का पानी भी कई लोग कुछ दिनों तक नहीं पीते हैं, भोजन नहीं करते हैं, तो साधु को भी इतने दिन तक उस घर के आहार पानी नहीं लेने चाहिए। इसी तरह जिस घर में किसी की मौत हुई हो, लोग कुछ दिनों तक उस घर का आहार-पानी नहीं लेते, साधु को भी उस घर पर भिक्षा-गोचरी लेने नहीं जाना चाहिए। वैसे, जिस समाज की निश्रा में साधु-साध्वी रहते हों, उस समाज का जिन लोगों के साथ भोजन वगरह का संबंध न हो, वैसे लोगों के घर पर भिक्षा लेने जाना नहीं चाहिए।

मघ को सहन करना होता है। साधु साध्वी की सयम-आराधना दुष्कर वन जाती है। इसलिए साधु या साध्वी को जनसमाज के साथ सदा औचित्यपूर्ण व्यवहार करना चाहिए।

धम की दृष्टि से, शास्त्र की दृष्टि से बाधक न हो फिर भी समाज की दृष्टि से अकरणीय हो अनुचित हो वसा काय भी साधु-साध्वी का नही करना चाहिए। हा, धमविरुद्ध काय तो करना ही नही चाहिए। इसमे भी एक सावधानी बरतनी चाहिए कि वह काय करने से यदि समाज म अरुचि द्वेष की भावना पदा होती हो तो उस गाव-शहर को छोड कर चल देना चाहिए।

सभी सयमिगो के आधारभूत जनसमूह के प्रति उपेक्षाभरा वर्ताव मत रखो। निरपक्ष व्यवहार मत करो।

लोकविरुद्ध का त्याग

श्लोक देहो नासाधनको लोकाधीनानि साधनान्यस्य।
सद्धर्मानुपरोधात्तस्माल्लोकोऽभिगमनीय ॥१३२॥

अथ साधन क बिना शरीर नही है उसके साधन लोकाधीन है। इसलिय सद्धम को अविरुद्ध लोक का अनुसरण करना चाहिए।

विवेचन 'शरीरमाद्य खलु धमसाधनम।'

धमआराधना के लिये पहला साधन शरीर है। यदि शरीर स्वस्थ हो, निरोग हो निरामय हो तब ही धमआराधना शाति पूवक-समाधि-पूवक हो सकती है। परन्तु शरीर तरफ का साधक का अभिगम यही होना चाहिए 'धमसाधना का यह साधन ह'। इस अभिगम के साथ यदि साधक उस शरीर से धमआराधना का काय कराये तो यह 'औदारिक शरीर' भी अविनाशी पद प्राप्त करवा दे।

शरीर के लिये दो तरह की बातें ध्यान मे लेना जरूरी है एक शरीर रोगी नही बनना चाहिए और दूसरी शरीर अशक्त नही बनना चाहिए। साधु जीवन म इन दो बातो का ध्यान होना खूब जरूरी है। यदि शरीर रोगो से घिर जाय तो साधु पराधीन हो जाय। साधु यदि

अशक्त या अपंग हो जाय तो पराश्रित और पराधीन हो जाय ! पराश्रयता और पराधीनता ये दो साधुजीवन के बहुत बड़े विघ्न हैं।

शरीर को निरोग और सशक्त बनाये रखने के लिये कुछ साधन तो चाहिए ही ! शरीर को आहार चाहिए,...कपड़े चाहिए और रहने के लिए स्थान भी चाहिए। ये तीन साधन तो अपेक्षित है ही। संसारत्यागी व्यापारत्यागी ऐसे साधुपुरुष अकिंचन होते हैं। उन्हें भिक्षावृत्ति से जीने का व्रत होता है। वे अणगार कहलाते हैं, गृहत्यागी होते हैं, इसलिये कुछ देर के लिये ठहरने हेतु भी उनका अपना मकान या स्थान नहीं होता है। आहार...उपकरण और आवास इन तीन साधनों के बिना शरीर टिक नहीं सकता। इन तीन साधनों के बिना शरीर का अस्तित्व नहीं हो सकता। अलबत्ता, इन साधनों की गुणवत्ता और प्रमाण में तर-तमता हो सकती है। किसी शरीर के लिये ये साधन सामान्य कक्षा के हों तो चल सकता है, तो किसी के शरीर को ये साधन ऊँची कक्षा के चाहिये। किसी के शरीर को ये साधन अल्प मात्रा में चाहिए तो किसी के शरीर को ये साधन ज्यादा मात्रा में चाहिए। पर साधन अपेक्षित तो रहेंगे ही।

ये सभी साधन साधु-साध्वी को जनसमाज में से ही प्राप्त करने होते हैं। इन साधन को प्राप्त करने जितनी अपेक्षा तो जनसमाज से रहेगी ही। इस कारण जनसमाज से संपर्क भी रहेगा। इस संबंध को बरकरार रखने की सावधानी बरतना भी अनिवार्य होता है।

लेने वाले को चाहिए कि वो देने वाले के दिल को पीड़ा न पहुँचाए। लेने वाले को देने वाले के साथ सद्भावपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। जनसमाज से आहार...उपकरण और आवास की अपेक्षा रखने वाले साधु-साध्वी को उस जनसमाज के सद्व्यवहारों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। अपने धर्म को बाधक न हो वैसे लोकाचारों का अनुसरण करना चाहिए।

"सद्धर्म को बाधक न हो वैसे लोकाचारों का पालन करना चाहिए।" इस प्रतिपादन के साथ ही टीकाकर महर्षि सद्धर्म की परिभाषा कर रहे हैं क्षमादि यतिधर्म ! साधु को अपने क्षमादि दस प्रकार के यतिधर्म को आँच न लगे वैसे लोकाचारों का आदर करना चाहिए। यानि की जनसमूह के साथ समुचित व्यवहार रखना चाहिए।

दस प्रकार का साधुधर्म निम्न प्रकार है—
१ क्षमा रखना, २ नम्रता रखना, ३ सरलता रखना, ४ शौच धर्म का पालन करना, ५ सयम का पालन करना, ६ त्यागी रहना ७ सत्य का पालन करना, ८ तपश्चर्या करना, ६, ब्रह्मचर्य का पालन करना, १० अकिंचनता का पालन करना।

इस दस प्रकार के साधु-धर्म का पालन होता हो इसमें जरा भी क्षति न पहुँचे उस ढग से लोकवार्ता करने मे दोष नही है। यह तभी हो सकता है कि साधक प्रतिपल जाग्रत रहे अप्रमत्त रहे । किसी भी तरह का लौकिक व्यवहारिक प्रसग उपस्थित होने पर उसे कर्तव्य अकर्तव्य की सूझ रहे। 'यह करना चाहिए और यह नही करना चाहिए', यह ख्याल उसे तुरन्त आ जाय।

कभी किसी कार्य मे जनसमूह साधु पुरुष का सहयोग चाहता हो पर वह कार्य साधु धर्म की मर्यादा से बाहर का हो तो विचक्षण साधु, जनसमूह को अपनी मर्यादाओ को इस तरह समझायें कि जनसमूह को अरुचि या अभाव न हो। जसे जनसमाज मे साधु के प्रति घृणा या द्वेष न हो, वसे साधु को अपने दस प्रकार के यतिधर्म के पालन म जागत रहना है । वसे ही जिस जनसमाज के आधार पर उस सयमयात्रा करना है उस जनसमाज के प्रति सभान सावध रहना है। उसकी जरासी भी उपेक्षा या अवमानना नही करनी चाहिए।

यदि वो जनसमाज की अवगणना, अवमानना करेगा तो जनसमाज साधु का द्वषी विरोधी बन जायगा। द्वेषी और विरोधी बन जनसमाज के पास से साधु को अपने शरीर के लिये साधन—आहार, उपकरण, आवास वगरह प्राप्त नही होग। इससे शरीर रोगी या अशक्त हो जायेगा, रोगी या अशक्त शरीर सयमधर्म की आराधना म उपयोगी नही बनेगा। तो इस तरह सयम की आराधना अशक्य बन जायेगी। अत साधु साध्वी का उस जनसमाज के साथ अपने सबध सुरक्षित रखने चाहिये।

श्लोक दोषेणानुपकारी भवति परो येन येन विद्वेष्टि ।
स्वयमपि तद्दोषपदं सदा प्रयत्नेन परिहार्यम् ॥१३३॥

अर्थ : जिन जिन दोषों से दूसरा आदमी अनुपकारी होता है, द्वेष करता है, उन उन दोषस्थान का खुद को भी जाग्रत रहकर त्याग करना चाहिए ।

विवेचन जिस जनसमाज के पास से सयमधर्म के पालन मे सहायक सामग्री प्राप्त करनी है, उस समाज का एक भी व्यक्ति श्रमण या श्रमणी के प्रति द्वेषवाला न बने, अनर्थकारी न बने...इसकी पूरी सावधानी श्रमण-श्रमणी को रखनी होती है । इसके लिये श्रमणो को जान लेना चाहिये कि कैसे कैसे आचरण करने से लोगबाग गुस्से होते है, रोषायमान होते है । क्या करने से लोग अप्रीति वाले बन जाते हैं और तिरस्कार करते है, यह जान लेना चाहिये । यहाँ कुछ एक प्रसंगो की कल्पना करके, जनसमाज श्रमण-श्रमणी के प्रति किस तरह क्रुद्ध और उद्विग्न बनता है, वो मैं बता रहा हूँ । यह जानकर श्रमण-श्रमणी को ऐसे आचरण का त्याग करना चाहिए ।

(१) एक श्रमण राजमार्ग पर से गुजर रहे है, वही एक घर के दरवाजे पर खडा उस घर का मालिक गुस्से मे एक सन्यासी को डॉट रहा है : 'इसी समय मेरा घर खाली कर के चले जाओ तुम यहाँ से । मैंने तुम्हे एक दिन के लिये ही ठहरने का कहा था, और तुम तो दो दिन हो जाने पर भी खाली नही करते ।' बुद्धिमान श्रमण इस दृश्य को देखते है और गृहस्थ के शब्द सुनते है । वे मन ही मन निर्णय करते है कि 'गृहस्थ के घर मे, जितने दिन कि इजाजत गृहस्थ ने दी हो उतने ही दिन रुकना चाहिए ।' गृहस्थ के गुस्से का कारण वे समझ गये ।

(२) एक श्रमण शहर के एक मुहल्ले मे भिक्षा के लिये घूम रहे थे । एक घर के आगन मे घर के स्त्री-पुरुष एक सन्यासी पर बरस रहे थे : 'तुझे जितनी भिक्षा देनी थी उतनी दे दी...अब ज्यादा नही मिलेगी ।' सन्यासी वहा से हटने का नाम नही ले रहा था । आखिर घर के मालिक ने कहा : तू नही जायेगा तो पुलिस को बुलवाकर निकलवाऊगा ।' श्रमण ने

लोकमानस को परखा। गृहस्थ को तनिक भी दुःख हो उस तरह जबरदस्ती से भिक्षा नही लेनी चाहिए।

(३) एक श्रमण ने एक सद्गृहस्थ के घर पर जाकर कहा महानुभाव, हमें एक रात बीताने के लिये जगह चाहिए। तुम्हारा मकान काफी बडा है। क्या हमे थोडी जगह मिलेगी ? हम दस श्रमण हैं। मकान मालिक ने कहा 'महाराज, अब मैं किसी भी साधु-संत को जगह नही दूंगा। चूंकि कुछ दिन पहले मेरे वहा रुके हुए साधुओं ने मेरे ही आठ साल के बच्चे को बहकाया और साथ मे ले गये वो उसे साधु बना देने वाले थे! यह तो गनीमत था कि हम समय पर पहुंच गये और लडके को वापस ले आये।' श्रमण समझ गये कि लोग क्या और किस तरह विमुख हो जाते हैं।

(४) एक गृहस्थ सुबह सुबह मे ही चिल्ला चिल्लाकर गालियां बक रहा था, चूंकि कोई आदमी उसके मकान की दीवार के पास ही मल-मूत्र छोड गया था। वहा से गुजरते साधु ने उस गृहस्थ के कठोर और बीभत्स वचन सुने। वे समझ गये कि गृहस्थ क्या गुस्से हो रहा है।

(५) बाहर से आये एक दर्शनार्थी सद्गृहस्थ ने मुझ से कहा महाराज श्री, हमारे गांव में मेरा घर एक धर्मस्थानक के पास है। उस धर्मस्थान में रहने वाले साधु गण हमारे घर पर दिन में तीन चार बार भिक्षा लेने आते है। मेरी पत्नि साधुओं के प्रति भक्ति वाली है, पर मैं उसे अब भक्ति कहता हूं। परिवार का विचार किये बगैर वो साधुओं को भिक्षा देती है। फिर पीछे हम सबको परेशान होना पडता है।' उसके शब्दों में पत्नि के प्रति व साधुओं की तरफ रोष का भाव टपक रहा था। उस के गुस्से का कारण मेरी समझ में आ गया।

(६) एक धर्मशाला का मैनेजर इसलिये बावला हो रहा था चूंकि यात्री लोग धर्मशाला के कमरे में गंदगी करके चले गये थे। और मैनेजर को सूचना दिये बगैर, कमरे खुले छोडकर चले जाने से कमरे में चोरी हो गई थी। मैनेजर के गुस्से का कारण समझ में आ गया। इसने मैनेजर ने कहा हम रहने के लिये आप जो कमरा देंगे उसमें जरा भी गंदगी नहीं होगी। हम जायेंगे तब आपको कहकर जायेंगे।

कमरे मे आपका सामान है उसको हम छुऐंगे भी नही। यह तो हमारे साधु धर्म की मर्यादा है।' उन्होने हमको कमरा खोल दिया।

सभी सयमी साधु-साध्वी के आधारभूत जनसमाज को अप्रिय हो ऐसी हरएक वृत्ति-प्रवृत्ति का त्याग प्रत्येक साधु-साध्वी को करना ही चाहिए। यदि वे त्याग नही करते है तो कभी गुस्से मे बौखलाये हुए लोग साधु-साध्वी को नुकसान भी कर सकते है। साधु-साध्वी की सयम आराधना मे विक्षेप पैदा हो जाय,...कभी गृहस्थ वर्ग की अप्रियता, दुर्भाव दूर करने के लिये अपवाद मार्ग का अवलवन लेना पडे तो ले, पर गृहस्थ को अप्रिय हो वैसा तो कुछ भी नही करे।

सपूर्ण जागृति, पल-पल की जागरूकता के साथ साधु-साध्वीओ को जीना है। यदि ऐसी सूझबूझ और समझदारी न हो तो ऐसे साधु-साध्वीओ को गीतार्थ-प्रज्ञावत साधुपुरुषो की निश्रा मे ही रहना चाहिए और उनकी आज्ञा-उनके अनुशासन मे जीवन जीना चाहिए।

प्रमाद और मूर्खता साधुजीवन मे बिलकुल नही चल सकती। एक साधु या एक साध्वी की गलती या उनका प्रमाद पूरे साधु-समुदाय, पूरे श्रमणी सघ पर दूरगामी असर छोडता है। इसलिये प्रमाद को छोडकर सतत जागरूक रहते हुए साधुजीवन जीना है।

निरोगिता का उपाय

श्लोक . पिण्डैषणानिरुक्तः कल्प्याकल्प्यस्य यो विधि सूत्रे।
ग्रहणोपभोगनियतस्य तेन नैवामयभयं स्यात् ॥१३४॥

अर्थ आगम मे 'पिंडैषणा' नामक अध्ययन मे कल्प्य-अकल्प्य का जो विधि बताया गया है उस विधि से परिमित (आहार) ग्रहण करने वाले और परिमित उपभोग करने वालो को रोग का भय हो ही नही सकता।

विवेचन . साधु शारीरिक रोगो से भी निर्भय होते है। साधु का शरीर प्राय: निरोगी होता है। चूकि वे अपने आहार मे नियमित होते है।

'आचारागसूत्र' के 'पिण्डैषणा अध्ययन मे साधु के लिये आहार ग्रहण करने का जो विधि बताया गया है, तदनुसार साधु आहार ग्रहण करता है

अयात वो दोपरहित भिक्षा ग्रहण करता है। दोपरहित भिक्षा भी साधु परिमित ही ग्रहण करता है। आवश्यकता से अधिक आहार वो ग्रहण नही करें। चूकि ग्रहण किया हुआ आहार साधु दूसरे दिन के लिय तो रख नही सकता। यदि बढी हुई भिक्षा वो पारिष्ठापनिका विधि अनुसार परठ दे [यानी कि धूलि या राख मे मिलाकर जीवरहित जमीन पर फेंक दे] ता भी उसे प्रायश्चित करना पडता है। इसलिये भिक्षा लेते समय साधु को जागृत रहने का होता है। अपन लिये और सहवर्ती साधु के लिये जरूरी हो इतनी ही मात्रा मे भिक्षा वो ले।

क्षुधा भूख उपशात हो जाय और शरीर मे शक्तिसचार हो जाय इतनी ही मात्रा मे आहार करना होता है। अकुला जाय उतना आहार करने का है ही नही। मजबूरन शरीर को निरामय और आराधना मे सशक्त रखने के लिए ही साधु को आहार करना होता है। यदि शरीर को आहार न दें तो शरीर सयमधम की आराधना मे सहायक नही होगा। इस विषय मे आगम ग्रन्थो म एक उपनय कथा कुछ इस ढग की कहा गई है

एक नगर मे एक छोटे बच्चे की हत्या हो गई बच्चे के शरीर पर कीमती जेवर थे, एक डाकु ने जेवर की लालच स बच्चे का अपहरण किया। जेवर लेकर बच्चे की हत्या कर दी। पर कुछ ही दिनो मे वो डाकु पकडा गया और राजा ने उसे कारावास मे डाल दिया।

मृत बच्चे के पिता एक श्रीमत व्यापारी थे। एक दिन किसी कारण व भी राजा के अपराधी सिद्ध हुए और राजा ने उनका भी कारावास म डाल दिया। कारागृह के जिस कमरे म उस डाकु को रखा गया था उसी कमरे मे सेठ को रखा गया। सेठ और डाकु को एक ही जजीर म बाधा गया। यानि सेठ या डाकु किसी को भी यदि कमरे के बाहर जाना हो तो दोनो को साथ ही जाना पडे।

सेठ के घर से रोजाना सेठानी सेठ के लिय अच्छा भोजन तयार करवाकर जेल मे भिजवाती थी। दासी भोजन की थाली लेकर सेठ को भोजन कराने के लिये जेल मे आती है। पहले दिन जब भोजन आया तो डाकु ने सेठ स कहा 'थाडा भोजन मुझे भी दे दो।' सेठ ने कहा मैं तुझे भोजन दू ? हरगिज नही, तूने मेरे लडके की हत्या की है

मै तुझे कभी भोजन नही दूगा।' सेठ ने डाकु को भोजन नही दिया, अकेले ही खाना खाया। दुपहर को सेठ को जगल जाने की शका हुई। उन्होने डाकु से कहा . "मुझे जगल जाना है, मेरे साथ चल।' डाकु ने इनकार कर दिया। सेठ काफी गिडगिडाये तब डाकु ने कहा : 'रोजाना तुम्हारे भोजन मे से आधा खाना मुझे देने का वायदा करो तो ही मै आऊगा।' आखिर हारकर, मजबूरन सेठ को हामी भरनी पड़ी।

दूसरे दिन नौकरानी भोजन लेकर आयी तब सेठ ने अपने वायदे मुताबिक डाकु को आधा भोजन दिया। नौकरानी ने यह देखा। उसने घर पर जाकर सेठानी को बात कही। सेठानी तो एकदम आगबबूला हो गई...अपने ही बेटे के खूनी को अपने भोजन में मे हिस्सा देना! यह कहाँ की उदारता! उसने अब अच्छे भोजन की बजाय सादा भोजन भेजना चालु किया। जब सेठ की सजा पूरी हुई, सेठ घर पर आये तो सेठानी उनसे काफी नाराज थी। सेठ ने उसे सारी हकीकत समझायी, यदि मैं उसे भोजन नही देता तो वो मेरे साथ जगल मे नही आता और फिर हम दोनो एक ही जजीर मे जकडे हुए थे।' सेठानी के मन का समाधान हुआ।

डाकु यह शरीर है ओर सेठ वो सयमी आत्मा है। आत्मा और शरीर जब तक इकट्ठे है...एक साथ है, तब तक शरीर को आहार वगैरह देना ही पडता है। यदि न दे तो शरीर आत्मा के सयमयोगो की आराधना मे सहायक बनना तो दूर, बल्कि विघातक बनता है। आहार के बिना शरीर अशक्त हो जायेगा और अशक्त शरीर साधुजीवन की आवश्यक धर्मक्रियाए भी नही कर सकता।

पर जैसे सेठ बेमन से.. अनिच्छा से डाकु को भोजन देते थे...थोडा ही भोजन देते थे...वसे ही साधु नि सग मन से मात्र बत्तीस कवल जितना ही भोजन करे। शरीर के प्रति कोई राग या लगाव नही। भोजन के प्रति कोई लोलुपता नही। शरीर सयमयोगो की आराधना मे सहयोगी बने, इस ढग से परिमित आहार दे। इस तरह परिमित भिक्षा ग्रहण करने वाले और परिमित आहार करने वाले साधु को अजीर्ण नही होता है। अजीर्ण से से पैदा होने वाले रोग उसे नही होते। साधु निरोगी-निरामय रहता है। इससे उसकी सयमयात्रा सुखरूप चलती है।

साधु-साध्वी को अपने शरीर को निरामय रखना चाहिए। निरामय रहने के लिए, रोग पैदा ही न हो वैसा आहार करना चाहिये। भूख से भी कम आहार करने वाले साधु-साध्वी को प्रायः रोग होता ही नहीं है। किसी अशातावेदनीय कर्म के उदय से रोग आये यह बात अलग है। उस रोग को दूर करने के लिए उचित उपचार भी कर सकता है साधु। अलबत्ता, अपनी समता-समाधि को यथावत रखते हुए।

साधु कैसे भाव से आहार करे ?

श्लोक व्रणलेपाक्षोपाङ्गवदसङ्गयोगभरमात्रयात्रार्थम् ।
पन्नग इवाभ्यवहरेदाहारं पुत्रपलवच्च ॥१३५॥

अर्थ असंग पुरुष अपने संयम योगों के निर्वाह हेतु फोड़े पर लगाये जाने वाले मल्हम की तरह और गाड़ी की पहिये की धुरा पर लगाये जाने वाले तेल की तरह, जिस प्रकार सांप आहार करता है और जिस प्रकार अपने ही संतान के मांस का आहार पिता करता है उसी प्रकार का आहार करे।

विवेचन साधु असंग होता है।

साधु अपने शरीर के प्रति निर्मम होता है।

साधु शरीर, भोजन, वस्त्र, आवास वगैरह के प्रति स्नेहरहित होकर संयमयात्रा करते रहे। शरीर वगैरह को वो मात्र संयमयात्रा के साधन रूप ही समझे। उसका साध्य होता है आत्मा की पूर्णता। अनंत गुणों की उपलब्धि। इसके लिये ही साधु विविध धर्मानुष्ठान करें। इसके लिये ही वो ज्ञान ध्यान करे। इसके लिए ही वो तपत्याग और तितिक्षा करे।

संयमयात्रा सुचारु ढंग से चलती रहे इसलिए ही वो शरीर को आहार दे। कितना आहार दे, यह समझाने के लिये ग्रन्थकार ने दो उदाहरण दिये हैं। १, आदमी के शरीर पर फोड़ा हुआ हो। उस फोड़े को दूर करने के लिये उस पर कितना मल्हम लगाया जाता है ? वह फोड़ा फूट जाय उसमें से खून पीप वगैरह निकल जाय और घाव भर जाय उतना ही मल्हम लगाया जाता है न ? ज्यादा मल्हम लगाने का कोई मतलब नहीं होता। वैसे साधु मात्र क्षुधा को उपशांत करने के लिये ही आहार करे।

२ बैलगाडी हो या घोडागाडी (तांगा) उसके पहिये सरलतापूर्वक गतिशील बने रहे इसके लिये पहिये के अग्रभाग पर तेल या ऐसा ही कोई चिकना पदार्थ लगाया जाता है, इतना ही तेल लगाना चाहिये कि पहिये की आवाज आये नही और वो घिसे बगैर ढग से गति कर सके। साधु भी उतना ही आहार करे कि उसका शरीर सयम-योगो की आराधना मे थके बगैर गति कर सके।

ये दो दृष्टात ही बोल रहे है कि साधु का आहार कितना होता है ? आहार की मात्रा के साथ, उस आहार के प्रति साधु का दृष्टिकोण कैसा हो, उसका एक लोमहर्षक उदाहरण ग्रन्थकार महर्षि ने दे दिया है। पढ़ते-पढते ही रोये-रोये मे सिहरन फैल जाये वैसा यह उदाहरण है। एक पिता को अपने ही प्रिय संतान के मृत देह के मास का भक्षण करने का प्रसग-अति-विकट प्रसग आ जाये तब पिता कैसे दहकते दिल से वो मास के टुकडे अपने मुंह मे रखे ? यदि एक ही टुकड़ा पेट मे जाने से मौत टल जाती हो तो दूसरा टुकड़ा वो उठायेगे क्या ? उन मास के टुकडों के प्रति पिता की दृष्टि कैसी होगी ? आहार के प्रति साधु का दृष्टिकोण ऐसा ही हो।

शास्त्रो मे ऐसा अतिकरुण एक ही उदाहरण पढने को मिलता है। चिलातीपुत्र अपने ही सेठ की लड़की के साथ प्यार करने लगता है। सेठ उसे घर से निकाल देते हैं। चिलाती डाकू बन जाता है। एक दिन सेठ की हवेली पर धावा बोलता है। अपनी प्रेमिका सुषमा को उठाकर चिलाती वहाँ से फरार हो जाता है। चिलाती के साथी डाकू सेठ का धन-माल लूट कर भागते है। सेठ और उसके युवान लडके यानी सुषमा के भाई उन डाकूओ का पीछा करते हैं। उन्हे पैसो की इतनी चिन्ता नही-जितनी की सुषमा की। जब चिलाती दौड़ते हुए थक जाता है...उसे पकड़े जाने का डर लगता है—वो कधे पर बेहोश पडी सुषमा को देखता है। तलवार के एक झटके मे सुषमा का गला काट देता है। शरीर को वही छोड़कर, सुषमा के मस्तक को गले मे लटकाकर वहाँ से भाग जाता है।

सुषमा के पिता और उसके भाई जब उस जगह पर पहुँचते है जहाँ सुषमा का शरीर पड़ा है...बेटी की हत्या हुई देखकर वे रो पड़ते है और वही ढेर हो जाते हैं। काफी दूर-दूर जगल मे वे आ गये हैं। भूख और प्यास से उनकी जाने निकल रही है। वहाँ वे सुषमा के शरीर के माँस का उपयोग...टुकडे-टुकड़े होते दिल से करते है...अपनी जान बचाने के लिए !

इस घटना को नजर के सामने रखकर भगवान उमास्वाती साधक को कहते हैं कि 'तुम्हे ऐसे रागरहित हृदय से, मजबूरन आहार करना है।' आहार-विषयक अच्छे-बुरे की कोई चर्चा नहीं करनी है। कोई राग या कोई द्वेष नहीं करना है।

उस आहार को मुँह में डालने के बाद रसपूर्वक चबाना भी नहीं है। मुँह में चूसना भी नहीं है, सीधे ही निगल जाना का। जिस तरह साँप अपने भक्ष्य को निगल जाता है वैसे। आहार का आस्वाद लिये बगैर निगल जाना है।

रसास्वाद के लिये या शरीर की पुष्टि के लिये साधु आहार न करे। उसे अपने संयम योग-स्वाध्याय ध्यान, भिक्षा परिभ्रमण वगैरह ढंग से हो आराधना सुचारु हो, इस लिये ही शरीर को टिकाना है। शरीर का लालन-पालन उसे नहीं करना है। शरीर के प्रति अनासक्त महात्मा, आहार के प्रति भी आसक्तिरहित ही होते हैं।

आहार करने का प्रयोजन, आहार की मात्रा, आहार के प्रति अभिगम दृष्टिकोण और आहार करते समय रखने का भाव—इतनी बातें उदाहरणों के माध्यम से समझायी गई हैं।

भोजन करे, पर राग-द्वेषरहित !

श्लोक गुणवदमूर्च्छितमनसा तद्विपरीतमपि चाप्रदुष्टेन ।
दारुपमधृतिना भवति कल्प्यमास्वाद्यमास्वाद्यम् ॥१३६॥

अर्थ लकड़े के जैसे धैर्यवाला साधु ग्रहण करने योग्य स्वादिष्ट भोजन रागरहित मन से और स्वादरहित भोजन द्वेषरहित मन से यदि करता है तो वह भोजन करने योग्य भोजन बनता है।

विवेचन ओ मुनिवर ! तुम्हे तो काष्ट की भांति भावनाविहीन बन जाना है ! न राग की भावना न द्वेष की भावना...! सुथार लकड़ी को रन्दे से छील दे या आरी से चीर दे तो क्या लकड़ी गुस्सा करती है ? लकड़ी पर कोई चन्दन का लेप कर दे या फूलों की माला पहनाय तो क्या लकड़ी खुश हो जाती है ! बस ही है मुनिवर ! तुम्हारे पास

षड्रस के भोजन आये तो भी द्वेष नही करना है। बस, इसी ढंग से राग-द्वेष के विचारो से मन को मुक्त रखकर तुम्हे आहार करना है।

भगवान उमास्वातीजी, साधु के मन को राग-द्वेष-रहित चाहते है। जड सृष्टि के प्रति राग-द्वेष रहित और जीवसृष्टि के प्रति मैत्री-प्रमोद-करुणा और माध्यस्थ्य भाव से सभर मुनि की मनोसृष्टि होनी चाहिए। आहार-वस्त्र-मकान वगैरह जीवनोपयोगी साधनो का उपयोग मुनि राग-द्वेषरहित मन से करे।

प्रश्न . क्या मन राग-द्वेषरहित रह सकता है ? मन मे राग के और द्वेष के विचार तो आ ही जाते है।

उत्तर . छद्मस्थ जीवात्मा का मन पूर्णतया रागरहित या द्वेषरहित नही हो सकता, यह वात सही है, परन्तु मन को राग या द्वेष की तीव्रता से रहित वनाना तो शक्य है। राग-द्वेष की तीव्रता को नामशेष कर डालने के लिये 'आहार' तरफ देखने की ग्रन्थकार ने ज्ञानदृष्टि दी है। उस ज्ञानदृष्टि से देखने वाले, चिंतन करने वाले साधु को आहार के प्रति राग नही होता है। साँप की भाँति आहार मुँह मे चवाये विना-जुगाली किये वगैर गले निगलने वाले साधु को आहारविषयक राग-द्वेष होता ही नही है।

'मुझे धर्म के साधन के रूप मे इस शरीर को टिकाना है।' यह स्पष्ट निर्णय होने के वाद आहार के प्रति 'यह अच्छा आहार...यह वुरा आहार...यह निरस आहार यह स्वादिष्ट आहार।' यह भेद नही रहता है। हर पल जागृत साधु रसहीन आहार ही ग्रहण करते है। रसप्रचुर आहार शक्यतया तो साधु लाये ही नही। शास्त्रो मे प्रशसित 'कूरगड़ू मुनि' का आदर्श नजर के सामने रखने वाले साधु रसनेन्द्रिय को परवश कैसे होगे ?

साधुजीवन जीने वाले महात्मा का आदर्श होता है 'अरक्तद्विष्टता' 'मुझे राग-द्वेष रहित होना है। इस आदर्श को जीवनमत्र मानकर जीने' वाले साधु अपने मन-वचन शरीर को इस तरह प्रवृत्त रखे कि राग-द्वेष मे तीव्रता का पुट शामिल न हो। निरतर राग-द्वेप मद-मदतर होते जाय। साधु वनने से पहले जीवात्मा को यह समझदारी होनी ही चाहिए कि 'साधु होकर मुझे अपने राग-द्वेष मद करने है। राग-द्वेप वढे वैसी कोई वृत्ति या'

प्रवृत्ति नही करना है। मुझे निर्दोष भिक्षा भी राग द्वेष किये वगर लानी है और बिना राग-द्वेष के भाजन करना है। वस्त्र पात्र और मकान के बारे मे भी मुझे राग द्वेष नही करना है। साहजिक भाव से ग्रहण करना है और साहजिक भाव से छोडना है।'

राग और द्वेष—इन दो भावो की अनर्थकारिता को भली-भाति समझने वाला जीवात्मा ही इन दो भावो से वचने के लिये सतत जाग्रत रह सकता है। 'मैं मेरे राग द्वेष कम करुगा ही। राग-द्वेष कम करने के लिये ही मैं साधु बना हू।' ऐसे दृढ मजबूत सकल्प वाला साधु आजीवन मरणपर्यंत राग-द्वेष के सामने आतर-युद्ध करता रहता है और विजयी होता ही है।

वैषयिक सुखो की अपेक्षा मन की शाति व समाधि का ज्यादा चाहने वाला महात्मा, मन की शाति-समाधि को तहस-नहस करने वाले वैषयिक सुखो को सहजतया त्याग देते है। उनकी जीवनपद्धति ही ऐसी होती है कि जिससे उनकी शाति अखड रहे। उनकी समाधि अविकल रहे। वसे ही द्रव्य वसा ही क्षेत्र, और वसा ही वातावरण वे पसद करते है। शात और समाधिस्थ मन मे ही परम तत्वो का चिंतन-मनन हो सकता है। परम तत्वो की रमणता से जो स्वाधीन और निरवधि आनन्द प्राप्त होता है उस आनन्द की अनुभूति के लिये महात्मा पुरुष तत्पर रहते हैं।

उनकी यह दृढ मान्यता होती है कि जीवन जीने से सबधित साधना के लिये राग-द्वेष करने मे मन अशात व चचल बन जाता है। यह नुक्सान उन्हे सहन नही होता। वे शरीर को इतना स्वस्थ और तदुरस्त चाहेंगे कि शरीर, मन की शाति और समाधि मे सहायक बने। इससे ज्यादा व शरीर की अपेक्षा जरा सी भी नही रखते। ऐसा और इतना धैर्य साधु मे होना ही चाहिए।

अच्छे-बुरे आहार के बारे मे राग-द्वेष नही होने देने का धैर्य साधु मे होना अति आवश्यक है। वैसा धैर्य प्राप्त करने के लिये साधु को सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

तो दवाईयाँ नहीं चाहिए !

श्लोक : कालं क्षेत्रं मात्रां स्वात्म्यं द्रव्यगुरुलाघवं स्वबलम् ।
ज्ञात्वा योऽन्यवहार्यं भुङक्ते किं भेषजैस्तस्य ।।१३७।।

अर्थ . काल [समय] क्षेत्र, मात्रा, स्वभाव, द्रव्य का भारीपन-हल्कापन और खुद की ताकत को जानकर जो भोजन करता है, उसे औषधो से क्या ? [उसे दवाईयो से क्या लेना-देना ?]

विवेचन : मुनिवर ! तुम्हे रोग कैसे ? और दवाईयां कैसे ? तुम्हे तो समयानुरूप, क्षेत्र के अनुकूल, प्रमाणयुक्त (उचित मात्रा मे) प्रकृति के अनुसार एव तुम्हारी पाचनशक्ति के मुताबिक भारी या हल्का भोजन करना है । इस ढग मे भोजन करने वाले महात्मा को शायद नो रोग होता ही नही है । बीमारी आती ही नही है ! और यदि बीमारी ही न आये तो फिर औषध-दवाई लेने की तो जरूरत ही क्या ! तुम्हे किस तरह समय वगैरह के अनुसार भोजन करना है, वह समझ लो।

काल—गर्मी मे तुम्हे पानी ज्यादा पीना चाहिए और आहार कम लेना चाहिए । ऐसा करने से भोजन के पचने मे सरलता रहती है । बारिश के मौसम मे इस तरह आहार पानी लेना चाहिए कि पेट का छट्ठा हिस्सा खाली रहे यानि कि ऊनोदरी रहनी चाहिए । सर्दियो मे आहार की मात्रा बढाने की और पानी कम पीने का । इस तरह ऋतु अनुसार भोजन यदि तुम लोगे तो तुम्हे अजीर्णादि रोग नही होंगे, तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छा रहेगा ।

क्षेत्र—क्षेत्र तीन तरह के होते है। रुक्ष, स्निग्ध, और शीतल । सौराष्ट्र वगैरह रुक्ष प्रदेश मे आहार की मात्रा कम रखने की, पानी ज्यादा पीने का । कोकण (वर्तमान महाराष्ट्र) जैसे स्निग्ध प्रदेश मे जहा कि पानी ज्यादा होता है, वातावरण मे नमी रहती है, वहा आहार का प्रमाण ज्यादा रखने का, पानी कम पीने का । कश्मीर और हिमालय जैसे प्रदेशो मे जहा कि शीत ही ज्यादा होती है, वहाँ आहार पानी का प्रमाण इस कदर रखने का कि पाचन शक्ति बराबर काम करती रहे।

मात्रा—तुम्हे तुम्हारी पाचन शक्ति का ज्ञान होना चाहिए। तुम्हारी जठराग्नि के अनुरूप तुम्हे आहार-पानी लेना चाहिए। कुछ एक की जठराग्नि मद होती है, अगर वे ३२ कवल जितना प्रमाणयुक्त आहार लें, फिर भी पचता नही है तो उन्हे उतना ही आहार लेना चाहिए कि जितना पच जाय।

स्वभाव कुछ एक लोगो की प्रकृति ऐसी होती है कि उन्हे स्निग्ध-चिकना आहार भलीभाति पच जाता है। कुछ एक की प्रकृति इस तरह की होती है कि उन्हे रूक्ष रूखा आहार ही सरलता से पच सकता है। कुछ एक को मध्यम कक्षा का आहार, यानीकि ज्यादा स्निग्ध नही ज्यादा रूखा नही ऐसा आहार उन्हे पचता है। कुछ एक को विरुद्ध द्रव्यो का सयोजन सुखकारी बनता है तो कईयो को वह दु खकारी बन जाता है। इसलिये तुम्हे तुम्हारी प्रकृति को जानकर पहचानकर आहार करना चाहिए। आहार मे किसी का अनुकरण या देखादेखी नही करनी चाहिए।

द्रव्य—खाने योग्य द्रव्यो का भारीपन या हल्कापन तुम्हे जानना चाहिए। जो द्रव्य पचने मे भारी होते हैं वे भारी द्रव्य कहलाते हैं। जो पचन मे हल्के होते है व हल्के द्रव्य कहलाते हैं। जसेकि भैस का दूध या दही पचने मे भारी होता है। जबकि गाय का दूध या दही पचन मे हल्का होता है। इसी तरह दूसरे द्रव्यो की पहचान कर लेनी चाहिए। हो सके वहा तक भारी पदार्थों का प्रयोग टालना चाहिए या कम करना चाहिए।

स्वशक्ति—तुम्हे यह ध्यान मे रखना चाहिए कि तुम्हे वायु का प्रकोप तो नही है न ? यदि हो तो वायुकारक द्रव्यो को तुम्हे छोडना चाहिए। यदि तुम्हे पित्त का प्रकोप हो तो पित्तजनक पदार्थ छोड देने चाहिए। यदि तुम्हारी प्रकृति कफ की हो तो तुम्हे कफशामक द्रव्य लेने चाहिए। तुम्हे तुम्हारी प्रकृति का ज्ञान होना चाहिए। यदि तुम्हारी प्रकृति विषम न हो, सम प्रकृति हो, तो तुम्हे इतनी नियमितता बरतनी ही चाहिए कि सम प्रकृति विषम न बने।

यह मत भूलना कि तुम्हारी सयमसाधना का मुख्य साधन शरीर है। शरीर के प्रति यदि लापरवाही की तो वह लापरवाही सयम-आराधना के

प्रति होगी। जिस तरह शरीर को पुष्ट नही बनाना है, वैसे ही उसे रोगी भी नही बनाना है। अशक्त भी नही होने देना है।

तुम्हारी प्रकृति आदि के अनुरूप आहार वगैरह मे परिवर्तन करके तुम्हे तुम्हारा स्वास्थ्य सभालना है पर दवाईयो का प्रयोग शक्य हो वहाँ तक टालना है। तुम्हे शरीर मे अस्वस्थता दिखे, रोग के चिह्न मिले तो तुरन्त आहार की पद्धति मे परिवर्तन कर देना चाहिए। उसमे भी यदि अजीर्ण हो तो, उपवास ही कर देना चाहिए। भोजनत्याग और भोजनपरिवर्तन के द्वारा सर्वप्रथम रोग को दूर करने का प्रयास करना चाहिए। इसके उपरान्त भी यदि रोग दूर न हो तो दवाई का प्रयोग किया जा सकता है।

वास्तव मे, साधु यदि काल, क्षेत्र, मात्रा वगैरह के अनुरूप आहार ले तो रोग होने की सभावना ही नही रहती। शरीर को निरोगी और सशक्त रखने के लिये कितना सुन्दर मार्गदर्शन ग्रथकार महर्षि ने दिया है! इस मार्गदर्शन के अनुसार यदि साधु-साध्वी आहार करे तो सचमुच, उन्हे दवाई लेने की जरूरत रहे ही नही। तन स्वस्थ रहता है और मन भी स्वस्थ रहता है। आत्म-कल्याण के लिये धर्मआराधना निर्विघ्न होती रहती है।

शरीररक्षा किस लिए ?

श्लोक पिण्ड शय्यावस्त्रैषणादि पात्रैषणादि यच्चान्यत् ।
कल्प्याकल्प्यं सद्धर्मदेहरक्षानिमित्तोक्तम् ॥१३८॥

अर्थ : आहार, उपाश्रय, वस्त्र-एषणादि, पात्र-एषणादि और दूसरा जो कुछ भी कल्प्य या अकल्प्य बताया गया है वह सद्धर्म के हेतुभूत शरीर की रक्षा के निमित्त कहा गया है।

विवेचन : 'मुनिराज ! तुम अपरिग्रही हो न ? परिग्रह का मन-वचन-काया से त्याग किया है न ? तो फिर भोजन, उपाश्रय, वस्त्र, पात्र वगैरह तो तुम लेते रहते हो, फिर तुम अपरिग्रही कैसे ? जिज्ञासु के इन प्रश्न का उत्तर इस श्लोक मे दिया गया है।

पहली बात—परिग्रह किसे कहते है, इसकी परिभाषा का विचार करे। जिनागमो मे कहा गया है 'मुच्छापरिग्गहो वुत्तो' मन की किसी

भी वस्तु म मूर्च्छा-ममत्व यह परिग्रह है। किसी वस्तु या पदाथ को लेने या पास रखने मात्र से साधु परिग्रही नही हो जाता है। यदि वस्त्र पात्र रखने मात्र से 'परिग्रह' कहलाता हो, तो शरीर भी परिग्रह कहा जायेगा! चूकि आत्मा शरीर मे है ना ? तो फिर आत्मा के लिये शरीर परिग्रह क्यो नही ? परन्तु जो शरीर के प्रति ममतारहित है उनके लिए शरीर परिग्रह नही है, वसे वस्त्र, पात्र, उपाश्रय वगैरह के प्रति भी ममता-रहित साधु परिग्रही कैसे कहलायेगा ?

दूसरी बात–मोक्षमाग की आराधना मे, आराधक की आशयशुद्धि अति महत्वपूण है। अर्थात् साधक का आशय शुद्ध होना चाहिए। साधु जो आहार करता है, वस्त्र धारण करता है, पात्र रखता है, उपाश्रय मे रहता है शरीर की सार सभाल रखता है, इसके पीछे उसका आशय उसका इरादा कौनसा है, यह समझना चाहिए। उसे जिस सयम-धम की आराधना करना है उस आराधना का आधार है शरीर! उस शरीर को टिकाने के लिये, सयमधम की आराधना मे सहायक शरीर के लिए वस्त्र पात्र, आहार वगैरह चाहियेंगे ही। वस्त्र-पात्र वगैरह ग्रहण करने का और इसका उपयोग करने का इरादा है सयम की आराधना करने का। यह इरादा पवित्र एव विशुद्ध होने से शरीर की सभाल रखना और उसके लिए वस्त्र, पात्र आहारादि ग्रहण करना वह परिग्रह नही कहलाता। शरीर और शरीर के लिए उपयुक्त साधन इनके प्रति साधु ममत्वरहित होता है।

साधु सयमआराधना के शुद्ध लक्ष्य से और मूर्च्छामुक्त भाव से आहार वगरह की गवेषणा करें। जिस तरह ४२ दोष को छोडते हुए आहार लाने का है उसी तरह कुछ एक दोष टालकर वस्त्र लाने के है। पात्र लाने के लिये भी विधि बतायी गयी है। 'वस्त्र एषणा और पात्र-एषणा का अथ यह है। शास्त्रो मे दर्शायी विधि के अनुसार वस्त्र और पात्र लायें। उपाश्रय के लिये भी विधि बतायी गयी है। जिस स्थान मे साधु को रहना हो या रहने के लिये जगह चाहिए उसके मालिक की इजाजत मागने से लेकर उस स्थान से निकलते समय स्थान वापस मालिक को सौंपने तक का विधि साधु के लिये बताया गया है।

तीसरी बात–आहार, वस्त्र, पात्र वगैरह की गवेषणा करता हुआ

साधु निर्दोप आहार वगैरह ग्रहण करे, परन्तु निर्दोप-दोपरहित आहारादि उपलब्ध न हो तो साधु क्या करे ? ऐसे समय मे साधु दोपयुक्त आहारादि भी ग्रहण करे। कम से कम दोप लगे, उसकी पूरी सावधानी वरतते हुए ग्रहण करे। इस तरह दोपित आहार वगैरह ग्रहण करने वाला साधु भी जिनाज्ञा का आराधक है। चू कि वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा ने जिस तरह सयमधर्म के नियम वताये है उसी तरह उन नियमो के अपवाद भी वतलाये है। अपवाद के विना का नियम हो ही नही सकता। 'प्रशमरति' के टीकाकार आचार्यश्री का कहना है कि 'सर्वे च विपयाः सापवाद' हर एक विपय को अपवाद होता है।

वेशक, साधु को उन उन नियमो के ज्ञान के साथ साथ उनके अपवादो का ज्ञान भी होना ही चाहिए। उस अपवादमार्ग के आचरण की पद्धति का ज्ञान भी होना चाहिए। मूल नियमो को जैन परिभापा मे 'उत्सर्ग' कहा गया है जबकि उस उत्सर्ग मार्ग के नियम और उसके अपवाद, दोनो मिलकर मोक्षमार्ग है। यानी की संयमधर्म की आराधना मे सहायक ऐसे शरीर को टिकाये रखने के लिए कभी-कभार उत्सर्गमार्ग की दृष्टि से 'अकल्प्य' ऐसे आहार-वस्त्र-पात्र वगैरह भी अपवादमार्ग से कल्प्य वन जाते है।

मोक्षमार्ग की आराधना-यात्रा मे जो कोई भी नियम-अपवाद वताये गये हैं, वे सभी नियम और अपवाद सद्धर्म की आराधना के आधारभूत शरीर की रक्षा के लिये वताये गये है, यह वात भूलना नही चाहिये। इसलिये एकातिक रूप से किसी भी नियम का प्रतिपादन ज्ञानी पुरुप कभी नही करते।

साधु शरीर की रक्षा के लिये आहार ग्रहण करे, वस्त्र-पात्र ग्रहण करे, उपाश्रय मे रहे, डडा वगैरह रखे और समय पर औपध वगैरह भी ले। इस तरह शरीररक्षा करने वाले साधु को परिग्रही नही कहा जाता। 'स्वस्थ और निरोगी शरीर से मै अपने सयम धर्म की आराधना निराकुल चित्त से कर सकु गा,' इस पवित्र आशय-इरादे से साधु अपने शरीर की रक्षा करे।

मुनिवर ! अलिप्त रहिये !

श्लोक कल्प्याकल्पविधिज्ञ संविग्नसहायको विनीतात्मा ।
दोषमलिनेऽपि लोके प्रविहरति मुनिर्निरुपलेपः ॥१३९॥

अर्थ कल्पनीय और अकल्पनीय के विधि को जानने वाला संविग्न [संसारभीरु और ज्ञान क्रियायुक्त] पुरुषों का सहायक और विनीत मुनि दोषों से मलिन लोक में [रहने पर भी] लेपरहित [राग द्वेषरहित] विचरण करता है ।

विवेचन मुनिराज ! काफी देख भालकर, सोच समझकर विचरना इस दुनिया में ! दुनिया में कदम कदम पर दोषों के कांटे बिखरे हुए हैं एकदम सावधानीपूर्वक चलना । एक भी कांटा तुम्हारे संयम-चरण के तल्वे को बींध न दे । जगह जगह पर राग-द्वेष का कीचड जमा है, ध्यान रखना तुम्हारे पर राग-द्वेष से बिगडे नहीं !

आहार, वस्त्र, पात्र वगैरह की गवेषणा करने के लिए तुम घूमोगे तब पांच इन्द्रियों के अनेक लुभावने विषय तुम्हारे सामने आयेंगे वह देख कर तुम्हें जरा भी नहीं ललचाना है । प्रिय विषय तुम्हारे समक्ष आयेंगे । वह देखकर तुम्हें जरा भी लुभाना नहीं है । प्रिय विषयों के प्रति जरा भी अनुरागी नहीं होना है, अप्रिय विषयों के प्रति जरा भी द्वेषी नहीं बनना है । तुम्हें तो मध्यस्थ ही रहना है । मध्यस्थ आत्मा नये कर्म नहीं बांधती है । पुराने बंधे हुए कर्मों की निर्जरा करती रहती है । तुम्हें यही काम करना है । नये कर्म बंधे नहीं उसकी सावधानी बरतना है और पुराने कर्मों का क्षय करना है ।

महात्मन् ! तुम ऐसे निर्लेप व मध्यस्थ तब ही बन पाओगे जबकि तुम्हें उत्सर्गमार्ग एवं अपवादमार्ग का ज्ञान होगा । उद्गम, उत्पादन और एषणा के दोषों की जानकारी होगी । कल्पनीय अकल्पनीय का शास्त्रीय ज्ञान हो और कब, कैसे संयोगों में अपवादमार्ग का अवलंबन लेना चाहिए इसका पूरा बोध हो, इसके लिये तुम्हें उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग के आगम ग्रन्थों का तलस्पर्शी अध्ययन करना चाहिये ।

तुम स्वयं ज्ञानी हो पर यदि तुम्हारे साथ वाले मुनिवर भवभीरु और सम्यग् ज्ञान-दर्शन चारित्र की आराधना के तीव्र अभिलाशी नही है, तो भी तुम्हारा रास्ता कठिन हो जायेगा। तुम्हारे सहवर्ती मुनिवर भवभ्रमण से डरने वाले होने चाहिए। 'मैं यदि असयम का आचरण करूंगा, यदि सम्यग् ज्ञान-दर्शन-चारित्र की विराधना करूंगा तो मैं भव-सागर मे डुब जाऊगा। मुझे अब भवसमुद्र मे डूबना नही है। अब ऐसी कोई भी प्रवृत्ति नही करना है कि जिस प्रवृत्ति के परिणाम-स्वरूप मेरा ससार-परिभ्रमण वढ जाये।' ऐसे दृढ सकल्प वाले मुनि यदि तुम्हारे साथी होगे तो तुम्हारे मार्गदर्शन का अनुसरण करेंगे। इतना ही नहीं, उनकी श्रद्धा तुम्हे भी सहायक वनेगी। किसी विशिष्ट प्रसग मे तुमने निर्णय लिया कि : 'किसी भी कीमत पर अपन को असंयम की प्रवृत्ति नही करना है, चाहे कैसी भी आफत आये।' उस समय संविग्न साधु तुम्हारे निर्णय को सहर्ष स्वीकारेंगे। असयम की प्रवृत्ति के लिये तुम पर दवाव नही डालेगे।

इसी तरह, तुमने विशेष परिस्थिति मे सरसरी तौर पर 'अकल्पनीय' परन्तु शास्त्रदृष्टि से 'कल्पनीय' ऐसे आहारादि ग्रहण करने का निर्णय किया तो उस समय सहवर्ती सविग्न साधु तुम्हारे निर्णय को अपनायेंगे। ऐसे सहायक साथी मुनि तुम्हे तव मिलेगे और तव ही वे तुम्हारे सहवासी वनेगे जवकि तुम विनीत होगे। तुम्हारे स्वभाव के साथ विनय जुड गया होगा।

तुम कभी किसी को कठिन शव्द नही कहते,...तुम कभी किसी का अपमान नहीं करते,...तुम कभी किसी के साथ दुर्व्यवहार नही करते। तुम्हारी कभी कोई प्रवृत्ति अनुचित नही होती, तो तुम्हारे सहवासी मुनि तुम्हारे प्रति श्रद्धाभाव वाले हो जायेंगे। तुम्हारी मोक्षमार्ग की आराधना मे सहायक वनेगे।

तुम आचार्य, उपाध्याय आदि वडो की उचित सेवा–भक्तिमें उद्यत हो, तुम वालमुनि, वृद्धमुनि, विमार मुनि और तपस्वी साधु पुरुषो की सेवा मे सदैव तत्पर हो,...तुम चतुर्विध सघ के लिये अपने कर्तव्यो में सजग हो, तो तुम्हे अनेक सहायक मुनिवर मिल जायेंगे।

अनेक दोषो से भरेपूरे समाज के वीच मे रहकर, उन दोषो से पूर्णतया वचते हुए, रागद्वेष की तीव्रता के विना मुनि को सयमयात्रा

करना है। इसके लिये इतनी और ऐसी तयारी मुनि को रखनी है। सबसे महत्वपूर्ण बात है 'निरुपलेप' रहने की। रागद्वेष के मलिन लेप से जरा भी लिप्त नही होना है। आहार का, वस्त्र का, पात्र का, उपाश्रय का उपयोग करना है परन्तु उसमे राग-द्वेष नही करना है आहार वगरह प्राप्त करने के लिये समाज के लोगो के साथ सपक मे भी आना है पर राग-द्वेष से जरा भी लिप्त नही होना है। बाह्य उपकरणो के उपयोग उपभोग मे रागद्वेष रहित होते हुए प्रवत्त होना है। इसके लिए शास्त्रज्ञान के साथ सतत आत्म-जागति होना आवश्यक है। अगर आत्म-जागृति नही है तो कसा भी शास्त्रज्ञान राग-द्वेष से नही बचा पायेगा।

मुनिराज! आत्मा की पूणता पाने के कटकाकीण पथ पर तुम चल रहे हो। तमाम उपकरण और सपूण ज्ञानमूलक जानकारी के साथ, जरा भी दीन हीन हुए बगर तुम्हारे रास्ते पर आगे कदम बढाते रहो।

श्लोक यद्वत्पङ्काधारमपि पङ्कज नोपलिप्यते तेन।
धर्मोपकरणधृतवपुरपि साधुरलेपकस्तद्वत ॥१४०॥

श्लोक यद्वत्तुरग सत्स्वप्याभरणविभूषणेष्वनभिसक्त।
तद्वदुपग्रहवानपि न सगमुपयाति निर्ग्रन्थ ॥१४१॥

अर्थ जिस तरह कीचड म रहा हुआ कमल कीचड से लिप्त नही होता उसी तरह धम उपकरण को शरीर पर धारण करने वाले साधु भी कमल की भाति निर्लेप रहते हैं।

जिस तरह घोडा आभूषणों स विभूषित होने पर भी [आभूषणो म] आसक्त नहीं होता, उसी तरह उपग्रह [धर्मोपकरण] युक्त होन पर भी निग्रन्थ उसम मोह नहीं करता।

विवेचन दोषो से भरे हुए लोगो के बीच मे रहने पर भी, उन लोगो का सपक-सहवास करने पर भी मुनि दोष से क्यो नही लिप्त बनता, यह सवाल उठता है न दिमाग मे? इस सवाल का जवाब कमल का कुसुम देता है! तुम किसी सरोवर मे भील मे पानी की सतह पर स्थित कमल को देखो। वो कीचड और पानी मे रहता है, उसका आधार है कीचड और पानी। फिर भी तुम देखना, कमल तनिक भी कीचड

मे सना नही होगा, पानी से गीला नहीं होगा ! जैसे कि कमल कह रहा हो। 'मैं कीचड के आधार पर रहता हू, फिर भी कीचड मे सनने के लिए मजबूर नही हू ! मैं पानी मे रहता हू...इसलिए कोई पानी मे भीगने के लिए बधा हुआ नही हूँ। मैं उन दोनो से निर्लेप रह सकता हू...इसलिए तो योगी पुरुष अपने हृदय को मेरी उपमा देते हैं। मेरे जैसा हृदय बनाकर उसमे परमात्मा का ध्यान करते है।'

मुनि चाहे क्यो न दोषभरपूर समाज के सहारे जीये, फिर भी उन दोषो से अलिप्त रह सकता है। मुनि न चाहे तो वे दोष उसे चिपक नही जाते। 'मुझे निर्लेप रहना है', वैसा कटा सकल्प होना चाहिए। चाहे वो आहार करे, शरीर पर वस्त्र धारण करे, पात्र और दड रखे, कवल और रजोहरण रखे...फिर भी उन पर वो राग-द्वेष नही करता है, राग-द्वेष मे लिप्त नही बनता। जहा आशय इरादा शुद्ध हो और आसक्ति का अभाव हो वहाँ लोभ पलभर भी टिक नही सकता, राग रह नही सकता। द्वेष को वहाँ तनिक भी जगह नही मिलती।

काजल की कोटडी जैसे समाज के बिच मे रहने पर भी उस काजल का एक भी दाग आत्मा पर न लगने देने वाला मुनि मोक्ष के मार्ग पर शीघ्रता से प्रयाण करने वाला महावीर पुरुष है।

दूसरा उदाहरण दिया गया है घोडे का। शादी के समय दूल्हे को सवारी करने के लिये घोडे को सजाया जाता है। सोने चादी के गहने उसे पहनाये जाते हैं। कीमती-जरियन के कपडो मे उसे शृंगारित किया जाता है। क्या उस घोडे को उन कपडो और गहनो पर ममता होती है ? घोडे की सजावट को देखने वाला भले अनुरागी बने, खुश खुश हो...घोडा खुद अपने शृ गार के प्रति अनुरक्त नही होता। जब सईस घोडे के शृंगार को उतार देता है तब घोड़ा उसका विरोध नही करता, कोई एतराज नही उठाता ! रोता नही है ! साहजिक तौर से वो शृ गार करने देता है,...उतनी ही सहजता से शृंगार को उतारने देता है।

मुनि इसी तरह की सहजता से वस्त्र-पात्र वगैरह ग्रहण करते है और समय आने पर उसका त्याग करते है। न राग...न स्नेह...न द्वेष

न भाई भिभक या न कोई ठिठक ! बाहर से वस्त्र-पात्र को धारण करनेवाला मुनि अंत करण से अलिप्त रहता है। इसलिए तो मुनि को 'निग्रंथ' कहा गया है। ग्रंथ यानी गाठ ! मुनि को न तो राग की गाँठ होती है और न ही द्वेष की गाँठ होती है। इसलिए तो वे निग्रंथ होते हैं।

शरीर पर वस्त्रादि होने पर भी और पास में रजोहरण, मुखवस्त्रिका और दंड वगैरह रहने पर भी मुनि परिग्रही नही है। ममता हो तो परिग्रह कहा जाता है। ममता नही है तो परिग्रह नही है। उपकरण रखने मात्र से कोई परिग्रही नही हो जाता। और फिर, यदि इस तरह उपकरण रखने मात्र से ही परिग्रही हुआ जाय तो शरीर भी परिग्रह बन जायेगा ! बेशक शरीर पर ममता रखने वाले के लिए शरीर भी परिग्रह ही है।

यानि, बुनियादी बात यह है कि वस्त्र पात्र आदि धर्मोपकरण रख सकता है। शरीर की सारसभाल कर सकता है। उसके लिये भोजन वगैरह ले सकता है। शर्त यही कि उसे इन सब में आसक्ति ममता नहीं रखना है। कमल की भाँति उसे निर्लेप अनासक्त रहना है। पाड की भाति निस्पृह निमम रहना है।

ऐसा तक मत करना कि 'कमल तो मन रहित है थोड़ा भी विकास मनवाला नहीं है, अत वे रागद्वेष नहीं करते।' तुम्हें भी तुम्हारे मन को मार डालना है! जिस बाह्य मन में विकल्प पैदा होते हैं, उस मन को मजबूती के साथ खतम कर देना है। निर्लेप बनने के लिए मन बगैर के हो जाना पड़े तो हो जाओ ! मन के होते भी मनरहित हो जाने का ! मन का उपयोग मात्र धर्मध्यान में और शुक्ल ध्यान के लिए ही करने का। मन का उपयोग तत्त्वचिंतन के लिए करने का ! रागी-द्वेषी मन को मारकर कमल की भाति निर्लेप और अश्व की भाति अनासक्त होकर संयमयात्रा करते रहो।

निर्ग्रन्थ किसे कहते हैं

श्लोक : ग्रन्थः कर्माष्टविधं मिथ्यात्वाविरतिदुष्टयोगाश्च ।
तज्जयहेतोशठं संयतते यः सः निर्ग्रन्थः ॥१४२॥

अर्थ : आठ प्रकार के कर्म, मिथ्यात्व, अविरति और अशुभ योग, यह ग्रंथ है । उसे जीतने के लिए जो अशठतया [मायारहित] सम्यग् उद्यम करता है वह निग्रंथ है ।

विवेचन : साधु, मुनि, श्रमण, भिक्षु इन सब के लिये 'निर्ग्रंथ' शब्द का प्रयोग किया गया है । निर्ग्रंथ' शब्द अर्थसूचक सुन्दर शब्द है । ग्रन्थकार ने उस शब्द के हार्द को प्रगट किया है । टीकाकार आचार्यश्री ने उस हार्द को और अधिक खोला है । स्पष्ट किया है ।

'ग्रंथ' शब्द को 'नि' उपसर्ग लगकर 'निर्ग्रंथ' शब्द बना है । जिससे जीवात्मा ग्रथित हो, आबद्ध बने उसे 'ग्रन्थ' कहा जाता है । वह ग्रन्थ है आठ प्रकार के कर्म । और उन कर्मों के बंधन मे हेतुभूत मिथ्यात्व अविरति व मन-वचन-काया के योग ।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय, वेदनीय, नाम, आयुष्य और गोत्र, ये आठ कर्म है । जब तक जीवात्मा सर्वज्ञकथित तत्व और पदार्थों को मानता नही है तब तक इन कर्मों से आत्मा बंधती रहती है । जब तक हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह के पापो का प्रतिज्ञापूर्वक त्याग नही करता है तब तक इन कर्मो से वह बंधता रहता है । जब तक मन अशुभ और अशुद्ध विचार करता है, वाणी असत्य निकलती रहती है और पाचो इन्द्रियां उनके विषय में झूमती-झूलती है तब तक ये कर्म बंधते रहते हैं । यह है ग्रन्थ ।

मोक्षमार्ग का पथिक मुनि, इन कर्मबंध के हेतुओ को भली भांति जाने । उसका मानसिक कड़ा संकल्प हो कि 'मुझे नये कर्म नही बांधने हैं और जो कर्म बंध चूके हैं उनसे मुक्त होना है ।' यह सकल्प भी निष्कपट दिल का होता है । शुद्ध आत्मस्वरुप की प्राप्ति का ध्येय, यही तो निष्कपटता है । 'मुझे अब कोई भी कर्मजन्य सुख नहीं चाहिए,' यह निर्धार उसके साफ दिल का साक्षी है ।

सर्वज्ञशासन के आगमग्रंथो का आदरपूर्वक अध्ययन-अनुशीलन करके वह महात्मा, उस 'ग्रथ' को तोडने का, उससे छूटने का उपाय ढूढ निकालता है। उन उपायो को भली-भाति जानकर-समझकर अमल मे लाता है। 'मैं कर्मों से लोहा लूगा ही और जीतूगा ही', ऐसे कडे निर्धार के साथ वो प्रयत्नशील बनता है।

'ओ मुनिराज ! यदि तुम्हे निग्रथ बनना है तो सब से पहले यह प्रबल निर्धार करना होगा कि 'मुझे आत्मा को कर्मों के बधना से मुक्त करना ही है। इसके लिय मैं सतत और सख्त पुरुषार्थ करूगा।'

एक और बात, तुम्ह तुम्हारे दिल को कभी भी मायावी नही होने देना है। यानी कि बाह्य दृष्टि से तुम कर्मो का नाश करने का प्रयत्न करते हो पर तुम्हारा दिल यदि लोगो के मान-सम्मान को पाने के लिये लालायित है, तुम्हारे भीतर लोकप्रशसा सुनने की इच्छा रहती ह तो हृदय मायावी गिना जायेगा। बाहर से तुम निरतिचार चारित्र का पालन करत होगे पर यदि मन मे देवलोक के दिव्य सुख पाने की कामना दबी दबी रहती है, तो मन मायावी कहलायेगा। तुम्ह दिल को मायारहित बनाकर ही कर्मों का नाश करने के लिये प्रयत्नशील बनना है।

तुम्हारा यह प्रयत्न प्रयास भी मायारहित होना चाहिए। यानी कि मन-वाणी-वतन से पूरी ताकत लगाकर उद्यम प्रयत्न करना का है। आत्मवचना न हो जाय उसकी पूरी सतर्कता बरतनी होगी। इसके लिय विशेषरूप से 'शातागारव' मे वचना होता। 'शातागारव' यानी सुखशीलता। यह सुखशीलता यदि तुम्हे घेर लेगी तो 'आत्म वचना होन म देर नही लगन की। मैं यथाशक्ति मोक्ष पुरुषार्थ करता हू', इस मान्यता के माहोल मे तुम घिरे रहोगे और महान् पुरुषार्थ कठिन प्रयास नही कर पाओग। इसी तरह, ऋद्धिगारव भी कभी कभार धनरनाक बन जाता है। उग्र धर्मपुरुषार्थ के द्वारा आत्मलब्धियाँ आत्मशक्तियाँ प्रगट करने की इच्छा भी कभी साधक का पछाड देती है। 'मैं दिव्य शक्तिओ स दुनिया को चौंका दू मेरा नाम इतिहास मे अमर हो जाय' ऐसी भौतिक इच्छाए तुम्हारे दिल को मायावी न बना द, इसके लिये तुम्ह हरपल जाग्रत रहना होगा।

निर्ग्रंथ वनने के लिये, कर्मो का नाश करना अनिवार्य है। पूर्ववद्ध कर्मो का नाश करना और नये कर्म वधे नही इसके लिये मन, वचन, शरीर के योगो को पवित्र रखना, विशुद्ध रखना अत्यत जरूरी है। तुम अपने मन को निरर्थक फालतू विकल्पो से मुक्त रखना। दिन मे कुछ क्षणो के लिये भी 'निर्विकल्प' विचार-रहित होने का प्रयत्न करते रहो। हो सके उतना कम वोलो। ज्यादा समय मौन रहने का अभ्यास करो। स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा और देशकथा को कभी करना ही मत। ऐसा मनोनिग्रह और वचनसयम तुम करोगे तव ही विकल्परहित वन सकोगे। तुम्हारी पाचो इन्द्रियो को दुन्यवी विषयो के साथ जुडने मत दो। इन्द्रियो को उसके प्रिय-अप्रिय विषयो मे खेलने मत दो। अधिक से अधिक 'कायसलीनता' को अपनाओ। शारीरिक स्थिरता प्राप्त करो।

तुम्हे 'ग्रन्थ' का निराकरण करके 'निर्ग्रन्थ' होना है। कर्म और कर्मवध के हेतुओ पर विजय पाना है। विजेता वनने की तमन्ना और उत्साह के साथ तुम युद्ध करते रहो, तुम्हारा विजय सुनिश्चित है।

कल्प्य-अकल्प्य

श्लोक : **यज्ज्ञानशीलतपसामुपग्रहं निग्रह च दोषाणाम्।**
कल्पयति निश्चये यत् तत् कल्प्यमकल्प्यमवशेषम् ॥१४३॥

अर्थ अत जो वस्तु ज्ञान, शील और तप को वढाये एव दोषो को दूर करे वह निश्चय से [और व्यवहार से] कल्पनीय है, वाकी का सव अकल्पनीय है।

विवेचन मुनि के लिये क्या कल्प्य और क्या अकल्प्य, इसकी काफी स्पष्ट भेद-रेखा ग्रन्थकार ने खीच दी है। मुनि के ज्ञान की, शील की, और तप की वृद्धि मे जो सहायक वने और दोषो का निग्रह करने मे सहायक हो, वह सव कल्प्य ! इसके अलावा सव कुछ अकल्प्य। मुनि को स्वय की विवेकवुद्धि से निर्णय करना है।

मुनि को धर्मग्रथो का अध्ययन-अनुशीलन करना होता है। तत्व-चिंतन करना होता है। धर्म का उपदेश देना होता है। अपनी यह ज्ञानोपासना निरतर अविकल होती रहे, इसके लिये आवश्यक आहार, वस्त्र, पात्र, उपाश्रय वगैरह साधनो की मुनि को पसदगी करनी होती है।

मुनि को पांच महाव्रतों का पालन करना होता है, रात्रिभोजन का त्याग करना होता है। अपनी आवश्यक धर्मक्रियाएं करनी होती हैं। ये व्रत नियम और क्रिया-अनुष्ठान मुनि अच्छे ढंग से कर सके इसके लिये आवश्यक आहार, वस्त्र, पात्र और उपाश्रय वगैरह की पसंदगी करनी होती है।

मुनि को उपवास-आयंबिल वगैरह बाह्य तप करना होता है, स्वाध्याय ध्यान आदि आभ्यंतर तप करना होता है। यह तपश्चर्या भली-भांति हो सके, इस दृष्टिकोण से मुनि को आहार, वस्त्र पात्र उपाश्रय वगैरह की पसंदगी करनी होती है। यह सब उसे मध्यस्थ भाव से करना होता है। पसंदगी में रसलालुपता, शरीर की सुखाकारिता या मान सन्मान की कामना माध्यम नहीं बनने चाहिए।

जिस तरह ज्ञान, शील और तप की वृद्धि का विचार करना है उसी तरह दोषों को दूर करने की दृष्टि भी कल्प्य अकल्प्य के निर्णय में महत्व की रहनी चाहिए। जब भूख की पीड़ा तुम्हारी ज्ञानोपासना को तितर-बितर कर देती हो, तुम्हारी आवश्यक धर्मक्रियाओं में विक्षेप पैदा करती हो, तुम्हारी बाह्य-आभ्यंतर तपश्चर्या में बाधक बनती हो तब तुम्हें आहार की उचित गवेषणा करनी ही चाहिए। इसी तरह तृषा प्यास तुम्हारी संयम-यात्रा में बाधक बनती हो, गर्मी और सर्दी तुम्हारे शुभ अध्यवसायों को अशुभ बना डालती हो तब तुम्हें आहार वस्त्र पात्र, उपाश्रय आदि की उत्सर्गदृष्टि में या आपवादिक दृष्टि में पसंदगी करनी ही चाहिए।

क्षुधा-तृषा और सर्दी-गर्मी वगैरह परिषहों को सहना, यह श्रमण जीवन की एक शर्त है। परंतु वे परिषह तब तक ही सहन करना है जब तक कि श्रमण की समता-समाधि बनी रहे, बिगड़े नहीं। आर्तध्यान या रौद्रध्यान आ जाय इस हद तक परिषह सहन नहीं करने के हैं। यानी कि क्षुधा तंग कर रही है और निर्दोष भिक्षा मिल नहीं रही है, प्यास एकदम सता रही है और निर्दोष पानी नहीं मिल रहा है तो वहां दोषयुक्त आहार-पानी लेकर भी क्षुधा-तृषा को शांत करना चाहिए। अलबत्ता, दोष कम से कम लग वैसी सावधानी रखनी चाहिए।

निवास करने के लिये दोषरहित उपाश्रय नहीं मिल रहा है,

आवास वगैर ज्ञानोपासना और संयमजीवन की आराधनाए हो नही सकती, ऐसे संयोगो मे अकल्प्य मकान भी कल्प्य वन जाता है। दोप-युक्त मकान मे भी निवास करना पडे। यह निर्णय अपवाद के तौर पर लिया कहा जायेगा।

वस्त्रो के विना शरीर संयम-आराधना मे साथ नही देता है, कडाके की सर्दी चमड़ी को चीर डालती है, मन ज्ञान-ध्यान मे लगता नही है, दूसरी ओर, उत्सर्गमार्ग से गवेपणा करने पर भी वस्त्र नही मिलते हैं, तो वहाँ अपवादमार्ग से भी मुनि वस्त्र प्राप्त करे।

सयमयात्रा मे अवरोधक दोपो को दूर करने की दृष्टि से रागद्वेप-रहित आत्मभाव से साधु आहार-उपधि और उपाश्रय ग्रहण करे, वह उसके लिये कल्प्य है। सयमआराधना मे वाधक हो, अवरोधक हो वैसे आहार-उपधि और उपाश्रय साधु ग्रहण न करे।

यह नही भूलना है कि राग, द्वेप, मोह और अज्ञान जैसे आतर दोपो का उन्मूलन करने लिये ही साधुजीवन है। इस बुनियादी वात को भूले वगैर, उन भीतरी दोपो का उन्मूलन करते आगे वढना है। सभी विधिनिपेध इन आंतर दोपो के उन्मूलन के लिये आयोजित हैं। विधिनिपेध निरपेक्ष नही होते, सापेक्ष होते है। व्यक्ति की अपेक्षा से विधि निपेध वनते है और निपेध विधि का रूप लेता है।

ग्रन्थकार का सारभूत कथनीय यह है कि जो कुछ भी ज्ञान-शील और तप मे सहायक वनता है और आंतर-वाह्य दोपो को दूर करता है वह साधु के लिये कल्प्य है। कभी उत्सर्गमार्ग से अकल्प्य हो वह अपवादमार्ग से कल्प्य हो जाता है। साधक आत्मा को उत्सर्ग का का और अपवाद का ज्ञान होना जरूरी होता है। ऐसा ज्ञान न हो तव तक वैसे ही ज्ञानी महापुरुपो की निश्रा मे रहना आवश्यक है।

श्लोक : यत्पुनरुपघातकरं सम्यक्त्व-ज्ञानशील-योगानाम् ।
तत्कल्प्यमप्यकल्प्यं प्रवचनकुत्साकरं यच्च ॥१४४॥

अर्थ . जो वस्तु सम्यग् दर्शन-ज्ञान-शील और सयम योगो को उपघातकारक होती है और जिनशासन की निन्दा करवाने वाली होती है वह वस्तु, कल्प्य होने पर भी अकल्प्य है।

विवेचन जो वस्तु साधु के सयम की विघातक न हो परन्तु जिनशासन का नुकसानकारक हो वह वस्तु अकल्प्य है।
जो वस्तु शास्त्रदृष्टि से कल्प्य हो पर साधु के सयम की विघातक हो वह वस्तु उस साधु के लिये अकल्प्य होगी।

जिन परिवारो मे माँस-भक्षण होता हो, मद्यपान होता हो, ऐसे परिवारो मे यदि साधु भिक्षा लेने जाय तो यद्यपि वह अभक्ष्य-अपेय पदार्थ न ले, अपने को उचित कल्प्य वस्तु ग्रहण करे, फिर भी समाज मे साधु की निंदा होगी। 'अहिंसा का व्रत रखने वाले ये श्रमण तो हीन कुल मे भिक्षा लेने के लिये जाते हैं।' अहिंसक और निर्व्यसनी समाज मे जैन शासन की निंदा होगी। इस कारण उस समाज म जैन-सस्कृति-श्रमण सस्था के प्रति आदर नही रहेगा। भद्र समाज के स्त्री-पुरुष श्रमण सघ मे प्रविष्ट होकर आत्म कल्याण की भावना-आराधना करने मे हिचकिचायेंगे। इसलिये ऐसे कुलो मे, ऐसे परिवारो मे साधु को भिक्षा हेतु नही जाना चाहिए। अलबत्ता, ऐसे कुलो मे नही जाने की कोई जिनाज्ञा नही है, परन्तु ऐसे कुलो मे जाने से जिन शासन की निंदा होती हो तो नही जाना चाहिए, ऐसी जिनाज्ञा तो है ही।

सयम को, महाव्रतो को क्षति न पहुँचती हो फिर भी यदि जिन-शासन की निंदा अवहेलना होने की सभावना नजर आती हो तो वसी प्रवृत्ति नही करनी चाहिए यह एक विवेकदृष्टि है। कभी कुछ ऐसा वसा मौका आ जाय तो सयम की क्षति को गौण करके भी जिनशासन की अवहेलना से बचना चाहिए, अर्थात् शासनमलिनता नही होने देना चाहिए। सयम से भी शासन कही ज्यादा महान् है। शासन है तो सयम है इसलिये जिनशासन की निंदा मे कभी भी निमित्त नही बनना चाहिए।

शास्त्रदृष्टि म दूध, घी, गुड, शक्कर, मिठाई वगरह पदार्थ लने का निषेध है, परन्तु साथ यह निषेध उनके लिये किया गया है कि जो साधु-साध्वी इन गरिष्ठ पदार्थों के आसेवन से विकृति का शिकार बनते हैं। ऐन्द्रिक उत्तेजना म फसते हैं। उन्हें ये पदार्थ नहीं लेने चाहिए। उनके लिये यह अकल्प्य बनता है। ऐन्द्रिक उत्तेजना और मानसिक विकार साधु के ज्ञान और चारित्र को तहस-नहस कर डालते हैं। इसलिये वसे उत्तेजक मादक पदार्थ अकल्प्य बनते हैं।

साधु और साध्वी को सदैव यह वात याद रखनी है कि उन्हे अपने सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र के विशुद्ध पालन के लिये भिक्षा ग्रहण करनी है। सयमधर्म की विभिन्न क्रियाए, ज्ञान–ध्यान–सेवा–भक्ति... इत्यादि भली भाँति कर सके इसलिए भिक्षा लेनी है। मन-वाणी-वर्तन के योगो को सयम की साधना मे प्रयुक्त रखने के लिये भिक्षा लेनी है।

भिक्षा ग्रहण करते समय साधु को सोचना है कि "ये पदार्थ मेरे मन को विकारी तो नही वनायेगे न ? मेरी धर्मक्रियाओ मे प्रमाद तो नही लायेगे न ?" साधु को तो निरतर मोक्षमार्ग की साधना मे गति-शील–प्रगतिशील रहना है। उस साधना की सफर मे सहायक तत्व के रूप मे ही उसे भिक्षा को महत्व देना है।

परद्रव्य–परपुद्गल के प्रति राग–द्वेष कम होते रहे,...यही तो मोक्षमार्ग की प्रगति का 'थर्मोमीटर' है। श्रमणजीवन की तमाम धर्म क्रियाए राग–द्वेष की वृत्ति-प्रवृत्तिओ को मद–मदतर वनाने के लिये ही हैं। 'मेरे राग–द्वेष कम हुए या नही ?' यह आतर निरीक्षण साधु को सतत करते रहना है। जिस तरह भिक्षा मे कल्प्य भी कभी अकल्प्य वन जाता है, इस वात को भली-भाति सौचकर वस्त्र और मकान के वारे मे भी कल्प्य कभी अकल्प्य वन सकता है, यह समझ लेना चहिए।

उदाहरण के तौर पर . साधु किसी गाव मे गये, वहा उपाश्रय नही है, जैनो के घर नही हैं। वहा एक दिन रुकना है, रहने के लिये मकान चाहिए। साधु मकान की गवेपणा करते हैं, दोपरहित मकान उपलब्ध भी हो जाता है। मकान का मालिक मकान मे रुकने की इजाजत भी दे देताहै। पर वह मकानमालिक कसाई है! मकान ऐसी गली मे आया हुआ है, जहा कि एक छोर पर वूचडखाना है। तो ऐसे मकान मे रहना अनुचित होगा, चाहे वह निर्दोप–सहज उपलब्ध क्यो न हो!

एक धर्मशाला है। सार्वजनिक धर्मशाला है, तो कई वावा–जोगी-सन्यासी आकर उसमे ठहरते हैं। साधुओ को ऐसे स्थान मे नही रहना चाहिए। चूकी ऐसे स्थान मे ठहरने से जो साधु गीतार्थ नही है, परिपक्व नही है, उन्हे शायद इन तापसो का आचरण–व्यवहार वगैरह भ्रमित भी कर दे। यद्यपि वह स्थान निर्दोप है, फिर भी सम्यग्दर्शन को क्षति पहुँचने की संभावना होने से वर्ज्य वन जाता है। ऐसा स्थान

ज्ञानोपासना के लिए भी उपयुक्त नही रहता है। अनेक मुसाफिरो की आवन-जावन से स्वाध्याय-ध्यान मे विशेष व्याघात पदा होता है।

कल्प्य भी अकल्प्य कब बनता है, कसे बनता है, इसके ये उदाहरण हैं। इस दृष्टिकोण से साधु का कल्प्य-अकल्प्य का भेद करना है। इस ढग से जीवन जीने वाला साधु निर्विघ्नतया मोक्षयात्रा मे आगे बढता रहता है।

कल्प्य-अकल्प्य-विवेक

श्लोक किंचिच्छुद्ध कल्प्यमकल्प्य स्यात्स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्।
पिण्ड शय्या वस्त्र पात्र वा भेषजाद्य वा ॥१४५॥

अर्थ भोजन, मकान वस्त्र पात्र या औषध वगरह कोई भी वस्तु शुद्ध कल्प्य होने पर भी अकल्प्य हो जाती है और अकल्प्य होने पर भी कल्प्य हो जाती है।

विवेचन ओ मुनिवर! चाहे क्यो न तुम गोचरी के बयालिश दोष टालकर घी-दूध-दही-शक्कर वगैरह गरिष्ठ आहार ला सकते हो, परन्तु तुम्हे वैसा आहार नही लेना चाहिए। उस समय ऐसा नही सोचना चाहिए कि "जिनाज्ञा तो निर्दोष आहार ग्रहण करने की ही है, मैं दोषरहित भिक्षा लाता हूँ फिर भी घी-दूध वगरह अकल्प्य क्यो?"

जिस तरह दोषयुक्त आहार मन के अध्यवसायो को अशुभ व अस्थिर बनाता है अत वह अकल्प्य है, उसी तरह घी-दूध-दही वगरह मादक पदार्थ भी मन के अध्यावसायो को अशुभ एव अस्थिर बनाते हैं, अत वे अकल्प्य हैं। जसे मन अशुभ और अस्थिर बना कि सयमजीवन सुरक्षित नही रहेगा। इन्द्रियाँ प्रशात नही रहेंगी, सयमयोगो की आराधना-साधना मे अप्रमत्तता-जागरूकता नही रहगी।

दूध-दही-घी-गुड शक्कर वगैरह को 'विकृति' [प्राकृत भाषा म 'विगई'] कहा गया है। उन पदार्थों का आहार करने वालो के तन-मन विकारों से भर जाते हैं। इसलिए उसे 'विकृति' की सज्ञा दी गयी है। वह विकृति वाला आहार चाहे बयालीस दोषो से मुक्त मिलता हो, फिर भी वह अकल्प्य है।

परन्तु वैद्य यदि बीमार साधु को दूध–दही या घी वगैरह लेने का कहे तो बीमार साधु के लिये वह कल्प्य है। बालमुनि हो या वयोवृद्ध मुनि हो तो उनके लिये भी कल्प्य है।

इसी तरह वस्त्र [रेशमी–पोलिस्टर वगैरह] शुद्ध मिलने पर भी साधु के लिये वह अकल्प्य होगा, लेकिन बीमारी इत्यादि कारणो मे साधु के लिये वे कल्प्य भी है। जिस उपाश्रय मे साधु–साध्वी का रहना-रुकना योग्य नही है, फिर भी किसी विशेष कारण से वे वहा रुके तो अनुचित नही है। जो पात्र [धातु वगैरह के] साधु के उपयोग मे नही आ सकते हैं, वे पात्र कारणविशेष से साधु उपयोग मे ले सकते हैं। जो दवाई साधु न ले सकते हो वही दवाई किसी प्रगाढ बीमारी के कारण साधु ले सकते है। इस तरह, अकल्प्य ऐसा भोजन, मकान, वस्त्र, पात्र और दवाई वगैरह भी विशेष सयोग या परिस्थिति मे कल्प्य बन सकते हैं। उन विशिष्ट सयोगो का निर्णय गीतार्थ मुनि कर सकते हैं।

कल्प्य और अकल्प्य का निर्णय, उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग के ज्ञाता वैसे प्रज्ञावत श्रमण ही कर सकते है। हरकोई साधु या साध्वी कल्प्य को अकल्प्य और अकल्प्य को कल्प्य नही मान सकते। उनके लिये तो गीतार्थ गुरुजनो के मार्गदर्शन मुताबिक कल्प्य–अकल्प्य का निर्णय ही बधनकर्ता होता है।

इस तरह कल्प्य और अकल्प्य के नियम एकातिक नही है। एक नियम सभी के लिये बधनकर्ता नही होता। एक के लिये कल्प्य हो वह दूसरे के लिये अकल्प्य भी हो सकता है। एक के लिये अकल्प्य हो वह दूसरे के लिये कल्प्य भी हो सकता है। इसलिये, कल्प्य–अकल्प्य के विषय में न तो किसी का अनुकरण करना चाहिए और न ही किसी की निंदा करनी चाहिए।

'फला साधु तो अकल्प्य भी लेते है...ऐसा तो नही लिया जा सकता, ऐसी जगह मे कैसे रहा जा सकता है...?'...वगैरह, ऐसी निंदा या टीका नही करनी चाहिए। कल्प्य और अकल्प्य के नियम त्रिकाला-बाधित तो है ही नही। रोग से पीडित साधु को सचित और मिश्र

[सचित–अचित] औषध लेने का भी कल्प्य कहा गया है। यह एक आपवादिक रास्ता है। उस अपवाद मार्ग का अवलंबन कब लेना, कैसे लेना, क्यूं लेना और कितना लेना इन सब बातों का यथायोग्य मार्गदर्शन आगमग्रंथों में समुचित ढंग से दिया गया है। अपवादमार्ग का अवलंबन भी शास्त्रीय दृष्टिकोण से ही लेना है। जिस तरह उत्सर्गमार्ग मोक्षमार्ग है उसी तरह अपवादमार्ग भी मोक्षमार्ग है। अकेला उत्सर्गमार्ग न तो मोक्षमार्ग है और न ही अकेला अपवादमार्ग मोक्षमार्ग है। दोनों एक दूसरे से सापेक्ष तौर पर मोक्षमार्ग बनते हैं। कल्प्य और अकल्प्य के विषय में अनेकांत दृष्टि देकर ग्रंथकार महर्षि ने कल्प्याकल्प्य के विषय में अनाग्रही बनने का उपदेश दिया।

हालांकि, इस विषय में विशेष स्पष्टता प्राप्त करने के लिये आगमग्रंथों का अध्ययन होना अनिवार्य है। आगमग्रंथों के अध्ययन के लिए सब आगमिक बातों को उनके मूल संदर्भ समझने की सूक्ष्म बुद्धि–पैनी प्रज्ञा होनी भी नितांत आवश्यक है। मोक्षमार्ग की आराधना में क्या सहायक बनता है और क्या बाधक बनता है, इसका निर्णय करने वाली सूक्ष्म बुद्धि हो, तब ही मनुष्य मोक्षमार्ग पर प्रगति कर सकता है, आगे बढ़ सकता है।

कल्प्य और अकल्प्य का विचार अनेक अपेक्षाओं से करने का निर्देश करते हुए ग्रंथकार अब वे अपेक्षाएं बता रहे हैं।

श्लोक देशं कालं पुरुषमवस्थामुपघातशुद्धिपरिणामान् ।
प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं नैकांतात् कल्प्यते कल्प्यम् ॥१४६॥

अर्थ देश, काल, पुरुष, अवस्था, उपघात और शुद्ध परिणाम की यथायोग्य आलोचना करके कल्प्य कल्प्य बनता है, एकांतिक तौर से कल्प्य कल्प्य नहीं है।

विवेचन भिक्षा-वस्त्र-पात्र और मकान वगैरह के कल्प्य-अकल्प्य के विषय में यहाँ ग्रंथकार महात्मा ने छह अपेक्षाओं से सोचने का कहा है। अपन एक एक अपेक्षा को लेकर सोचेंगे।

(१) **देश** —एक देश [प्रदेश] मे साधु के लिये एक अकल्प्य हो, वही वस्तु दूसरे देश मे साधु के लिये कल्प्य वन सकती है। अर्थात् साधु उस वस्तु को ग्रहण कर सकता है। वर्तमानकालीन श्रमण सघ मे इन अपेक्षाओ का विचार नही होता है, यानि कि गुजरात मे जो अकल्प्य गिना या माना जाता हो तो वगाल या विहार मे भी वह अकल्प्य ही माना जायेगा। पूर्वीय देशो मे जो अकल्प्य माना जाता हो पश्चिम या दक्षिण के देशो मे भी वह अकल्प्य माना जायेगा।

(२) **काल** —सुकाल मे जो वस्तु अकल्प्य गिनी जाती हो वह वस्तु दुष्काल मे कल्प्य वन सकती है। दुष्काल मे जव कल्प्य भोजन का अभाव हो तव अकल्प्य भी कल्प्य हो सकता है। वर्तमान काल में, ऐसे दुष्काल का सम्भव नही होता है। चू कि एक प्रदेश मे जव दुष्काल होता है तव दूसरे प्रदेश में से आननफानन अनाज का जथ्था पहूचा दिया जाता है। यातायात के तेज साघन उपलब्घ होने से किसी प्रान्त या राज्य की प्रजा को भूखमरे से प्रायः मरना नही पडता है।

(३) **पुरुष** —प्राचीन काल मे राजा, महाराजा, महामत्री, श्रेष्ठिजन जब ससार का त्याग करके श्रमण वनते थे, उनके लिये गीतार्थ गुरुजन, उनके शारीरिक क्षमता का विचार करके कल्प्य-अकल्प्य का निर्णय करते थे। दूसरे के लिये अकल्प्य वस्तु भो राजर्षि जैसे विशिष्ट पुरुषो के लिये कल्प्य वनती थी।

(४) **अवस्था** :—धर्मग्रन्थो में मुख्यतया तोन अवस्थाओ का विशेष तौर पर विचार किया गया है। १. बाल्यावस्था २. ग्लानावस्था ३ वृद्धावस्था।

आठ साल की उम्र में दीक्षा लेने वाले बाल साधुओ के लिये आपवादिक के रूप से अकल्प्य भी कल्प्य वन सकता है। युवान श्रमणो के लिये जो घी-दूध-दही वगैरह अकल्प्य गिना जाता है वह घी-दूध वगैरह बाल श्रमणो के लिये कल्प्य माना गया है।

आठ साल से सोलह साल तक के श्रमणो के लिये घी-दूध वगैरह की छूट दी गयी है। इसी तरह वस्त्र और पात्र के विषय में भी वाल श्रमणो के लिये कुछ अपवाद है।

ग्लान-बीमार साधु के लिये तो काफी कुछ अकल्प्य कल्प्य बन जाता है। वैद्य या डॉक्टरों की सूचना का अमल करना जरूरी होता है। वस्त्रपात्र और मकान के विषय में भी काफी अकल्प्य कल्प्य बन जाता है।

७० साल की उम्र होने पर वृद्धावस्था कही जाती है। ऐसे वृद्ध श्रमणों के लिये भी कितना कुछ अकल्प्य कल्प्य बन जाता है। उनके लिये ज्ञानी पुरुषों ने कई तरह के अपवाद दर्शाये हैं। वृद्ध श्रमणों की समता समाधि बनी रहे इस ढंग से उन्हें भिक्षा वस्त्र पात्र वगैरह का उपयोग करने का है।

(५) उपघात :—उपघात यानि सूक्ष्म जीवों से संसक्त मकान-वस्त्र वगैरह हो तो वह अकल्प्य बन जाता है। यानी कि मकान में खटमल, मच्छर वगैरह सूक्ष्म जीव पैदा हो गये हों, और दूसरा मकान उपलब्ध न हो तो उस मकान में भी रहे, पर यतनापूर्वक-उपयोग पूर्वक। संघ हुए [जुड़े हुए] वस्त्र पात्र न मिलने की अवस्था में अकल्प्य भी कल्प्य हो जाता है।

(६) शुद्ध परिणाम :—अकल्प्य को भी ग्रहण करते समय चित्त के अध्यवसाय विशुद्ध चाहिए, निष्कपट चाहिए। निष्कपट हृदय में आपवादिक तौर पर अकल्प्य भी ग्रहण किया जा सकता है। सचमुच में ऐसा कोई विशेष कारण न हो, फिर भी कपट से, छल में ऐसा कुछ कारण खड़ा करके यदि अकल्प्य ग्रहण किया जाये तो वह दोषित बनता है। इसलिये किसी भी अपवाद का आलंबन लेने से पहले हृदय निष्कपट-सरल होना चाहिए।

देश-काल वगैरह की अपेक्षाओं का विचार शास्त्र-सम्मत होना चाहिए। जब जब ऐसी अपेक्षाओं से अकल्प्य ग्रहण करना पड़े तब अबूझ-अज्ञानी लोग और अगीतार्थ साधु अधम न पा जाय इसकी सावधानी बरतनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि अपवाद का अवलंबन ज्ञानी ऐसे गीतार्थ पुरुष ही ले सकते हैं।

साधु-साध्वी को स्वयं गीतार्थ बनकर जीना है या फिर गीतार्थ की निश्रा में जीना है। जो न तो स्वयं गीतार्थ है और नहीं गीतार्थ की निश्रा में रहते हैं, वे कभी मोक्षमार्ग के आराधक नहीं बन पाते।

मोक्षमार्ग को आराधना में उत्सर्ग–अपवाद और निश्चय-व्यवहार के ज्ञान की अनिवार्य रूप से आवश्यकता होती है ।

कल्प्य और अकल्प्य का विवि निरपेक्ष नही है, वरन् सापेक्ष है, यह वात ग्रन्थकार ने और टीकाकार ने एकदम खोल कर वता दी है। प्रत्येक साधु-साध्वी को इन वातो का चिन्तन-मनन करके अपने जीवन मार्ग को प्रशस्त करना चाहिए ।

विषयराग तोड़ दो

श्लोक तच्चिन्त्यं तद्भाष्य तत्कार्यं भवति सर्वथा यतिना ।
नात्मपरोभयवाधकमिह यत्परतश्च सर्वाद्धम् ।।१४७।।

अर्थ : मुनि को वही सोचना चाहिए–वही वोलना चाहिए और वही करना चाहिए की जो इस लोक मे और परलोक मे, सर्वदा अपने को एव अन्य को, उभय को दुःखद न हो।

विवेचन · यदि तुम मुनिराज हो तो तुम्हे सतत तुम्हारे विचारो का निरीक्षण करना चाहिए। यह सावधानी वरतनी चाहिए कि प्रिय-सयोग और प्रियवियोग के विचार तुम्हारे दिलोदिमाग का कब्जा न ले ले । अप्रिय सयोग और अप्रिय वियोग के विचार तुम्हारे मन को कही अशांत न वना डाले ।

तुम्हे जो व्यक्ति या वस्तु प्रिय होगी, इष्ट होगी, उसके समागम एव प्राप्ति की चाहना होगी ही । उसे प्राप्त करने के लिये तुम हमेशा सोचते रहोगे। उसके प्राप्त हो जाने पर वो चली न जाय...उसका वियोग न हो इसके लिए हमेशा चितातुर वने रहोगे। इसी तरह तुम्हे जो अप्रिय है, अनिष्ट है और तुम्हे वह घेरे हुए है, तो तुम उससे छूटकारा पाने का सोचोगे ! छूटने के वाद वापस वह अप्रिय तुम्हे न आ घेरे इसकी चिंता करते रहोगे। इस तरह प्रिय-अप्रिय के सयोग–वियोग के विचारो से ही तुम्हारा मन इतना तो चचल, अस्थिर और विह्वल हो उठेगा कि तुम तुम्हारे सयम–योगो में स्थिरता नही पा सकोगे । अनन्त अनन्त पापकर्मो के वधन से तुम्हारी पवित्र आत्मा वध जायेगी। पाप-कर्मो का परिणाम तो तुम जानते ही हो न ? इसलिए मन मे ऐसा कोई अशुभ या अशुद्ध विचार प्रविष्ट न हो जाय, उसकी सतर्कता रखना,

इसके लिये सतत जागृत रहना। यदि जागति न रही तो उन प्रियाप्रिय के विचारो मे हिंसा-झूठ-चोरी-अब्रह्म, परिग्रह के विचार तुम्हारे मन पर अधिकार जमा बैठेंगे। तुम महाव्रतो के धारक हो ! यदि हिंसा वगरह के विचारा का ताडवनृत्य तुम्हारे मन मे चलता रहा तो तुम्हारे महाव्रत नष्ट हो जायेंगे। तुम्हारा जीवन नि सार हो जायेगा। तुम ससार मे भटकते रहोग।

तुम्ह धमध्यान मे अपने मन को जोडे रखना चाहिए। इसके लिये जिनाज्ञाओ का चिंतन करो। कमवध के हेतुओ के बारे मे सोचो-समझो, कर्मों के परिणामो का विचार करो। समग्र चौदह राजलोक के स्वरूप का चितन करो। पचपरमेष्ठि भगवता की गुणसमद्धि के विचार करो। जीवो के अनन्तकालीन असीम भवभ्रमण के बारे मे सोचो। कर्मों का पराधीन जीवात्मा की दुर्गतिआ मे होती घोर कदथना का विचार करो।

जिस तरह विचारो को पवित्र रखने के हैं उसी तरह वाणी को भी पवित्र रखना है। तुम जितने ज्यादा मौन रह सको उतना ज्यादा आध्यात्मिक विकास तुम प्राप्त कर सकोगे। एकदम कम बोलो। बोलने मे भी जागत रहना होगा। कभी भी जूठ मत बोलना। अहितकर नही बोलना। अप्रिय मत बोलना। तुम जानते हो न कि मनुष्य गुस्से मे कभी असत्य बोल उठता है ? कभी लोभ-लालच में झुठ का सहारा ले लेता है ? कभी भय-डर के मारे असत्य बोल देता है ? इसलिये क्रोध-लोभ-भय और हास्य मे खिच मत जाना। हमी हसी मे झूठ न बोला जाये इसकी सावधानी रखना।

ऐसा और इतना ही बोलना कि जिससे तुम किसी बे-बुलायी आफत का शिकार न बन बठो। पापकर्मों के अधेरे मे न फस जाये तुम्हारी आत्मा, इतनी सतर्कता तुम्हारे जीवन म होना अत्यन्त आवश्यक है।

तुम्हार शरीर और तुम्हारी पाचो इन्द्रियो को भी तुम्ह सयम मे सयमित रखनी है। तुम्ह खयाल होना ही चाहिए कि प्रमाद मे प्रवृत्त इन्द्रिया और काया, कैसे कैसे पापकम बधवाती है। तुम्हारी यह समज एकदम स्पष्ट और साफ होनी चाहिए कि अशुभ और पापमय प्रवृत्तिअ मे प्रवृत्त इन्द्रियाँ कितना भयानक अनर्थ कर डालती हैं।

मात्र पारलौकिक दृष्टिकोण से ही नही अपितु वर्तमान जीवन की दृष्टि से भी तुम्हे सोचना है । मन मे आर्तध्यान रौद्रध्यान करने से, असत्य अहितकारी और अप्रिय वाणी बोलने से एवं शरीर से असयम की प्रवृत्ति करने से वर्तमान जीवन भी कितना अशातिभरा और अनर्थ-कारी बन जाता है, यह बात भलीभाँति-साफ साफ तौर पर समज लेनी चाहिए ।

अनेक प्रकार के मानसिक रोग आर्तरौद्र विचारो के परिणाम है, यह बात समज लेना । अनेकविध पारिवारिक और सामाजिक क्लेश, असत्य अभद्र और कर्कश वाणी के फलस्वरूप पैदा होते है, यह बात तुम गहराई मे जाकर सोचना । अनेक तरह के शारीरिक रोग और समस्याए मनुष्य की असयमित काया की प्रवृत्तिओं का फल है, इस बात पर गौर करना ।

तुम मुनिराज बने हो । ससार के बधनो को तोड़कर शुद्ध-बुद्ध मुक्त बनने के लिये तुमने सयम की यात्रा को स्वीकारा है । निर्मम और निस्पृह बनकर तुम्हे जीवनयात्रा करनी है । यदि तुम अपने मन-वाणी-शरीर को शुभ प्रवृत्तियो मे जोड़े रखोगे, अशुभ प्रवृत्तियो से दूर रखोगे तो तुम्हारा सयम जीवन सफल बन जायेगा । तुम्हे आत्मानन्द की अनुभूति होगी । तुम अपूर्व चित्तप्रसन्नता मे डूबे रहोगे ।

सही पुरुषार्थ

श्लोक **सर्वार्थेषुइन्द्रियसगतेषु वैराग्यमार्गविघ्नेषु ।**
परिसंख्यानं कार्यं कार्यं परमिच्छता नियतम् ।।१४८।।

अर्थ • उत्कृष्ट और शाश्वत् कार्य मोक्ष के अभिलाषी मुनि को वैराग्य के रास्ते मे विघ्न करनेवाले ऐकिन्द्रक विषयो मे सर्वदा प्रत्याख्यान करना चाहिए ।

विवेचन : इस मानव जीवन मे तुम कौनसा कार्य सिद्ध करना चाहते हो ? अनिश्चित स्थिति मे मत रहो । निर्णय कर लो । गभीरता से सोचकर निर्णय करो । उस निर्णीत कार्य को पार करने के लिए कमर कस लो ।

गलती से भी धनाढ्य-श्रीमत बनने का निर्णय मत करना। अर्थ-पुरुषार्थ काफी विषमताओं से भरापूरा है। पैसे कमाने में तन मन की बर्बादी हो जाती है। कमाये हुए धन की सुरक्षा मे मन अनेक पाप-विचारों से मलिन हो जाता है। हिंसा-झूठ, चोरी वगैरह पापों के आचरण से अनेक भय और संताप के घेरे मे जीवात्मा घिर जाता है। प्राप्त किया हुआ धन हमेशा के लिये टिकता नहीं है। जब चला जाता है वह धन, तब जीवात्मा दु खी बन जाता है। अनेक अनर्थ हो जाते है। चाहे क्यो न देवों का ऐश्वर्य हो, फिर भी वह विनाशी है और क्लेश पैदा करने वाला है।

गृहस्थ चाहे अपनी आजीविका के लिये पुरुषार्थ करे, पर उसका लक्ष्य अर्थपुरुषार्थ न होकर केवल 'मोक्ष प्राप्ति' का ही होना चाहिए। यदि जीवात्मा धन-संपत्ति के व्यामोह मे फसा तो वह अपने तन-मन को बर्बाद कर डालेगा! अपने परलोक को अंधकारमय बना डालेगा। मोक्ष के रास्ते से असंख्य योजन दूर जा गिरेगा।

यदि मनुष्य काम-पुरुषार्थ के प्रति आकर्षित हुआ और पांच इन्द्रियों के विषय सुखों का उपभोग ही उसका लक्ष्य हो गया तो वह दु खी दु खी हो जायगा। वैषयिक सुख वास्तव मे तो दु खरूप ही है। उसका परिणाम भी दु ख है! क्षणिक विनाशी सुख के बदले मे दीर्घ-सुदीर्घ कालीन दु खों को न्यौता देने की गल्ती नहीं करनी चाहिए। अनिवार्य रूप से वैषयिक सुखों को भोगना पडे वह क्षम्य है वैषयिक सुख जीवन का लक्ष्य नहीं बनना चाहिए।

अर्थपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ मानव जीवन के आदर्श नहीं बनने चाहिए। उनका स्वीकार मात्र साधन के तौर पर ही करना है और वह भी ममता बगैर, लगाव बगैर! अर्थ और काम की उपादेयता कभी भी स्वीकृत नहीं बननी चाहिए! 'अर्थ और काम त्याज्य है' यह भावना दिल मे अक्षुण्ण एवं जीवंत रहनी चाहिए।

तीसरा पुरुषार्थ है धर्मपुरुषार्थ। धर्म के दो प्रकार हैं। एक प्रकार है अभ्युदयसाधक धर्म का, दूसरा प्रकार है नि श्रेयससाधक धर्म का। जिस धर्म के आराधन से भौतिक वैषयिक सुखों की प्राप्ति होती हो

वह धर्म भी एकातिक तौर पर उपादेय नही है। जिस धर्म के आचरण से पुण्यकर्म बधते हो और उन पुण्यकर्मों के उदय से वैषयिक सुखो की प्राप्ति होती हो, वह धर्म आत्मस्वरूप की प्राप्ति मे बाधक बनता है। चूकि प्राप्त हुए वैषयिक सुखो मे जीवात्मा प्राय मोहमूढ बन जाता है और तीव्र राग-द्वेष का शिकार बनता हुआ दुर्गति मे चला जाता है।

धर्म का दूसरा प्रकार है नि श्रेयससाधक धर्म! मोक्षसाधक धर्म। इस मोक्ष-साधक धर्म को मोक्षपुरुषार्थ कहा गया है। जिस धर्म की आराधना-साधना से आत्मा पर लगे कर्म नष्ट हो और आत्मा के ज्ञानादि गुणो का आविर्भाव हो, उस धर्म की आराधना एकातरूप से उपादेय है। तुम्हारा निर्णय मोक्ष-पुरुषार्थ कर लेने का होना चाहिए। 'इस मानव जीवन मे मुझे मोक्षपुरुषार्थ करना है, आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना है', ऐसा निर्णय करना होगा।

इस मोक्षपुरुषार्थ मे अवरोधक है पाच इन्द्रियो के विषय। शब्द रूप-रस-गध और स्पर्श। मोक्षप्राप्ति का राजमार्ग है वैराग्य। पाचो इन्द्रियो के तमाम विषयो के प्रति वैराग्य! विषय-विराग को अखड रखने वाला जीवात्मा ही मोक्ष को पा सकता है। विषय-विराग को अखड रखने के लिये उन शब्द-रूप-रस-गध और स्पर्श के विषयो की नि सारता जाननी चाहिए और उन विषयो का त्याग करना चाहिए। किसी एकाध विषय के प्रति भी राग न हो जाय, ममता न बध जाय इसके लिये जागृत रहना चाहिए।

विषय-राग मोक्ष मार्ग मे खटकने वाला बडे से बडा विघ्न है। उस विघ्न से बचने के लिए साधक को अपना लक्ष्य भूलना नही चाहिए। विषयो की मायाजाल को जानकर-समझकर उसमे फसना नही चाहिए। इसके लिये निम्न चितन करना चाहिए।

१ पाच इन्द्रियो के विषय नि सार है।

२ विषयो का उपभोग तालपुट जहर सा भयानक है।

३ विषयलपटता जीवात्मा को दुर्गति मे ले जाती है।

४ विषयो की वासना से मुक्त हुआ मन मोक्षपुरुषार्थ मे सहायक बनता है।

५ विषयो का प्रतिज्ञापूर्वक किया हुआ त्याग विषयासक्ति को नाबूद करता है।

यदि श्रेष्ठ-शाश्वत् सुख की तीव्र चाहना है तो विषयो का मन-वचन काया से त्याग करो।

बारह भावना

श्लोक भावयितव्यमनित्यत्वमशरणत्व तथक्ता यत्वे ।
अशुचित्व ससार कर्माश्रव-सवरविधिश्च ॥१४६॥
निजरण लोकविस्तर-धमस्वाख्याततत्वचिन्ताश्च ।
बोधे सुदुलभत्व च भावना द्वादश विशुद्धा ॥१५०॥

अर्थ अनित्यता, अशरणता एकत्व अन्यत्व अशुचिता ससार आश्रव सवर निजरा, लोकविस्तार स्वाख्यातधर्म का चिंतन और बोधि-दुर्लभता य बारह विशुद्ध भावनाए ह उसकी सतत अनुप्रेक्षा करनी चाहिए।

विवेचन एक जिज्ञासु न सवाल किया कि 'हम तो हमेशा पसे, स्त्री, स्नेही-स्वजन, शरीर इन सब के ही विचार आते ह। ये विचार नही करने चाहिए, यह जानते है,-मानते है, पर इन विचारो से छुटकारा नही मिलता है और अच्छे विचार कसे करना, यह समझ मे नही आता।

अशुभ विचारो से मन को मुक्त रखने के लिये 'मुझे बहुत खराब विचार आते हैं, ऐसा रोने मात्र से मन अशुभ विचारो से मुक्त नही होगा। इसके लिए तो शुभ-पवित्र विचार करने का अभ्यास करना हागा। यहा ग्रथकार ऐसे बारह प्रकार के शुभ विचार बता रहे हैं। यह बताकर कहते हैं कि 'तुम सतत ये विचार यह चिंतन-मनन करते रहना।

इन बारह भावनाओ का सक्षेप मे विचार करने के बाद एक एक भावना पर विस्तार से चिंतन करेंगे।

अनित्यता 'इस ससार मे सब स्थान और सब भाव अनित्य ह, कुछ भी नित्य नही है, कुछ भी शाश्वत् नही है', इस विषय पर चिंतन करना।

अशरणता 'जन्म—जरा और मृत्यु के बधन मे जकडे गये हुए जीव को जन्मादि से बचाने वाला इस ससार मे कोई नही है, जीव अशरण है', यह सोचने का।

एकत्व 'मै अकेला ही हूँ। अकेला ही पैदा होता हूँ— सुख-दु ख का अनुभव भी अकेला ही करता हूँ और अकेला ही मरता हूँ,' इस विपय पर चितन करने का।

अन्यत्व 'मै स्वजनो से, परिजनो से, वैभव सपत्ति से, और शरीर से जुदा हूँ— इसमे कुछ भी मेरा नही है।' इस विचार की जुगाली करने की।

अशुचिता यह शरीर बीभत्स पदार्थो से भरा हुआ है। शरीर मे सब कुछ अपवित्र और गदगी भरी है,' इस ढग से शरीर की अपवित्रता के बारे मे सोचना।

संसार 'इस ससार के सबध परिवर्तनशील है— मा मर कर बेटी होती है...बहन होती है...पत्नि होती है' ससार की परिवर्तनशीलता सोचने की।

आश्रव · 'मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग और प्रमाद के दरवाजो मे से कर्म आत्मा मे बह आते है, आत्मा कर्मो से बधती है', यह सोचने का।

संवर 'इन आश्रव के द्वारो को सम्यक्त्व, विरति, क्षमादिधर्म, अप्रमाद आदि से बद कर दू तो आत्मा मे कर्म आते अटक जायेगे।' इस तरह आश्रव के द्वार बद करने का सोचना।

निर्जरा 'आश्रव—द्वारो को बद करने के बाद, आत्मा मे रहे हुए कर्मो का नाश करने के लिये तपश्चर्या करु', कर्मो को नष्ट करने के लिये त्याग—तप—ध्यान के विचार करना।

लोकविस्तार · चौदह राजलोक का चितन करना। उर्ध्वलोक, अधोलोक, और मध्यलोक मे अपने जीव ने कितने—कितने कैसे—कैसे जन्म—मरण किये हैं, यह सोचना।

धर्मचिंतन भव्य जीवो के उपकार के लिए सर्वज्ञ परमात्मा ने कितना निर्दोष व परिपूर्ण धर्म बताया है, उसका हृदयस्पर्शी चिंतन करने का।

बोधिदुर्लभता मनुष्य जन्म,कर्मभूमि, आर्यदेश, उच्चकुल पाचो इन्द्रियो की पूर्णता यह सब मिलने पर भी सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति कितनी दुर्लभ है, यह विचारने का।

शुभ पवित्र विचार करने के ये बारह केन्द्रबिन्दु है। किसी भी एक केन्द्रबिन्दु को लक्ष्य करके तुम विचार करना चालू करो। तुम्हारा मन पवित्र बनेगा। अशुभ कर्मों के बंध से तुम बच सकोगे। तुम्हारा आत्मभाव निर्मल बनेगा। ये बारह प्रकार के विचार तुम्हे रोजाना करने चाहिए।

ये विचार तीव्र राग-द्वेष की परिणति को तोड डालेगे। इन विचारो को करने वाला अल्पज्ञानी आत्मा भी परम सुख को पाता है, जबकि इन भावनाओ की उपेक्षा करने वाला बडा शास्त्रज्ञानी भी घोर अशांति का अनुभव करता है। इन भावनाओ के बगैर घोर तपश्चर्या करने वाला भी आतर प्रसन्नता को नही पा सकता। इन भावनाओ का स्वीकार नही करने वाला बडा दानेश्वरी भी आतरव्यथा से मुक्त नही हो सकता। जो व्यक्ति इन भावनाओ से अपने आपको भावित नही करता है वह ब्रह्मचारी भी आतर-सुख को नही पा सकता। इन भावनाओ को जो मुनि अपने श्वासो-श्वास मे ताने-बाने की तरह बुन नही लेता वह मुनि सयमक्रियाओ के करने पर भी आत्मभाव मे स्थिरता प्राप्त नही कर सकता।

ग्रन्थकार महर्षि अब एक-एक कारिका के द्वारा एक एक भावना का स्पष्ट करेगे। अपन भी एक-एक कारिका पर काफी विस्तार से परिशीलन करेंगे।

श्लोक : **इष्टजन-संप्रयोगर्द्धि-विषयसुख–सम्पदस्तथारोग्यम् ।**
देहश्च यौवनं जीवितञ्च सर्वाण्यनित्यानि ।।१५१।।

अर्थ : इष्टजनो का संयोग, ऋद्धि, विषयसुख, सम्पत्ति, आरोग्य, शरीर, यौवन और जीवन यह सब अनित्य हैं ।

विवेचन मन की ऐसी आदत होती है कि उसे जो अनित्य लगता है उस पर उसे आसक्ति नही होती है, लगाव नही होता है जो अनित्य है, जो क्षणिक है, जो विनाशी है उसे उसी रूप मे अनित्य-क्षणिक और विनाशी समज लिया जाय। उस समज को आत्मसात् कर लिया जाय तो ही आसक्ति के पाश मे से मुक्ति मिल सकती है।

इन्द्रियगोचर वाह्य विश्व अनित्य है, अस्थिर है 'सर्व अनित्यम्' सब कुछ अनित्य ! इसलिये वाह्य विश्व के पदार्थों के प्रति अनित्यता का विचार सुदृढ करना चाहिए। ग्रन्थकार, उस वाह्य विश्व के मुख्य आठ विभाग वताकर उन आठो विभागों के प्रति अनित्यता का भाव वनाये रखने की प्रेरणा दे रहे है।

१. **इष्टजन-संयोग** जव किसी प्रिय मनचाही व्यक्ति का मिलन होता है, परस्पर स्नेह वधता है, अनुराग के ताने-वाने जुडते है तव जीवात्मा यो मान लेता है कि 'हमारा यह सवध तो तव तक अखड-अभग रहेगा जव तक सूरज-चाँद नीलगगन मे चमकते रहेगे' ! पर कच्चे धागे की भाति जव सारे सवध विखर जाते है टूट जाते हैं तव जीवात्मा का धैर्य भी टूट जाता है और फिर आँखो मे से आँसू के वादल वरसने लगते हैं। ऐसी करुणता पैदा न हो इसके लिये 'सयोगा वियोगान्ता' का चिन्तन करना चाहिए। 'सारे सजोग वियोग मे वदलने वाले है' इस सत्य को वार वार जुगाडना चाहिए।

२. **ऋद्धि** · जव जव सपत्ति का विचार आये. वैभव की ओर नजर जाये तव तव सोचना कि 'यह ऋद्धि, यह सपत्ति मेरे पास हमेशा रहने वाली नही है। किसी भी के पास यह हमेशा रहती नही है, इस

फिर भी यदि तुम यौवन की देहरी पर खडे खडे ही यौवन की ओर अनित्यता की नजर से देखोगे तो जव यौवन के रग उड जायेगे तव तुम्हे अशाति परेशान नही करेगी । तुम उद्विग्न नही वनोगे ।

८ **जीवन** : न जाने कौनसी क्षण की हवा का झोका इस जीवन के दीये को वुझा जाये...! जीवन के व्यामोह से मुक्त वने रहने के लिये, जीवन के प्रति अनासक्त वनने के लिये 'यह जीवन क्षणभगुर है...अनित्य है ..' इस भावना से भावित वने रहो...मौत की घडी फिर तुम्हे वेचैन नही वना सकती...! तुम्हारी समता–प्रसन्नता मृत्यु के समय भी अखड और अविरत रह सकेगी ।

इन आठ तत्त्वो के प्रति अनित्यता के रग से रगा मन रागी और द्वेषी नही वनेगा । ऐसा मन परमात्म–ध्यान और तत्वचितन मे रम-माण–रसलीन हो सकता है ।

अशरण भावना

श्लोक **जन्मजरामरणभयैरभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते ।**
जिनवरवचनादन्यत्र नास्ति शरण क्वचिल्लोके ॥१५२॥

अर्थ जन्म-जरा और मृत्यु के भय से अभिभूत एव रोग व वेदना से आक्रात लोक मे (जीवसृष्टि मे) तीर्थकर के वचन के अलावा और कोई शरण नही है ।

विवेचन · समग्र जीवसृष्टि भयाक्रान्त है किसी न किसी भय से । फिर वो भय व्यक्त होया अव्यक्त हो, जीवात्मा व्याकुल है...असख्य प्रकार के रोग औरविविध शारीरिक मानसिक वेदनाओ से जीवात्मा सदैव व्यथित है–उद्विग्न है ।

ऐसी जीवसृष्टि मे तुम शरण लेने के लिये जाओगे कहाँ ? कहाँ और किसका सहारा तुम ढूढोगे ? स्वय दुःखी...खुद ही वेदनाग्रसित जीवात्मा औरो को शरण दे तो भी कैसे ? दूसरो का सहारा वो वने भी कैसे ? स्वय अशरण मनुष्य...स्वय वेसहारा व्यक्ति औरो का कैसे सहारा वन पायेगा ? कैसे वो दूसरो को शरण देगा ? वो नही दे सकता ।

ससार में किस जीवात्मा के पास सपूण सुख है ? पूणज्ञानी महापुरुषो ने ससार का स्वरूपदर्शन बिल्कुल वास्तविक ही करवाया है। 'ससार दु खरूप है !' यदि तुम दु ख स घबराकर, दु ख से डरकर, ससार के किसी भी व्यक्ति के पास जाओगे, तुम्हे वो शरण नहीं देगा। तुम्हे वो दु खो के पाश से बचा नहीं सकेगा।

जिन्दगी की शुरुआत दु खरूप है जिन्दगी का अत भी दु खरूप है और पूरे जीवन का सिलसिला दु ख से घिरा हुआ है। गर्भावस्था और जन्मावस्था के दु ख कितने भयावह होते हैं यह चाहे आज यौवन के मद मे तुम भूल जाओ, पर वो दु ख असहनीय और असाधारण होते हैं, यह निरी वास्तविकता है। जीवन तो अनेक शारीरिक मानसिक पारिवारिक दु खो मे भरा हुआ ही है। न जाने कितने रोग हो जाने की सभावनामे, अनक तरह के उपद्रव होने की शक्यता से व असख्य प्रकार की मानसिक वेदनाओ से मानवो का पूरा जीवन कसा तहस नहस हो जाता है यह यदि तुम द्रष्टा बनकर देखोगे तो ही तुम्हे जीवन की अगण्णना समज मे आयगी।

मौत या दु ख मानवो के लिये निश्चित ही है ! जिसे जिन्दगी पर मोह है, जिसे आत्मा से भिन्न पदार्थो के प्रति आसक्ति है, उसे मौत का डर सतायेगा ही ! मौत से बचन के लिये वो चाहे जितने उपाय करे, उसे कोई बचा नहीं सकता। विद्याए, मत्र, औषधि-दवाइया उसे रक्षण नहीं दे सकते ! वैद्य, देव या दानव भी उसे बचा नहीं सकते।

इन सभी दु खो से तुम्हे बचना है ? दु खो से छूटकारा पाना है ? तो वीतराग–सर्वज्ञ परमात्मा की शरणागति अविलम्ब स्वीकार कर लो। सदा वीतराग की वाणी को जी भरकर सुनो तुम्हारा मन दु खो से मुक्त बन जायेगा। वीतराग परमात्मा के वचन यानी अमृत ! सब दु खो का नाश करने वाला अमृत ! वीतराग की वाणी यानी रसायन ! आत्मभाव को पुष्ट करने वाला रसायन ! वीतराग की ज्ञानगगा यानी ऐश्वर्य ! आत्मा की गरीबी दूर करने वाला ऐश्वर्य !

शास्त्रज्ञानी बनो। आत्मज्ञानी बनो। आत्मज्ञान के उजाले मे निर्वाण के मार्ग पर आगे बढते रहो। यह ज्ञान ही तुम्हे अदीन

श्रौर निर्भय वना पायेगा। उसे ही ज्ञान कहते है जो ज्ञानी को निर्भय श्रौर अदीन वनाये। चाहे फिर क्यो न उस ज्ञानी के शरीर मे दाह-ज्वर की पीडा पैदा हो जाती! ज्ञानी को पीडा की कोई सवेदना परेशान नही करेगी! भले उस ज्ञानी को उसके स्वजन छोड जाय... उसके भीतर स्वजन-वियोग की व्याकुलता पैदा नही हो सकेगी। उस ज्ञानी का कोई चाहे अपमान-अवमान भी करे, ज्ञानी के मन में कोई सक्लेश नही जन्मेगा।

ऐसे ज्ञानी वनने के लिये अन्त करण से अरिहत परमात्मा की शरण स्वीकारे। सभी कर्मो से मुक्त वने हुए सिद्ध भगवंतो की शरण ले। साधनालीन साधु पुरुपो की शरणागति स्वीकारे और सर्वज्ञ परमात्मा के द्वारा दर्शित मोक्षमार्ग का श्रनुसरण करे।

ससार की माया–ममता के वधन तोडे! 'मुझे ससार में किसी की भी शरण नही चाहिए' ऐसा श्रडिग निर्णय करे। तुम अपने श्रापको दीन–हीन मत मानो। कोई तुम्हे शरण देने की लुभावनी वाते करे तो उसमे फस मत जाना। 'मुझे तुम किस तरह शरण दे पाश्रोगे? जवकि तुम स्वय अशरण हो...! तुम खुद असुरक्षित हो मुझे क्या सुरक्षा दे पाओगे? मुझे तुम्हारी शरण नही चाहिए। क्या तुम मुझे जन्म और मृत्यु के दु ख से वचा सकते हो? क्या तुम मेरे शरीर को रोग-मुक्त रख सकोगे? क्या तुम मेरे मन को चिन्ता से दूर रख सकोगे? नही, कभी नही...इसलिये श्रव तो मेरा दृढ निर्णय है कि...मैं जिनवचन के अलावा किसी की भी शरण लू गा नही!'

जिनवचन तुम्हे अवश्य शरण देगा, परन्तु इसके लिये तुम्हे उन जिनवचनो को यथार्थरूप मे ग्रहण करने होगे। चितन–मनन करना होगा उस पर! दिनो तक...महीनो तक...अरे...वरसो के वरस वीताने होगे चितन मनन श्रौर श्रनुप्रेक्षा मे! तो, वे जिनवचन तुम्हारे श्रात्मभाव को निर्भयता, निश्चितता और प्रसन्नता दे पायेगे। हा वे देंगे जरूर, यदि तुम उन्हे भली भाति स्वीकारोगे तो!

एकत्व भावना

श्लोक एकस्य जन्ममरणे गतयश्च शुभाशुभा भवावर्ते ।
तस्मादाकालिकहितमेकेनैवात्मन: कार्यम् ।।१५३।।

अर्थ संसारसागर के आवर्त में जीव अकेला (असहाय) जन्म लेता है, अकेला मरता है। अकेला शुभ अशुभ गति में जाता है। अतः जीवात्मा को अकेले ही अपना स्थायी हित करना चाहिए।

विवेचन मैं अकेला हूँ! पैदा होता हूँ अकेला और मरता भी अकेला ही हूँ! नरक में जाता हूँ तो भी अकेला और स्वर्ग की सैर करता हूँ तो भी मैं अकेला ही! मनुष्यगति में जन्म लेता हूँ तो भी मैं खुद अकेला और पशुयोनी में जाऊं तो भी मैं स्वयं ही!

जो अनंत-अनंत समय बीत गया इस संसार में परिभ्रमण करते हुए, उस अनंत काल में जो कोई सुख-दुःख मैंने सहे वो भी अकेले ही। मैं यानी आत्मा! मैं अकेला हूँ, असहाय हूँ यह वास्तविकता है और मुझे इस बात को सरसरी तौर पर स्वीकार कर लेना चाहिए। इस वास्तविकता को मैंने स्वीकार किया, अनेकता के खयाल में खो गया अनेकता के जाला में उलझता ही रहा 'अकेले में दुःख अनेक में सुख' यह विचार मन दृढ़ रहा है, इसलिये एक में से अनेक होने का प्रयत्न किये हैं और किये जा रहा हूँ।

विशाल परिवार हो तो सुख, विशाल मित्र-मंडल हो तो सुख, या अनुयायी वर्ग हो तो सुख बस, भीड़ में ही सुख और आनन्द की कल्पना बनायी और उसमें ही उलझता रहा परिणामस्वरूप दुःख और अशांति का भार ढोता रहा हालांकि समूह जीवन में कुछ एक सुख कुछ आनन्द भी मैंने पाया है, पर वो सुख देर तक टिका नहीं वो आनंद ज्यादा रहा नहीं वो सब अल्पकालीन सिद्ध हुआ है।

मुझे एकाकी होना नहीं - फिर भी कभी न कभी तो एकाकी बनना ही होगा, तब क्या मुझे दुःख नहीं होगा? वेदना नहीं होगी। अकेले जब मरना होगा तब क्या मेरी स्वस्थता बरकरार बनी रहेगी?

समता और समाधि मे लीन हो जाऊगा ? 'मै अकेले कौनसी गति मे जाऊगा ?' यह डर मुझे व्याकुल तो नही बना डालेगा ?

इसलिए मै अब इस परम सत्य को स्वीकार करता हूँ...'मैं अकेला हूँ. .मुझे अकेले ही जन्म–मरण करने है, अकेले ही चारगति और चौरासी लाख योनि मे भटकना है...तो फिर क्यो न मै अकेले ही मेरा आत्महित–आत्मकल्याण साध लू ? क्यो मै अकेले ही महान् धर्मपुरुषार्थ न कर लू ?'

- 'मै अकेला हूँ, मेरा कोई नही है, मुझे किसी का सहारा नही है', ऐसी शिकायत अब मैं कभी भी नही करूगा।
- 'मैने तो उन्हे अपना मान कर उनके ढेरो काम किये, पर उन्होने मेरी कोई सहायता न की', ऐसी मनोव्यथा अब मुझे नही होगी।
- 'धर्मआराधना तो मै करू, पर मुझे कोई साथी चाहिए, कोई सहयोगी चाहिए...साथ–सहयोग के बगैर धर्म–आराधना मेरे से नही होगी...'ऐसी दलीले मै नही करूंगा।
- 'एकोऽहं–मै अकेला हूँ'– इस सत्य को आत्मसात् बनाने के लिये निरतर एकत्व भावना से भावित बना रहूँगा ।

आत्मा की अद्वैतभाव की मस्ती मे जीने वाले मिथिला के नमि राजर्षि और अवती के राजा भर्तृहरि वगैरह जब स्मृति की शीप मे मोती बनकर उभरते है तब आत्मानद की अकथ्य अनुभूति होती है... अकेलेपन की दीनता–हताशा चूर–चूर हो जाती है। पर–साक्षेपता की दृढ हुई कल्पना की ऊची ऊची कगारे टूट गिरती है। रहना सबके बीच, पर सबसे जुदा...' जीने का मजा मैने चख लिया है।

किसी गिरिमाला के उत्तुग शिखर पर...गगनचुबी भव्य जिन-मदिरो की गोद मे...अकेले आसन जमाकर...हवा की सनसनाहटो के और पक्षियो के मधुर कूजन के अलावा जहा और कुछ भी न हो.. मदिर का पुजारी जब अपने घर चला गया हो ऐसे मे जनरहित नीरव शाति मे परमात्मा के सान्निध्य मे एकत्व का निजानद मैंने पाया है और तीव्र सवेदनाओ से सिक्त हुआ हूँ अनेकता के कोलाहल से मुक्त होकर दूर–दूर एकत्व के क्षीरसमुद्र मे डुबकिया लगाने की मस्ती मैने पायी है।

अब अनेकता मे से मिलने वाले सुख मुझे नही चाहिए। अनेकता मे से पैदा होने वाला आनंद मुझे नही भायेगा। परसापेक्ष जीवन अब नही जीना है अब तो इस छोटी सी जिन्दगी मे आत्मा के अद्वैत-एकत्व की जी भर कर साधना कर लेना है। आत्मा का स्थायी हित खोज लेना है नित्य और शाश्वत् गुणसमृद्धि को पा लेना है।

'हे परमात्मा, मेरी इस अन्तःकरण की अदम्य तमन्ना को आप आपकी अचिन्त्य कृपा से फलवती बनायें। मैं आपके ध्यान मे अभेद भाव मे तल्लीन हो जाऊ! आप और मेरे बीच का भेद का एक-एक परदा उठ जाये और मैं आप मे सदा-सदा के लिये समा जाऊ।'

अन्यत्व भावना

श्लोक अन्योऽहं स्वजनात् परिजनाच्च विभवाच्छरीरकाच्चेति ।
यस्य नियता मतिरियं न बाधते तं हि शोककलिः ॥१५४॥

अर्थ मैं स्वजनों से, परिजनों से, संपत्ति से और शरीर से भी जुदा हूं जिसकी इस तरह की मति सुनिश्चित है उसे शोकरूप कलि दुःखी नही करता।

विवेचन मैं (आत्मा) जिससे-जिससे जुदा हूं भिन्न हूं उसके उसके साथ मैंने आत्मीयता बांधने की भूल की है। जो कभी मेरे हुए नही हैं, उन तत्त्वों को अपना मानने की गल्ती की है परद्रव्य के साथ ममता के प्रगाढ बंधनों मे मैं बंध गया हूं।

अनंतकाल, पर को स्व मानने की भूल आजकल की नही है यह गल्ती मैं असंख्य जन्मों से करता आया हूं। चूंकि, मैंने परद्रव्य मे-परव्यक्ति मे सुख की कल्पनाएं बांध ली हैं। 'मुझे स्वजन सुख देंगे, परिजन सुख देंगे, संपत्ति-वैभव मे मुझे सुख मिलेगा, अच्छा स्वस्थ शरीर मुझे सुख देगा।' ऐसी कल्पनाएं लेकर मैं गया स्वजनों के समीप स्वजनों के साथ रहा उनके साथ प्रेम किया स्नेह बांधा, उन्होंने भी भी ना ही सुख की कल्पना मे विहरते हुए मेरे साथ प्रेम किया। मुझे लगा कि 'ओह, ये स्वजन माता पिता पुत्र-पत्नि भाई-बहन कितने प्यारे हैं। कितना प्यार करते रहे हैं।' मैं उन सबके साथ एकमेक हो गया।

परन्तु जब माता–पिता का अवसान हुआ तब उनके विरह की वेदना ने मेरे दिल को चीर दिया । जब पुत्र अविनीत स्वच्छंदी और उद्धत हो गया तब मैने अपने भीतर पारावार व्यथा पायी । जब भाई और भाभी ने तेवर बदले मौन रहने लगे और झगडने लगे मेरा मन उद्विग्नता से भर आया । जब पत्नि के झगडे बढने लगे, उसका अयोग्य आचरण बढने लगा तब मेरे सताप की कोई सीमा न रही ।

मुझे लगा कि 'स्वजन से परिजन कही ठीक है ।' मैने मित्र बढाये मित्रो के साथ घुमने–घामने और खाने–पीने मे मुझे मौज आने लगी। मैने अपने मन मे सोचा कि'सच्चे स्नेही तो ये मित्र ही है ।' मित्रो के साथ–सहवास मे और नौकर–चाकरो की सेवाभक्ति देखकर मैं अपने आपको सुखी मानने लगा .परन्तु जब मेरे एक मित्र ने मुझसे पाच हजार रुपये मागे और मैंने नही दीये तो उसने मेरे साथ झगडा किया मुझे गालिया सुनायी और दोस्ती तोड डाली, तब मै सारी रात रोता रहा असीम वेदना मे मेरा दिल कसकता रहा जिस नौकर पर मुझे विश्वास था वो नौकर जब घर से चोरी कर के भाग गया तब परिजनो को लेकर मेरी सारी भ्रमणाए तितर वितर हो गयी ।
फिर भी मुझे मेरी सपत्ति पर पूरा भरोसा था। स्वजन परिजन के साथ के सबधो की कृत्रिमता समझे जाने के बाद भी सपत्ति–वैभव पर का मेरा विश्वास डिगा नही था । रहने के लिये सुविधापूर्ण बगला था, छोटी मजे की गाडी थी खर्च करने के लिए काफी रुपये थे. अकेला ही रहता था . अच्छी होटल मे खाना ले लेता था एक नौकर पार्ट-टाइम आकर बगले का काम कर जाता था । मेरे व्यवसाय मे और आनन्द–प्रमोद मे जिन्दगी बहे जा रही थी ..और एक दिन मै रास्ते पर भटकता भिखारी हो गया. मेरे बगले को किसी ने आग लगा दी और मेरा सब कुछ भस्मीभूत हो गया. मै शोक–सागर मे डूब गया . व्यथा से अकेला ही दु खी हो गया ।

मेरा सब कुछ चला गया, फिर भी मेरा शरीर तन्दुरस्त था, सशक्त था । मुझे मेरे शरीर पर पूरा भरोसा था । मेरे तंदुरस्त और सौष्ठ-वयुक्त शरीर को देखकर दूसरो को ईर्ष्या–जलन होती थी. परन्तु गरीबी के चु गल मे फसा हुआ जब मे एक हवा–उजाले बिना के कमरे मे

रहता था तब एक दिन यकायक मेरा आधा अंग जकड गया मुझे लकवा मार गया था मेरी आंखे आंसुओ से छलछलाने लगी मेरा हृदय अकथ्य वेदना से भर आया 'शरीर इस तरह रोग से घिर जायेगा ' ऐसी तो मैंने स्वप्न में भी कल्पना नही की थी।

वहा मुझे परम सत्य की एक किरन मिली दिव्य स्वर मेरे कानो पर झकृत होने लगा

'अयोऽह स्वजनात् परिजनाच्च विभवाच्छशरीरकाच्चेति' 'मै स्वजनो से, परिजनो से वैभव से और शरीर से भी जुदा हूँ बिल्कुल जुदा हूँ।' इन चार तत्त्वो के साथ का मेरा सबंध कमजोर है। आंखे मूंदकर, मन को स्वस्थ और शांत बनाकर, मैंने इस परम सत्य को गुंजाना प्रारभ किया। स्वजन-परिजनो के प्रति मेरा जो मनमुटाव था वो दूर हो गया। राग तो पहले से ही टूट चुका था। अब द्वेष भी नही रहा। वैभव-सपत्ति की चचलता, अस्थिरता और दु ख-दायिता मेरी समझ मे आ गयी। सपत्ति का राग उतर गया शरीर के प्रति मेरा अभिगम बदल गया। 'नामकर्म' और वेदनीय कर्म के आधार पर मिला हुआ अच्छा-बुरा शरीर अब मुझे रागी-द्वेषी नही बना सकता।

अन्यत्व भावना के सतत परिवर्तन से शोक-उद्वेग की तीव्रता दूर हुई और मेरा आत्मभाव निर्मल होता चला।

अशुचिता भावना

श्लोक अशुचिकरणसामर्थ्यादाद्युत्तरकारणाशुचित्वाच्च।
देहस्याशुचिभाव स्थाने स्थाने भवति चिन्त्य ॥१५५॥

अर्थ शरीर की शक्ति [पवित्र एस द्रव्य को भी] अपवित्र करने की होने से और उसके आरम्भिक तथा उत्तर कारण अपवित्र होने से हर एक स्थान मे (शरीर के) देह की अशुचि भाव का चिंतन करना चाहिए।

विवेचन मुझे शरीर अच्छा लगता है। शरीर पर मुझे राग है। इसलिए मैं शरीर का जतन करता हूँ। शरीर की सार-सभाल करता हूँ मेरा यह शरीरप्रेम मुझे रागी-द्वेषी बनाता है।

मुझे मेरा शरीरप्रेम तोडना है। शरीर की आसक्ति का समूल्लोच्छेद करना है ..यदि देहासक्ति दूर हो जाय तो मेरी राग-द्वेष की परिणति मद हो सकती है, शरीर के भीतर छुपी हुई आत्मा के निकट पहुँचा जा सकता है। देहासक्ति मुझे भीतर झाकने ही नही देती, फिर जाने की बात कहा? कभी-कभार भीतर चला भी जाता हूँ तो ये राग-द्वेष मुझे वहा सास नही लेने देते वहा रहने नही देते !

पर मेरी यह देहासक्ति टूटे तो कैसे ? मै शरीर को मात्र बाहर से ही देखता हूँ . रूप-रग और आकार तक ही मेरी नजर जाती है... कान, आख, नाक, हाथ-पैर और सर यही सब देखा करता हूँ . शरीर की रचना का और शरीर मे रही हुई सात धातुओ का तो विचार ही नही करता हूँ ।

मैंने ही इस शरीर की रचना की है । माता के उदर मे गर्भरूप मे उत्पन्न होते ही शरीररचना का कार्य प्रारभ कर दिया था। शरीर रचना के लिये मैंने सर्व प्रथम, माता के द्वारा लिये गये और पेट में आकर बीभत्स-गदे बने हुए आहार के पुद्गल ग्रहण किये थे और उन पुद्गलो के द्वारा शरीर की रचना करना चालु किया था। इस तरह शरीर के मूलभूत द्रव्य गदे और बीभत्स थे। इसके बाद शरीर के सवर्धन के लिये भी माता के उदर मे आने वाले आहार को ही मैंने ग्रहण किया था। अस्थि, मज्जा, मास आदि से गदराने लगा।

जुगुप्सनीय पदार्थों के द्वारा ही यह शरीर निर्मित है। ऐसे शरीर पर राग हो भी तो कैसे ? शरीर मे भरे हुए गदे पदार्थ जब कभी कभार बाहर निकलते है तब कैसा घिनौना लगता है! उसे दूर करने के लिये तात्कालिक उपाय खोजता हूँ ! परन्तु दुर्भाग्य है कि भीतर की उस गदगी को देखने की दृष्टि ही नही मिली है ! केवल ऊपर-ऊपर की चमडी देखकर ही अच्छा-बुरा मान लेता हू और रागी-द्वेषी हुआ जाता हूँ ।

❀ पवित्र को अपवित्र करता है यह शरीर !

❀ शुद्ध को अशुद्ध करता है यह शरीर !

❀ निर्मल को मलीन करता है यह शरीर !

परमात्मा के मंदिर में जब अचानक किसी बच्चे को मल-मूत्र में लिपटा देखा तो इस शरीर की वास्तविकता का खयाल आया। पवित्र मन्दिर को अपवित्र करने वाला यह शरीर था।

एकदम धो कर उज्जवल बनाये गये कपड़ों से सुबह सुबह में शरीर को श्रृंगारा था, परन्तु शाम तक उस शरीर ने उन वस्त्रों को पसीने से और मैल से गंदे कर डाले! तब समझ में आया कि शरीर को ऊपर से पहनाया हुआ या शरीर के भीतर रहा हुआ कोई भी द्रव्य शुद्ध नहीं रह सकता है, कोई भी वस्तु स्वच्छ निर्मल नहीं रह पाती।

अरे, शरीर को दिन में बारबार नहलाया जाय तो भी क्या वह शुद्ध रहता है? नहीं रह सकता है वो स्वच्छ और शुद्ध! नहीं रह सकता वो पवित्र नहीं रह सकता वो निर्मल! उसके संपर्क में आने वाली वस्तु भी न तो शुद्ध रह सकती है नहीं पवित्र रह सकती है।

ऐसे शरीर पर क्यों रागी बनना? क्यों आसक्ति रखनी? फिर, वो शरीर मेरा हो या पराया हो, वो शरीर स्त्री का हो या पुरुष का हो! 'ज्ञानसार' नामक ग्रंथ में महोपाध्याय श्री यशोविजयजी ने, स्त्री के सौंदर्यसभर शरीर की ओर आकर्षित होते पुरुषमन को संबोधित करते हुए कहा है:

"बाह्यदृष्टेः सुधासारघटिता भाति सुन्दरी।
तत्त्वदृष्टेस्तु सा साक्षाद् विण्मूत्रपिठरोदरी॥

देहदर्शन करने की यह दृष्टि प्रतिक्षण खुली रखने को कह रहे हैं ग्रंथकार। देह के एक एक अंग-उपांग के प्रति इसी दृष्टि से देखने का उपदेश देते हैं ग्रंथकार। हां, देह का एक भाग भी शुद्ध नहीं है.. पवित्र नहीं है। शरीर के किसी भी अंग-उपांग में से पवित्रता की परिमल नहीं मिल सकती।

इस शरीर के प्रति विरक्त और अनासक्त बनकर इस शरीर का उपयोग आत्मविशुद्धि की साधना के लिए करें.. तपश्चर्या करें.. त्याग करें.. गुरुजनों की सेवाभक्ति करें। परमात्म-गुणगान की प्रवृत्ति करें। चाहे शरीर सूख जाये या सुस्त हो जाय भले उसकी खूबसूरती घटे या चली जाय!

जिन जिन के मेरे पर उपकार हुए है और हो रहे हैं, जिनका जिनका मुझे साथ और सहयोग मिलता है और मेरे जीवन में मेरे जो भी सहायक वने हैं और वन रहे है, उनके प्रति मेरा रूख कृतज्ञतापूर्ण रहेगा और औचित्यपूर्ण व्यवहार रहेगा। फिर भी मेरा हृदय ससार के किसी भी रिश्ते-नाते से जुडे नही, इनके लिये मैं सतत सावधान रहूगा।

सारे सवधो से पर आत्मा का आत्मा के साथ का सम्बव जो आतरसुख देता है वो आतर सुख अवर्णनीय होता है। शुद्ध-वुद्ध-मुक्त अनत आत्माओ के साथ का आतर सम्वध, जो सम्वव उनका ध्यान करने से वधता है वो सम्वव अनत आनद का स्रोत वन जाता है।

ससार के तमाम सवधो का मिथ्यात्व समझाकर सर्वज्ञ परमात्मा ने मेरे पर परम उपकार किया है! ससार के सम्वधो से विरक्त वनने की दिव्य ज्ञानदृष्टि का मुझे दान देकर मेरा परम हित किया है। मेरे अनेक क्लेश और सन्ताप उपशमित हो गये। द्वैतभाव से जनित राग-द्वेष की उफाने शात हो गई.,अद्वैत भाव का आस्वाद् कितनी मधुरता दे रहा है जीवन को!

आश्रव भावना

श्लोक . **मिथ्यादृष्टिरविरत. प्रमाद्वान् य कषाय-दण्ड-रुचिः।**
तस्य तथास्त्रवकर्मारिण यतेत तन्निग्रहे तस्मात् ॥१५७॥

अर्थ : जो (जीवात्मा) मिथ्यादृष्टि अविरत, प्रमादी और कपाय व दड मे रुचि रखता है उसे कर्मो का आश्रव होता है, अत उसका निरमन करने के लिये (आश्रवो को रोकने के लिए) प्रयत्न करना चाहिए।

विवेचन : एक तो कर्मो से वधा हुआ हूँ. और नये-नये कर्मो से वध रहा हूँ. गत जन्मो में जव मेरी आत्मा घोर मिथ्यात्व के काले स्याह वादलो से घिरी हुई थी, तव अनत-अनत पाप-कर्मो से मेरी आत्मा भर गयी थी।

वर्तमान जीवन में, परम कृपानिधि परमात्मा की असीम कृपा मेरे पर बरसी, वत्सलता के सागर जैसे सदगुरुओं के आशीर्वाद मेरे पर बरसे और मिथ्यात्व के घनघोर बादल छटने लगे। सम्यग्दर्शन का झिलमिलाता सूर्य मेरी आत्मभूमि को प्रकाशित करता रहा। सर्वज्ञशासन निर्दर्शित तत्त्वों से करवाये गये विशदर्शन के प्रति मेरे दिल में श्रद्धा के दीप जल उठे परंतु फिर भी मेरे पापाचरण छूट नहीं पाये। हेय और उपादेय का बोध होने पर भी मैं हेय-त्याज्य का त्याग न कर पाया, उपादेय स्वीकार्य का स्वीकार न कर सका। हिंसा असत्य चोरी-अब्रह्म परिग्रह इत्यादि पापों का करता रहा और नये-नये पापकर्म बंधते रहे। जिन पापों का आचरण मैं नहीं करता था उन पापों की अपेक्षाएं भी मेरे भीतर दबी दबी सी पड़ी थी। मैं प्रतिज्ञापूर्वक पापत्याग नहीं कर सका। यह 'अविरति' नामक आश्रव द्वार खुला रहा और उस द्वार से कर्मों का प्रवाह आत्मा के सरोवर में अविरत प्रवाहित होता ही रहा।

वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा का और निर्ग्रन्थ गुरुजनों का अनुग्रह हुआ मेरे पर, मेरा आत्मवीर्य उल्लसित हुआ और मैंने पापों का प्रतिज्ञापूर्वक त्याग किया। मैं 'सर्वविरति' को धारण करने वाला श्रमण बना। श्रमण जीवन का स्वीकार किया, अविरति का आश्रव-द्वार बन्द हो गया पर प्रमाद का परवश बनकर मैं वापस भटक गया। निद्रा और विकथा के चुंगल में फंस गया। ध्यान-ज्ञान में मेरा मन लगा नहीं, स्वाध्याय और वैयावृत्य आदि संयम-योगों में प्रमादी बना रहा। विनय-विवेक और संयम के पालन में शिथिल बना। आह! कितना बड़ा प्रमाद! अप्रमत्त भाव को पाने का लक्ष्य भी चूक गया। अप्रमत्त जीवन का आकर्षण भी नहीं रहा। प्रमादी-सुखशील जीवन मुझे पसन्द आ गया! कैसे-कैसे पाप बंध रहे हैं यह बात ही मैं भूल गया। मिथ्यात्व और अविरति के दुर्गम मोर्चे पर उल्लेखनीय विजय पाने वाला मैं, प्रमाद के मोर्चे पर हारता जा रहा हूं। मेरी आत्मभूमि पर कर्मरूपी शत्रुओं का अधिकार जमाता जा रहा है। मुझे जाग्रत बनना चाहिए।

मैं जागृत बनकर निद्रा को कम किया। विकथाओं का त्याग किया। इन्द्रियों के विषयों का उपयोग कम कर दिया। तप और त्याग करने लगा। स्वाध्याय भी करता हूं फिर भी कषायों का मेरे पर

गजब का प्रभुत्व है ! कुछ भी अनचाहा होता है और मैं बौखला उठता हू...! क्रोध के सामने क्षमा का भाव टिकता नही है...रोप और रीस तो जैसे कि स्वाभाविक हो गये है ! मान-अभिमान का तो पार नही है । कोई मेरा जरा सा भी अपमान करता है तो मै सुलग जाता हूँ...! अभिमान वेहद है ..माया-कपट साथ नही छोडते है...मन में अलग...वाणी में अलग...और आचरण में और ही कुछ ! लोभदशा की प्रवलता ने मुझे मायावी वना रखा है। ऐसे क्रोध मान-माया और लोभ के कारण अनत–अनत कर्मो का प्रवाह मेरी आत्मा मे निरतर वहा आ रहा है. .मुझे उस प्रवाह को जल्द रोकना चाहिए ।

पर रोकू भी तो कैसे ? मन आर्तध्यान का संग छोडे तो रोक पाऊ न ? मन आर्तध्यान और रौद्रध्यान छोड नही रहा है...पापविचारो से मन मुक्त हो नही रहा है ! पापविचार करता है मन और उसकी सजा भुगतनी पडती है आत्मा को । पापविचार कर करके मै कैसे चिकने और भारी-भारी कर्म वाध रहा हूँ—यह समझने पर भी मै पाप-विचारो का त्याग नही कर पा रहा हूँ यह मेरा कितना दुर्भाग्य है ! पाप-विचार कभी कभी मेरी वाणी को भी असत्य और अभद्र वना देते है । मै न वोलने का वोल देता हूँ. चाहे पीछे से मुझे पछतावा हो . मैं माफी भी माग लू परन्तु वाणी को सयम में नही कर सकता, यह एक निरी हकीकत है । इसके कारण भी मै नये-नये पापकर्म वाधे जा रहा हूँ ।

काया से पाचो इन्द्रियो के माध्यम से भी मै ऐसे ही गलत काम किये जा रहा हू, जिससे अनत अनत कर्म वधते है। रोज–रोज, हर क्षण इस तरह नये कितने ही पापकर्म वाध रहा हूँ, यह विचार मुझे कँप–कँपी पेदा कर देता है ।

जानता हूँ कि सारे दु.खो का मूलभूत कारण पापकर्म ही है, दु.ख नही चाहता हूँ फिर भी पापचरण नही छोड सकता ! पाप किये जा रहा हूँ, फिर दु खो से मेरा छुटकारा हो भी तो कैसे ?

मेरा मन सुदृढ वने, परमात्मा की और गुरुजनो की ऐसी कृपा मेरे पर वरसे कि मै इन आश्रवद्वारो को वन्द करने के लिये समर्थ वनू, नये वधने वाले कर्मो का प्रतिकार कर सकू ।

श्लोक या पुण्यपापयोरग्रहणे वाक्कायमानसी वृत्ति ।
सुसमाहितो हित सवरो वरददेशितश्चिन्त्य ॥१५८॥

अथ मन-वाणी वतन की जिस प्रवृत्ति स पुण्य और पाप का ग्रहण न हो ऐसी, आत्मा म भली भाति धारण की हुई प्रवृत्ति को जिनोपदिष्ट हितकारी सवर कहते है उसका चिन्तन करना चाहिए।

विवेचन निरन्तर मेरी आत्मा मे कर्मो का प्रचड प्रवाह वहता हुआ आ रहा है। कभी मैंने इन कर्मों के प्रवाह का रोकने का विचार भी नही किया। शुभ कम आते हैं, अशुभ कम आते है।

मैं जानता हू कि जब तक यह कम-प्रवाह आत्मा मे प्रविष्ट होने से रुकेगा नही तब तक आत्मा का नित्य अनत और अव्याबाध सुख मिलेगा नही। सुख और दु ख के द्वन्द्व दूर नही होगे। हर्ष और शोक राग और द्वेष, आनन्द और अवसाद के भावद्वन्द्व दूर नहीं होग।

मैं समझता हूँ कि शुभाशुभ कर्मो का वा प्रवाह मेरी मन-वचन और काया की प्रवृत्तियो मे प्रेरित है, मैं जब तक मन म राग-द्वेष मूलक विचार करता रहूँगा तब तक अनत अनत कम मेरी आत्मा म प्रवेश करते ही रहेंग। जब तक मैं बोलता रहूगा, वाणी-प्रयोग करता रहूँगा तब तक कर्मों के घनघोर बादल आत्मा को चौतरफ घिरते ही रहेंग। जब तक मेरी शारीरिक सूक्ष्म या स्थूल प्रवृत्तिया चालू रहेंगी तब तक कमवध अटकने मे रहा !

यह जानने पर भी, उन कर्मों का आत्मा म प्रवेश स मैं रोक नहा रहा हूँ, रोकन का कोई दृढ सकल्प नहीं कर रहा हूँ, रोकने का गाढ पुरुषार्थ भी नहीं कर रहा हू, 'क्या मुझे ऐसा भावोल्लास पदा नही होता' ? यह प्रश्न जब मेरे भीतर मे उठा मैं सोचता ही रहा और उसका सही कारण मुझे मिल गया। जो शुभ कर्मों का प्रवाह आत्मा मे बहकर आता है वे शुभ कम जीवात्मा को सुख देते हैं। उन

वे शुभ कर्म सुन्दर निरोगी शरीर देते है, अच्छा परिवार देते है, धन-सम्पत्ति देते है, इज्जत आबरू देते है, और ऐसे-वैसे तो अनेक सुख-सुविधाए ये कर्म देते रहते है।

सुख का रागी जोवात्मा शुभ कर्मो से मिलने वाले सुखो की लालच मे फस जाता है। उन सुखो की अनित्यता का, विनश्वरता का विचार नही कर पाता! उन सुखो की पराधीनता को सोच नही सकता। उन सुखो के साथ जुडे हुए उपद्रवो का दूरगामी विचार नही कर सकता!

जब अशुभ कर्म आत्मा मे प्रविष्ट होकर दुःख, त्रास और यातना का नरक खड़ा कर देते हैं तब वो जीवात्मा चोखता है, चिल्लाता है, 'ऐसे पाप कर्म मेरी आत्मा मे कहा से आये? कब छुटकारा होगा ऐसे घोर कर्मो से।' परन्तु फिर वापस शुभ कर्मो का उदय होने पर यह सब भूलभूला जाता है। पूण्य कर्म के उदय से मिलने वाले सुखो मे मनवचन काया से लीन-तलालीन हो जाता है,!

अनत अनत जन्म बीत गये इस तरह, वर्तमान जिन्दगी के भी कई बरस गुजर गये अज्ञान दशा मे। आत्मा मे कर्मो का प्रवेश रोकने का कोई प्रयत्न या कोई पुरुषार्थ मैने किया नही है, अब मुझे यह प्रयत्न कर लेना है। मुझे नही चाहिए अशुभ कर्म, नही चाहिए शुभ कर्म।

अशुभ कर्मो का आश्रव जैसे आत्मा का बधन है, वैसे ही शुभ कर्मो का आश्रव भी आत्मा का बधन है। मुझे अब ये बधन नही चाहिए। अब मैं सबसे पहले तो अशुभ कर्मजनित आश्रव को रोकूगा। मेरे मन मे पाप विचारो को प्रवेश नही करने दूँगा, आर्तध्यान और रौद्रध्यान से मेरे मन को बचाने का प्रयत्न करुँगा। असत्य, कर्कश और अहितकर वाणी नही बोलूगा। शरीर से, शरीर की पाचो इन्द्रियो से किसी भी तरह की पाप प्रवृत्ति नही करुगा। हिसा-झूठ-चोरी-अब्रह्म-परिग्रह आदि पापो का मन-वचन काया से त्याग करुँगा और इस तरह अशुभ कर्मो को आत्मा मे घुसने से रोकूगा। सम्यग्दर्शन, सर्वविरति, अप्रमत्तता, अकषायिता आदि धर्मो का अवलबन लूगा।

अशुभ कर्मो के प्रवाह को स्थगित करने के बाद, शुभ कर्मो के प्रवाह को भी रोकने का सतत प्रयत्न करुगा! शुभ प्रवृत्तिओ मे भी

राग नही रखू गा ! मन को ज्यादा से ज्यादा तत्वरमणता मे लीन बनाऊँगा । राग–द्वेष के कोई विचार न आ जाये इसके लिये हर पल जाग्रत रहूँगा । ज्यादा मे ज्यादा मौन धारण करूँगा । वाणी–व्यापार एकदम कम कर दू गा । काययोग को पाचो इन्द्रियो को स्थिर निश्चल और अविकारी रखने के उपाय करु गा । योग–साधना और ध्यानसाधना के द्वारा अन्तरात्मदशा को प्राप्त करने की ओर अग्रसर रहूगा ।

मैं जानता हूँ कि सवरमय बनने मे तो काफी वरस बीत जायगे— शायद दो–चार जन्म भी बीत जाय ! चाहे दो चार भव हो जाय, परन्तु मैं अपनी कोशिश चालू रखू गा । अब आत्मा मे नये नये शुभा शुभ कर्मो को आने से रोकने के लिये जी–जान से जुट जाना है । करुणावत ज्ञानी पुरुषो ने शास्त्रो मे इसके लिये समुचित मार्गदर्शन दिया है । उस मार्गदर्शन के सहारे पुरुषार्थ करके सुसवृत बनने का आदर्श पूरा करूँगा ।

श्लोक यद्वद्विशोषणादुपचितोऽपि यत्नेन जीयते दोष ।
तद्वतकर्मोपचित निर्जरयति सवृतस्तपसा ।।१५९।।

अर्थ जिस तरह बढा हुआ भी विकार प्रयत्न के द्वारा उपवास करने से नष्ट हो जाता है उसी तरह सवृत जीवात्मा तपश्चर्या से इकट्ठे हुए कर्मों की निर्जरा करता है ।

विवेचन कब ऐसा धन्य मौका आयेगा कि जब मेरी आत्मा सवृत्त बन जायेगी ? आश्रवद्वारो को बद करके कब अभिनव कर्मप्रवेश को रोकने के लिये समर्थ बनु गा ? सब आश्रवद्वारो को बद करके, आत्मा मे पूर्वप्रविष्ट अनन्त अनन्त कर्मों का मुझे नाश करना है । नये कर्म बधे नही और पूर्वबद्ध कर्म नष्ट हो, तब ही मेरी आत्मा शुद्ध बनेगी, बुद्ध होगी और मुक्त बनेगी । तब ही अक्षय–अनन्त सुख की प्राप्ति होगी ।

मैं जानता हू कि सवृत्त आत्मा की तपश्चर्या, पूर्वगृहित कर्मों की निर्जरा करने मे, क्षय करने मे समर्थ होती है । परन्तु आश्रवद्वारो को बद करके सवृत्त होना कितना कठिन कार्य है, वह भी मैं समझना

हू ! फिर भी अन्तःकरण की चाहना है कि ऐसा पुण्यअवसर मुझे मिले कि जब मैं सर्वसवर करने के लिये सक्षम बनु !

सम्यग्दर्शन प्राप्त करके मैंने मिथ्यात्व का आश्रवद्वार तो बंद कर दिया है...व्रत...महाव्रत ग्रहण करके अविरति का आश्रवद्वार भी बंद किया है, पर प्रमाद और कषाय के दरवाजे कुछ खुले ही रह गये हैं। मन वचन-वर्तन की शुभ और अशुभ प्रवृत्ति चालु ही रहती है इसलिये तीन आश्रवद्वारो को बन्द करने का कार्य चलता रहे और साथ साथ पूर्वगृहित कर्मों को जलाने का कार्य चालू हो, तब ही एक सुनहरी सुबह ऐसी ऊगेगी जब सारे कर्मों के बंधनो से मेरी आत्मा मुक्त हो जायेगी।

आत्मा को सर्वकर्मों से मुक्त करने का मैंने सकल्प किया है, यानी उन कर्मों को नष्ट करने के अलग अलग रास्तो का, उपायों का अवलबन लूगा। ग्रथकार महर्षि श्रेष्ठ उपाय बतलाते है तपश्चर्या का ! मुझे उनके इस कथन पर विश्वास हो चुका है कि 'शरीर मे बढे हुए अजीर्ण-बदहजमी वगैरह रोगो को जैसे लघन-उपवास से मिटाये जा सकते है, वैसे ही तपश्चर्या से कर्म नष्ट हो जाते है।' मै बाह्य और आभ्यतर तप करूगा। छह प्रकार की बाह्य तपश्चर्या और छह प्रकार की आभ्यतर तपश्चर्या से मेरे जीवन के एक एक क्षण को नवपल्लवित कर दूगा !

१. मैं उपवास करूगा, दो दिन के, तीन दिन के, आठ दिन के और महीने के उपवास करूगा। सारा वर्षाकाल उपवास मे बीताऊंगा, समताभाव मे निमग्न बना रहूगा। मौन रहकर समय निर्गमन करूगा।

२. जब उपवास नही करूगा तब अल्प भोजन करूगा। पेट भरकर नही खाऊंगा। शरीर धर्मआराधना मे सहायक हो सके इतना ही भोजन करूगा।

३. भोजन भी जो करूगा उसमे परिमित वस्तुए ही लूगा। यदि दो वस्तुओ से चलेगा तो तीसरी वस्तु नही लूगा। चाहे जितनी खाने-पीने की चीजे मिलती होगी फिर भी मैं तो दो-चार वस्तुओ से ही अपना भोजन पूरा करूगा।

४ रसा का त्याग करूगा । दूध, दही, घी, गुड, मिठाई इत्यादि रसप्रचुर द्रव्यो का त्याग करूगा । तन-मन मे विकार पदा करने वाले द्रव्यो का सवन नही करूगा । अत्यन्त आवश्यकता उपस्थित होगी तो अल्प मात्रा मे ही सेवन करूगा।

५ शरीर को सहलाऊगा नही । कुछ कुछ कष्ट सहने की आदत भी डालूगा । घटा तक कायोत्सग ध्यान मे लीन रहूगा । उकडू आसन मे वठूगा । गर्मिया मे धूप और जाडे मे सर्दी सहन करने की आदत डालूगा अपने आपको ।

६ कछुए की भाति मेरी इद्रियो को सगोपित रखूगा । इद्रिया का आत्मभाव म-आत्मचिंतन मे लीन रखूगा। मन को भी आतध्यान रौद्रध्यान मे नही जाने दूगा । क्रोध वगरह कषायो का निग्रह करूगा।

७ मेरे व्रत और महाव्रत मे जो दोष लग हागे उन दोषा का दूर करने के लिये सद्गुरुजना के पास दोषा का आलोचन करूगा और प्रायश्चित करूगा ।

८ चित्त का निरोध करूगा । मन मे आतध्यान न घुस जाय इसके लिये धमध्यान मे अपने आप को पिरा रखूगा ।

९ पूजनीय पुरुषा की, गुणवान पुरुषो की, ग्लान-बीमार पुरुषा की सेवा-भक्ति करूगा, शरीर-शुश्रुषा करूगा ।

१० पूज्या का, बडो का गुणवानो का विनय करूगा । वे आयगे तब खडा होऊगा । नमन करूगा । बठन के लिये उन्ह आसन दूगा । उन्ह विदा देने जाऊगा ।

११ मिथ्या मान्यताओ का उत्सग-त्याग करूगा । क्रोध वगरह कषाया का त्याग करूगा । ममता-आसक्ति बढाने वाले द्रव्या का परिहार करूगा ।

१२ शास्त्रस्वाध्याय करूगा । सद्गुरुजना के] चरणा मे विनय पूवक बैठकर वाचना ग्रहण करूगा । शका का समाधान ढूढूगा । तत्त्वा को याद करूगा ।

इस तरह विविध तपश्चर्याए करके सारे कर्मो की निजरा करने का मुझे अपूव अवसर प्राप्त हो यह मेरी कामना है ।

'हे आत्मन्, इस विराट विश्व मे अनन्तकाल से परिभ्रमण करते हुए मैने क्या नही खाया ? क्या नही पीया ? क्या नही भोगा ? पाच इन्द्रियो के सभी वैषयिक सुख तू ने भोगे है—फिर भी तुझे तृप्ति हुई ? नही हुई न ? तो फिर अब क्यो मनुष्यलोक के निकृष्ट, गंदे–घिनौने और तुच्छ सुखो मे ललचाता है ? क्यो उधर झुकता है ? क्यो उन असार सुखो मे आसक्ति रखता है ? कर दे इन सारे सुखोपभोग का त्याग ! त्याग से ही सच्ची तृप्ति मिलेगी । भोग से तो वासना और ज्यादा बहकेगी । आग मे ईधन डालने से आग और भडकती है । मन से भी तू वैषयिक सुख की कामना मत कर ! अनन्तकाल मे, अनन्त अनन्त जन्मो मे, भरपूर दिव्य सुख भोगने पर भी परम तृप्ति की डकार तुजे नही आयी, तो फिर पाच पचास बरस के जीवन मे तुच्छ सुखों के उपभोग मे क्या तुझे शाति मिलेगी ? तृप्ति होगी ? नही हो सकती । इसलिये भूल मत दोहरा । वर्ना पछतायेगा । त्याग–तप और तितिक्षा के द्वारा शुद्ध आत्मा की ओर बढने का प्रयास कर ।

मेरी आत्मा को इस तरह रोजाना समझाता हू—एक न एक दिन तो वो जरुर मेरी बात को कान पर धरेगी, समझेगी और परमतृप्ति का आस्वाद लेगी न ?

धर्मस्वाख्यात भावना

श्लोक : धर्मोऽयं स्वाख्यातो जगद्धितार्थं जिनैर्जितारिगणैः ।
येऽत्र रतास्ते ससारसागरं लीलयोत्तीर्णाः ॥१६१॥

अर्थ : शत्रुगण [राग-द्वेष-मोह वगैरह] के विजेता जिन्होने जगत के हित के लिए इस धर्म का निर्दोष कथन किया है । जो [जीवात्मा] इस धर्म मे अनुरक्त हुए, वे ससार सागर को सहजता से तैर गये ।

विवेचन सब जीवो के आत्महित के लिये, सब जीवात्माओ के आत्म-कल्याण के लिये, परमकृपानिधि जिनेश्वर भगवंतो ने कितना यथार्थ धर्म बतलाया है ! तीर्थंकरो का आत्मतत्त्व ही कितना उत्तम होता है ! परहितरसिकता उनके एक एक आत्मप्रदेश को आर्द्र बनाये रखती है । जब ज्ञानदृष्टि से वे विश्व के अनन्त अनन्त जीवो को दु.ख-त्रास

और सन्ताप से कुलबुलाते देखते हैं तब उनका आत्मत्व अनुकम्पा में उभर आता है। 'मेरे में ऐसी अपूर्व शक्ति आये कि मैं सारी जीव-सृष्टि को संसार के दुःखों से मुक्त करके परम सुख, शाश्वत् सुख प्राप्त करवा दूं।'

सब जीवों के कल्याण की इस भावना को फलवती बनाने के लिये वे कैसी घोर तपश्चर्या करते हैं! वे कितनी भव्य आराधना करते हैं चारित्र धर्म की, श्रुतधर्म की और श्रद्धाधर्म की! यह सब जब शास्त्रों में पढ़ा तो मेरी आँखें खुशी के आंसू से छलछला उठी।

इस भावना और आराधना के संयोजन में से तीर्थंकरत्व का जन्म हुआ! वे तीर्थंकर बने। जन्मजात वैरागी प्रभु संसार का त्याग करके घाती कर्मों को दूर करने के लिये वीरतापूर्ण तपश्चर्या करते हैं। घाती कर्म नष्ट होते हैं और वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी सर्वशक्तिमान वीतराग परमात्मा बन जाते हैं। घाती कर्मों का नाश होने से, राग-द्वेष मोह वगैरह सारे दोषों का आमूलनाश हो जाता है। वे आंतर शत्रुओं के विजेता बन जाते हैं और इसके बाद ही, वे पूर्णज्ञान और पूर्ण दर्शन के द्वारा जगत को धर्म का प्रकाश देते हैं।

वीतराग प्रभु ने कितना निर्दोष धर्म कहा है! कितना कल्याणकारी धर्म बतलाया है! आचारमार्ग और विचार मार्ग—दोनों का कितना दोषरहित प्रतिपादन किया! मार्गानुसारी जीवन की आचारसंहिता से लेकर छट्ठे गुणस्थानक पर स्थित साधु की आचारसंहिता का सुरेख सुसंगत और क्रमिक प्रतिपादन पढ़कर सचमुच ही, हृदय गद्गद् हो गया। किसी भी तरह का पूर्वापर विरोध नहीं! सिद्धांतों से विरुद्ध कोई आचारव्यवस्था नहीं।

जब, धर्मसिद्धान्तों का अध्ययन चिन्तन परिशीलन करता हूं, तब ज्ञानानन्द की कितनी प्यारी अनुभूति होती है! स्याद्वाद्, अनेकान्तवाद का सिद्धांत, सात नय और सप्त भंगी के सिद्धान्तों का मनन करते हुए तो इन सिद्धान्तों को बताने वाले इन पूर्णज्ञानी जिनेश्वरों को बार बार भाव-वंदना कर लेता हूं!

पूर्वीय तत्त्वज्ञान या पाश्चात्य तत्त्वज्ञान में, कहीं पर भी ऐसे यथार्थ सिद्धान्त देखने को नहीं मिलते! हर एक पदार्थ का इतना

कुल मे हुआ। माता भी सस्कारी मिली। पिता दयालु मिले। चौतरफ अहिंसक दयार्द्र वातावरण मिला। परिवार मे या पडौस मे न कोई हिंसा या न किसी तरह की मारधाड। न कोई चोरी और न ही कोई दुराचार। परमार्थ और परोपकार का वातावरण मिला। इसे भी मैं अपना बहुमूल्य भाग्य समझता हू।

मुझे शरीर भी कितना निरोगी मिला है। शरीर निरोगी हो तब ही मोक्षमार्ग की आराधना भली-भाति हो सकती है न? शरीर स्वस्थ होने पर ही मैं सयमयोगो की साधना कर सकता हू। ज्ञान-ध्यान, तप-त्याग, परमार्थ-परोपकार आदि की आराधना, शरीर स्वस्थ हो तब ही की जा सकती है। सच पूछा जाय तो, मेरे निरामय शरीर ने तो मुझे काफी सहायता दी है और दे रहा है आराधना की राह पर।

इसमे भी विशेष सौभाग्य तो मेरा यह रहा कि मेरा आयुष्य पूरा नही हुआ। चाहे निरोगी देह हो, पर यदि आयुष्य पूरा हो जाय तो मौत निश्चित हो जाती है। अगर आयुष्य अल्प होता है और बचपन मे ही मौत आ गयी होती तो मोक्षमार्ग की आराधना करने का अवसर ही नही मिलता।

दीर्घायुष्य के साथ ही धर्मतत्त्व के प्रति मेरी जिज्ञासा जगी, यह क्या कम बात थोडे ही है? 'मैं कौन हू? कहाँ से आया हू? कहाँ जाऊगा? यह सृष्टि क्यो? सृष्टि कैसी है? सृष्टि मे ऐसी विषमता क्यो?' ऐसी ढेर सारी जिज्ञासाए प्रगट हुई...और इतने मे......

मुझे धर्मतत्त्व का रहस्य समझाने वाले परम उपकारी गुरुदेव मिल गये। आलस को झटककर, मद-मान छोडकर, भय-शोक की भावनाओ से मुक्त होकर और दूसरे सारे कार्य छोडकर मैंने सद्गुरु के चरणो मे बैठकर धर्मश्रवण किया। ऐसे चरित्रवान्, प्रज्ञावान् और करुणावान् उपकारी गुरुदेव मिलना यह भी महान पुण्योदय के द्वारा ही शक्य हो सकता है। मिल जाने पर भी उनके चरणो मे विनयपुर्वक बैठकर धर्म-श्रवण करना काफी दुर्लभ है।

घरेलु कार्यो की व्यस्तता, आलस, मोह, अवज्ञा, अभिमान, कृपणता, भय, शोक, अज्ञान, कौतूहल इत्यादि कारण धर्मश्रवण मे बाधक होते है। मेरा परम पुण्योदय कि मुझे इनमे का एक भी कारण बाधक

नोह हुआ। और मैंन धमश्रवण किया। ज्यो ज्या धमश्रवण करता चना त्यो त्यो जीव-अजीवादि तत्त्वो का बोध होता गया आर 'सवज्ञ भाषित तत्त्व ही सही हा सकते हैं' यह श्रद्धा मेरे भीतर मे स्फुरित हुइ।

धमश्रवण तो कई जोव करते ह परन्तु सभी को बाधि की प्राप्ति नहीं होती है। सम्यग्दशन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति सभी जीवात्माओ का नहीं होती है। सैकडो जन्मा की आराधना-साधना के पश्चात ही वो बाधि मिल पाती है मुझे वह बाधिलाभ हो गया है! मुझे जिनोक्त तत्त्व मे कोई शका नहीं है, मेरा मन नि शक बन गया है। मुझ अब दूसर किसी अमवन के तत्त्व का कोई आकपरण नहीं रहा है।

बहुत कीमती बोधिलाभ मुझे प्राप्त हुआ है। 'ह परमात्मन, मेरी यह बोधि कभी भी न जाय, बस इतनी कृपा मेरे पर करना।'

श्लोक ता दुलभा भवशतलब्ध्वाऽप्यतिदुलभा पुनर्विरति ।
मोहाद्रागात्कापथविलोकनाद् गौरववशाच्च ॥१६३॥

अथ सकडा जन्मा में वा दुलभ बोधि प्राप्त कर लन पर भी माह स राग से,, उन्मागदशन स और गारववशता स विरति [देशविरति-सवविरति] अत्यन्त दुलभ है।

विवेचन मनुष्य की समझ मे आ जाय कि 'स सार के सुख त्याज्य हैं और माक्ष के सुख उपादेय है। स सार दु खरूप है और माक्ष ही सुखरूप है। इस पर भी मोह राग-गतानुगतिकता आर रस ऋद्धि-एव शाता की रसिकता ने यदि उस मनुष्य को घेर रखा हागा तो वह विरतिधम पा नहीं सकता, यानी व्रत या महाव्रत का अगीकार नहीं कर सकता।

सम्यग्दशन और सम्यग्ज्ञान पा लेने से उस जीवात्मा के भीतर मे सही समझ का रत्न-दीपक जलता होता है परन्तु उजाले मे भी तो जीवात्मा पाप कहा नहीं करता? प्रकाश हाने पर भी गड्ढे मे गिर जाता ह। सम्यग्दशन के ज्ञानप्रकाश मे वा जानता है कि हिंसा झूठ-चोरी अब्रह्म और परिग्रह पाप हैं। इन पापो का आचरण करने से पापकम बधते हैं, जिसके परिणामस्वरूप जीवात्मा स सार की दुगतिया

मे भटक जाता है। यह समझ उसे कभी इन पापो के त्याग की पवित्र भावना का नजराना पेश करती है। वो सोचता है : 'इन पापो का सर्वथा त्याग करके, संपूर्ण निष्पाप बनकर श्रमणजीवन को मुझे स्वीकार लेना चाहिए।'

परन्तु तुरन्त मोह उस पवित्र भावना को कुचल डालता है—तितर बितर कर देता है 'अभी तो मैं श्रमणजीवन कैसे अगीकार कर सकता हूँ ? अभी तो बेटे–बेटियो को पढाना है—उनकी शादिया करवाना है—अभी थोडा धंधा भी कर लेना है'—ऐसा मोह—ऐसी अज्ञानता पैदा होती है राग मे से।

पुत्र–पुत्री–परिवार–संपत्ति–स्नेही–स्वजन–परिजन वगैरह कीतरफ का अनुराग, जीवात्मा को संसार का सर्वत्याग करने नही देता। संसार का अनुरक्त हृदय सही समझ को आचरण मे रखने नही देता। जिन क्षणो मे—जिस समय वो अनुराग मंद हो जाता है—फीका पड़ जाता है तब वो समझ उसके चित्त को खिन्न बना देती है! 'मेरा राग, मेरा मोह, मुझे सर्वविरतिमय श्रमणजीवन अगीकार करने नही देता है।' सम्यग्दर्शन की आखों से जीवात्मा अपने राग और मोह का दर्शन करता है।

जब सम्यग्दृष्टि जीवात्मा अनत भवसागर को देखता है—भीषण भवसमुद्र के तूफानो को देखता है—तब वो सोचता है : 'ऐसे अपार भवसागर को पार कैसे किया जाये ? कौन पार उतार सकता है ? इस विषमकाल मे कौन समर्थ है भवसागर से तिराने के लिये ?' उसकी दृष्टि धर्म के नाम पर, संन्यास के नाम पर चल रहे पाखंडो की ओर जाती है तो उसका मन नफरत से भर आता है—'ऐसे पाखंडी मुझे तारेंगे भी तो कैसे ? तारना तो दूर, ऊपर से डुबो देंगे बीच मझधार में—!' और सर्वत्याग का विचार केवल विचार ही रह जाता है।

सम्यग्दर्शन का गुण कभी जीवात्मा को, ऐसे सत्पुरुषों का दर्शन करवाती है कि जिसके सहारे भवसागर को तैरने की यात्रा की जा सकती हो, परन्तु तब ऋद्धि–समृद्धि की आसक्ति उसको रोक देती है—बीच रास्ते दीवार बन कर खड़ी हो जाती है। 'यह बगला—यह गाडी—

यह इज्जत—यह शान और शौकत—ये करोड़ों की माल मिल्कियत—इन सब का त्याग कैसे करूँ ?' लोभवृत्ति और वैभवासक्ति जीवात्मा को सर्वत्याग तो क्या, आंशिक त्याग भी नहीं करने देती ! रुकावट पैदा कर देती हैं।

शायद यह लोभ—यह ममता छोड़ भी दे जीवात्मा, पर यदि रसनेन्द्रिय के विषयों की आसक्ति बंधी होगी तो भी सर्वत्याग की राह पर कदम उठाने को वो तैयार नहीं हो सकता। 'मन चाहे खटमधुरे रसास्वाद श्रमण जीवन में नहीं मिलेंगे—वहां तो निर्दोष भिक्षावृत्ति से जीना होता है—' यह विचार उसे रोक देता है त्याग के रास्ते पर चलने से।

मान लिया कि जीवात्मा रसनेन्द्रियविजेता हो गया—पर यदि सुखाकारिता उसे अच्छी लगती है तो भी सर्वत्याग के सर्वविरति के रास्ते पर वो नहीं जा सकेगा। उसे गर्मियों में चाहिए शीतलता और सर्दियों में गर्मी—। श्रमण जीवन में ऐसे सुविधापूर्ण मकान कहां से मिलेंगे ? उसे चाहिए मुलायम-मखमल की शय्या, साधु को सोना होता है जमीन पर एकाध ऊनी वस्त्र या कंबल बिछाकर। उसे चाहिए इत्र फूलों की सुगंध—श्रमण का इत्र वगैरह से क्या वास्ता ! उसे चाहिए चंदन के विलेपन—साधु नहीं कर सकता चंदनादि के लेप-विलेपन। उसे चाहिए शयनसहचरी—जबकि श्रमण को तो मन-वचन-काया से ब्रह्मचर्य का पालन करना होता है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त होने पर भी ये राग-मोह-रस ऋद्धि-सुखाकारिता और वैभवासक्ति आदि दोष जीवात्मा को दुःखी करते रहते हैं। ये दोष सम्यग्चारित्र के रास्ते में अवरोध पैदा करते रहते हैं। इसलिये विरतिधर्म की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है। जो वीर और धीर पुरुष मोह-राग इत्यादि दोषों पर विजय पा लेता है वो ही सर्वत्याग की कंटीली राह पर चल सकता है।

विजय वैराग्यमार्ग पर

श्लोक : **तत्प्राप्य विरतिरत्न वैराग्यमार्गविजयो दुरधिगम्यः ।**
इन्द्रिय-कषाय-गौरव-परिषह-सपत्नविधुरेण ।।१६४।।

अर्थ : वो विरतिरत्न पा लेने पर भी, इन्द्रिय-कपाय-गारव और परिपह शत्रु की व्याकुलाहट के कारण, वैराग्यमार्ग का विजय काफी दुर्जय होता है ।

विवेचन : हिसा–असत्य–चोरी–अब्रह्म और परिग्रह का त्रिविध–त्रिविध त्याग कर दिया, रात्रिभोजन का सर्वथा त्याग कर दिया । भिक्षावृत्ति से जीवन–निर्वाह कर रहा हूँ—नगे पैर पैदल विहार कर रहा हूँ—केशलू चन करवा रहा हूँ—फिर भी अतरात्मा मे से राग–द्वेप की वृत्तिया दूर नही होती—वैराग्य भावना स्थिर नही बनती, विरक्ति वृद्धिगत नही बनती ।

सर्वविरतिमय श्रमणजीवन अगीकार करने के पश्चाद् भी, इन्द्रियो की स्वच्छदता, कपायो की प्रवलता, गारवो की लोलुपता और परिसह सहने की कायरता इतनी तो दृढ हुई है कि इसके कारण वैराग्य की भावना स्थिर रहती ही नही । अलबत्ता, मैने स सार का त्याग तो वैराग्यभाव से प्रेरित होकर ही किया है और श्रमणजीवन अगीकृत किया है, लेकिन इतने से ही तो वैराग्यभाव स्थिर नही होता !

श्रमणजीवन मे श्रमण या श्रमणी को पाच इन्द्रिय के अनेक प्रिय–अप्रिय विपयो के स पर्क मे आना होता है । कभी मीठे शब्द सुनने मिलते है—तो कभी कटु शब्द भी कर्णपट पर गिरते है ! कभी सुन्दर रूप नजर आता है तो कभी वदसूरती भी दिखती है ! कभी मनचाही-मनपसन्द भिक्षा मिल जाती है तो कभी मूँह मे न जाये वैसी ! कभी सानुकूल निवास मिलता है तो कभी बिलकुल प्रतिकूल ! कभी अच्छे से वस्त्र–पात्र मिलते है तो कभी खराब! यह परिस्थिति हर एक साधक आत्मा के ईर्दगिर्द होती है । उस समय राग–द्वेष मे न वहते हुए मन को स्वस्थ और विरक्त बनाये रखना कितना कठिन है, यह तो मै अच्छी तरह जानता हूँ क्योकि मैं खुद श्रमण हू !

भ्रान्त हो जाता है, अभिमान पीडा देता है, माया सताती है, और लोभ दशा मजबूत है, मैं इन कषायों को 'संज्वलन' कक्षा के मानकर मन को मसोसता हूँ! 'छठ्ठे गुणस्थानक पर तो संज्वलन के कषाय होते ही' यों कहकर और दूसरो को समझा कर, उन कषायो का सहारा ले लेता हूँ। कभी भी आत्मचिंतन करके निर्णय नही किया कि 'क्या मैं छठ्ठे गुणस्थानक पर हूँ ?' मात्र व्यवहार से मैं चाहे छठ्ठे गुणस्थानक पर होऊँ पर कषायो का संबंध व्यवहारिक गुणस्थानको के साथ नही है, निश्चय से जीवात्मा पहले गुणस्थानक पर हो और व्यवहार से छठ्ठे गुणस्थानक पर हो तो उसके कषाय तो 'अनंतानुबंधी' कक्षा के ही रहेंगे!

रसगारव, ऋद्धिगारव और शातागारव के गहरे कीचड मे फसता ही जा रहा हूँ। मीठा और खट्टा, तीखा और कसैला सभी रस मुझे प्रिय हैं। कभी मीठा रस अच्छा लगता है तो कभी खट्टा रस! कभी कडुआ तो कभी कसैला! रस को लेकर कितने प्रबल राग–द्वेष होते हैं, यह मै जानता हूँ। ऐसी राग–द्वेष की परिणति मे वैराग्यभाव भला टिक भी कैसे सकता है ?

साधुजीवन की ऋद्धि होती है मान–सम्मान और भक्तगण! मेरे इतने श्रीमंत भक्त हैं—मेरे उपदेश से इतने मंदिर बंधे है, इतने उपाश्रय बने है, ऐसी मनोदशा मे वैराग्य जीवंत कैसे रहेगा ?

शातागारव यानि सुखाकारिता। ज्यो गृहस्थ वर्ग मे सुखाकारिता बढती जाती है त्यों त्यों श्रमणसंघ मे भी सुखशीलता बढती है। 'हमे ऐसी सुविधा चाहिए—हमे इतनी अनुकूलता चाहिए ही। ऐसी हवा और प्रकाशवाला मकान चाहिए, हमे विहार मे ऐसी सुविधा चाहिए हमे ऐसे पात्र चाहिए, ऐसे ही अनुकूल उपकरण चाहिए, कोई भी प्रतिकूलता सहनी नहीं हैं, सुख से जीना है! फिर वैराग्यभाव बढेगा कैसे ? राग और द्वेष ही बढ़ेंगे न ?

परिग्रह सहन करने कहाँ है ? बाइस परिषहो मे से एक भी परिषह सहना नही है। स्वेच्छया परिषह सहन जाता नहीं हूँ, कभी अकस्मात कोई परिषह सहना आता है तो उसमे अपने आपको दूर रखता हूँ, परिषहो को दाना दुश्मन मानता हूँ।

यो इन्द्रियो की परवशता मे, कपायो की उद्विग्नता मे, गारवो की रसिकता मे और परिषह सहने की कायरता मे मन व्याकुल ही वना रहता है। चचल और अस्थिर हुआ जाता है। किस तरह आगे वढू वैराग्य के मार्ग पर ? किस तरह वैराग्य की अपूर्व मस्ती मे झूमू ?

'सर्वविरति' प्राप्त होनी अत्यन्त कठिन है, उसके मिलने पर भी वैराग्यभाव पर विजय प्राप्त करना यानि आत्मा के प्रदेश-प्रदेश मे वैराग्यभाव को स्थापित करना काफी मुश्किल है। वडा कठिन कार्य है, असाध्य सी वात है। इन्द्रियो को जीतने के लिये चलते है तो कषाय प्रवल हो जाते है और कषायो को कुचलते हैं तो गारव गला पकड लेते है ! उन गारवो के साथ मुकावला करते है तो परिपह घेर लेते है। कितनी करुणा छा गयी है साधकजीवन मे ?

श्लोक : तस्मात्परिषहेन्द्रिगौरवगणनायकान् कषायरिपून् ।
क्षान्तिबलमार्दवार्जवसन्तोषैः साधयेद्धीरः ॥१६५॥

अर्थ : अत धीर पुरुप को परिपह-इन्द्रिय और गारवसमूह के नायक कषायशत्रुओ को क्षमा-मार्दव-आर्जव और सतोप रुपी सैन्य से जीतना चाहिए।

विवेचन : 'मुझे वैराग्यमार्ग पर विजय प्राप्त करना है', ऐसे कडे सकल्प के साथ यदि तुम इन्द्रिय-कपाय-गारव और परिषह के सामने युद्ध खेलोगे तो विजयश्री निश्चितरूप से तुम्हे ही वरेगो !

एक महत्व की और गम्भीर वात सुन लो . तुम्हे न तो इन्द्रियो के सामने लडना है और नही गारव या परिषहो के साथ युद्ध करना है ! तुम्हे झुझना है मात्र कषायो के सामने ! कषायो पर विजय पा लिया फिर वस, इन्द्रियाँ अपनेआप शात होती चलेगी। रसगारव-ऋद्धिगारव और शातागारव की रसिकता फीकी पड़ जायेगी और परिषह सहने की शक्ति भी तुम्हारे तन-वदन मे फिर से उभरने लगेगा।

तमाम आतर शत्रुओ के सेनापति हैं ये चार कषाय। क्रोध-मान-माया और लोभ। सेनापति पर विजय पा लिया तो फिर सेना तो दुम दवाकर भाग खडी होगी। क्रोध-मान-माया और लोभ पर विजय

पाने के लिये, सात्विक होकर साधक को झूझना चाहिए। साधक म धय, सत्व होना जरुरी है। जिसे वैराग्यमाग पर निश्चित और निभय बन कर चलना है उसे अधीर होने से नही चलेगा। उसने डरपाक बनने से काम नही होगा।

कषायो के साथ लडने से पूव 'ये कषाय मेरे शत्रु हैं, मैं मेरे जीवन मे कभी भी इन कषाया का सहारा नही लू गा। मुझे कषाया की लाह् जाल मे से छुटकारा पाना है।' ऐसा तुम्हारा दृढ सकल्प होना अत्यन्त आवश्यक है। कषायो के प्रलाभन मे मन ललचा गया कभी, तो तुम नही जीत पाओग कषायो को। बल्की तुम स्वय हार जाओग कषाया के आगे और घुटने टक दोगे। अनन्त अनन्त जन्मा मे जीवात्मा कषाया का सहारा ले रहा है, कषायो की शरण मे जी रहा है, उसके प्रगाढ स स्कार जीवात्मा पर अपना पूरा असर लिये जमे हुए ह। उन पर विजय पाने के लिये, उन कषायो का नाश करने के लिये बहुत सावधानी बरतनी होगी। बहुत जागत रहना होगा। किसी भी रूप मे आकर के कषाय तुम्ह फास न जाये इसलिये हर एक पल जगना हागा।

तुम क्षमा के द्वारा क्रोध पर विजय पा सकोगे। नम्रता के द्वारा मान पर विजय प्राप्त कर सकोगे। सरलता–सहजता के द्वारा माया को हरा सकोगे और सन्तोष के द्वारा लोभ को भगा सकोगे। क्षमा, नम्रता, सरलता और सन्तोष, इन चार योद्धाओ का सहारा ले लो।

सहारा लेन मे पहले इन चारा मे तुम्ह पूरा भरासा करना होगा। हमेशा हमेशा के लिये इन चारो के साथ जीने की तुम्हारी तैयारी होनी चाहिए। आज दिन तक जसा विश्वास क्रोध मे रखा था, अब क्षमा म वसा ही विश्वास रखना होगा। जसा विश्वास अभिमान मे था उतना ही नही बल्कि उससे कही अधिक भरोसा नम्रता मे करना होगा। जितना भरोसा माया–कपट मे करते रहे अब सरलता–सहजता म उतनी ही मजबूत श्रद्धा रखनी होगी और जितनी श्रद्धा लोभ मे थी उतना विश्वास–वैसी श्रद्धा सन्तोष मे रखनी होगी। तो ही तुम इन चार कषायो पर विजय प्राप्त करने के लिये सक्षम हो पाओगे।

१ क्रोध से भूतकाल मे हुए नुकसानो का, वर्तमान मे हो रहे गैरलाभ का और भविष्य मे होने वाले अपायो का विचार करो। क्रोध से तुम्हे नुकसान होता है, यह विचार करो। उनके सामने क्षमा की साधना के लाभ का चितवन करो।

२ मान–अभिमान की तीव्र भावनाएं कितना और कैसा कैसा नुकशान पैदा कर देती है, उनके ढेरो दृष्टात नजर के आगे रखो। मान–अभिमान से तुमने तुम्हारे कैसे मानसिक और पारिवारिक सुख गँवाये, उसका गभीरता से चितन करो। और उसके साथ ही नम्रता से तुम श्रेष्ठ चित्तशान्ति पा सकते हो, उसकी अनुभूति करो।

३ माया–कपट से होने वाले बाह्य–भौतिक लाभ से कही ज्यादा गैरलाभ शारीरिक और मानसिक, सामाजिक और राजनैतिक स्तर पर होते है—यह बात तुम स्वस्थ मन से सोचोगे तो जरूर समझ पाओगे। उस धूर्तता की वासना को निर्मूल बनाने के लिये सरलता–आर्जवता का सहारा लो। सरलता निष्कपटता से डरो मत। तुम लुट नही जाओगे। बरबादी की जगह तुम्हे आबादी मिलेगी।

४ लोभ सारे दोषो की जननी है। लोभ के इतने लाभ इन्सान के दिमाग मे मडरा रहे है कि सन्तोष या तृप्ति की बाते उसे सुहाती ही नही! जब तक तुम्हारा पुण्योदय है तब तक तुम्हे लोभ-लालच मे सुख मिलता दिखाई देगा। पुण्यकर्म क्षीण होने पर वही लोभदशा तुम्हे पीडा के पाश मे जकड लेगी। इसलिए अभी से सन्तोष का सहारा लेकर लोभदशा से छुटकारा पा लो।

धैर्यशील, सत्वशील बनकर कषायशत्रुओ के साथ झूझना है। अतिम विजय तुम्हारी है। यदि तुम बे–थके, बे–हारे डटे रहे तो!

श्लोक : **संचित्त्य कषायाणामुदयनिमित्तमुपशान्तिहेतुं च।**
त्रिकरणशुद्धमपि तयोः परिहारासेवने कार्ये ॥१६६॥

अर्थ : कषायो के उदय के निमित्तो को और कषायो के उपशम के निमित्तों का भलीभाँति विचार करके, मन-वचन-काया की शुद्धि से, कषाय-उदय के निमित्तो का त्याग और उपशम के निमित्तो का सेवन करना चाहिए।

विवेचन 'ये क्रोध–मान–माया और लोभ कान कौन से निमित्त पाकर उत्पन्न होते है ?' इसका पूरी गभीरता से विचार कर लेना चाहिए । चूंकि, क्रोधादि कषाय आतर–बाह्य निमित्त पाकर पैदा होते हैं । यदि मनुष्य को कषायो का समूलोच्छेद करना है तो उसे चाहिए कि वो कषायो का उत्पन्न होने से ही रोक दे ! जिन जिन निमित्तो को पाकर कषाय जन्म लेते हैं उन उन निमित्तो का ही त्याग – परिहार करना होगा !

इसी तरह अज्ञानतावश या प्रमादवशात् कोई ऐसा निमित्त, ऐसा आलबन मिल गया—ले लिया और कषाय हो गये तो उन कषायो को शान्त उपशान्त करने के उपाय सोच लेने चाहिए, उन्ह अमली बना लेने चाहिए । उन विचारो को पहले ही से अभ्यस्त कर लेने चाहिए।

आग न लगे इसका पूरी सावधानी बरतते हो न ? और अचानक आग लग जाये तो उसे बुझाने के लिये 'फायर ब्रिगेड' तयार होता है। अग्निशामक साधन–सुविधाए तयार रखते हो न ? जसे आग सवनाश कर डालती है वसे कषाय भी सवनाश करते हैं । सवनाश करने वाले तत्त्वो से तुम कितने सजग रहते हो ? तो फिर कषायो से भी तुम्ह इतना ही सावध रहना चाहिए । कषायो के उत्पन्न होने के कुछ निमित्त मैं तुम्ह यहा पर बता देता हूँ ताकि तुम सावध रह सको ।

१ जब तुम्हारा इच्छित नही होता है तब तुम्ह क्रोध आ जाता है न ? तुम्ह जिस व्यक्ति से जिस काय की अपेक्षा है वो काय वो व्यक्ति यदि नही करता है या फिर जसा तुम चाहते हो वसा नही करता है तो तुम्हे गुस्सा आ जाता है न ? जो तुम्ह फूटी आखो नही सुहाता ऐसा व्यक्ति यदि तुम्हारे घर चला आये तो तुम नाराज हो जाते हो न ? तुम अपने प्रिय या विश्वसनीय व्यक्ति से कुछ मागते हो, उसके पास वस्तु होने पर भी वो देने से इकार कर देता है, तब तुम्ह बुरा लग जाता है न ? एसे ऐसे कई निमित्त होते हैं, कारण होते हैं ससार मे, उन प्रसगो को या तो टाल दो, या फिर ऐसी घटनाओ के वक्त अपने आपको स्वस्थ बनायें रखो ।

२ कोई जब तुम्हारा अपमान करता है या फिर जिनसे तुम्ह मान-सम्मान की अपेक्षा है उनसे वह मिलता नही है तब तुम्हारा

अभिमान प्रगट होता है ! इस 'अभिमान' की भावना का मूल कारण है 'अहं' की गहरी भावना ! 'मैं कुछ हूँ—' I am something यह विचार काफी खतरनाक है। यदि आदमी 'अहं' के इस ख्याल को दिल की जमीन मे से खोद निकाले और बाहर फेंक दे तो ही मान—अभिमान से बचा जा सकता है। मनुष्य यदि हमेशा नम्र बना रह सकता है तो वो मान-कषाय पर विजय पा सकता है। अपने अपकर्मों का—अपने दोषो का खयाल यदि जीवन रहे, जागृत रहे तब ही नम्रता आ सकती है।

३ माया—कपट करने का मन तब होता है कि जब उसे मनचाही वस्तु या व्यक्ति सरलता से—सुलभता से नही मिल पाता है। उस वस्तु—व्यक्ति को पाने के लिये मनुष्य अधीर हो गया हो, आतुर बन चुका हो, वो अधीरता और आतुरता मनुष्य को माया—कपट करने के लिये प्रेरित करती है। दगा—धोखा करने को कहती है। पर-द्रव्य की तीव्र स्पृहा मे से माया—कपट की वृत्ति पैदा होती है और बढती है। जो मनुष्य इस स्पृहा मे से मुक्त होने का प्रयत्न करता है, अपनी किस्मत पर पूरा भरोसा रखते हुए जीता है, तो उसे छलावे का, माया का विचार सताता ही नही। माया करने से बचने वाले कुटिल कर्मों का चितवन करो।

४, लोभ होने के अनेक निमित्त है। अनेक निमित्तो का एक ही कारण है—वह है परपुद्गल की आसक्ति। आत्मा का अज्ञान—आत्म-गुण और आत्मशक्ति का अज्ञान। यह लोभ कषाय इतना तो प्रबल कषाय है कि उसे काबू मे लेने के लिये 'सन्तोष' का साथ एक पल भी नही छोडा जा सकता। सन्तोष से ही लोभ को जलाया जा सकता है। सन्तोष—तुष्टि लोभ को दूर दूर भगा देती है।

इन कषायो के उदय मे आने के जो जो निमित्त हो उन—उन निमित्तो से दूर रहना चाहिए। मन—वाणी और वर्तन से उन निमित्तो का त्याग करना चाहिए। मन मे भी यह कषाय न घुस जाय, उसकी सावधानी बरतनी चाहिए।

कषायो को शान्त करने वाले उपायो का आसेवन भी मन—वचन और काया से करना चाहिए, निष्ठा और लगन से करना चाहिए।

आत्मसकल्पपूर्वक यदि उन उपायों को कारगर किया जाय तो अवश्यमेव कषायों की प्रबलता घटेगी ही।

राग, द्वेष और मोह अजगरो के कातिल जहर को दूर करने के लिए क्षमादि धर्मों का आसेवन जीवनपर्यंत करना होगा। दृढ निर्धार के साथ करना होगा।

दशविध धर्म

श्लोक सेव्य क्षान्तिमार्दव-मार्जव शौचे च सयमत्यागौ।
सत्य-तपो-ब्रह्माकिञ्चन्यानीत्येष धर्मविधि ॥१६७॥

अर्थ क्षमा मार्दव आर्जव, शौच सयम, त्याग सत्य तप ब्रह्मचर्य और अकिंचनता, इस धर्मविधि (धर्म के प्रकार) का सेवन करना चाहिए।

विवेचन राग-द्वेष और मोह, सारे दुख और सारे क्लेशों के मूल कारण है। इन कारणो को दूर करने के लिये इन दोषो को आत्मभूमि मे से उखाड फेंकने के लिये दस तरह का धर्म जिनेश्वर भगवन्तो ने बताया है।

१ क्षमा—कोई तुम्हे गाली दे, कोई तुम्हारा अपमान करें, तुम पर प्रहार करे, तुम सहन करो। गाली देने वाले की ओर, अपमान करने वाले की ओर, प्रहार करने वाले की ओर तुम देखो तो भी करुणा से छलकती निगाह से देखो। उनके प्रति रोष या गुस्सा, नाराजगी या दुराव मत रखो। सहने की और क्षमा करने की शक्ति को बढाते रहो।

२ मार्दव—मान कषाय पर विजय प्राप्त करो! मृदु बनो। हृदय को कोमल—मुलायम बनाओ। मान-अभिमान हृदय को कठोर बना देते हैं। कठोर दिल मे सदगुणो के बीज अकुरित नही होते। तुम तुम्हारी नम्रता को यथावत रखने के लिए प्रयत्नशील बन रहो। इसके लिये तुम खुद के दोषो को देखा करो। दूसरो के गुण देखा। मैं अनत अनन्त दोषो से भरा हूँ! यह ख्याल तुम्हे विनम्र बनाये रखेगा।

३. आर्जव—सरल वनो। वच्चो जैसी सरलता जीवत रखना, एक महान धर्म है। वच्चा कितना निर्दोष होता है! वो जैसा आचरण करता है, मा से सव कुछ कह देता है, वैसे ही तुम गुरुजनों के समक्ष वालक वनकर जैसे और जितने दोष लगाये हो, वो उसी रूप मे व्यक्त कर दो। किसी भी पाप को भीतर मे छुपाये मत रखो। इस तरह की सरलता तुम्हे प्रसन्न रखेगी, अनेक पापों से तुम्हे वचा के रखेगी।

४. शौच—पवित्र वनो। लोभ तुम्हे अपवित्र वना देता है। तृष्णा तुम्हे गन्दा वना डालती है, इसलिये लोभ–तृष्णा का त्याग करो। आन्तरिक पवित्रता–विशुद्धि प्राप्त करने के लिये कृतनिश्चयी वनो। मात्र वाह्य शरीर की शुद्धि करके ही कृतार्थ न वने रहे, अपितु आतर विशुद्धि के लिए सतत प्रयत्नशील रहना शौचधर्म है।

५. संयम—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से विरत होना, पाच इन्द्रियों का निरोध करना, चार कषायो को उपशान्त करना एव मन–वचन–काया की अशुभ प्रवृत्तियो को रोकना, इसका नाम है सयम। दृढतापूर्वक सयमधर्म का पालन करते रहना चाहिए।

६. त्याग—किसी भी जीवात्मा की हत्या मत करो। किसी जीवात्मा को वधन में मत वाधो। जीवो के साथ दयापूर्ण व्यवहार करो। त्याग का एक पहलू यह है, जवकि दूसरा पहलू है सयमी साधु पुरुषो को कल्पनीय भोजन, वस्त्र, पात्र इत्यादि देना। साधु अन्य साधुओ को प्रासुक भोजन वगैरह दे। देना=त्याग।

७. सत्य—हितकारी वोलो। स्व-और पर के लिए जो हितकारी हो वैसा वोलो। कुछ ऐसी वाते हो जो तुम्हारे लिये हितकारी है पर अन्य के लिए अहितकर है, वैसी वाते मत करो। विसवादी वाते मत करो। असत्य मत वोलो। सत्यनिष्ठा को महान् धर्म मानो। सत्य वोलने से डरो मत।

८. तप—तप करते रहो। तुम्हारे कर्म नष्ट होगे। पर एकांगी तपस्वी मत वनना। वाह्य तप के साथ आभ्यंतर तप की आराधना को जोड़ देना। अलवत्ता, वाह्य तप आभ्यतर तप मे पहुँचने के लिए ही है। वाह्य तप आभ्यतर तप मे सहायक होना चाहिए।

९ ब्रह्मचर्य—ब्रह्मस्वरूप आत्मा में विहरने के लिए तुम्हें अब्रह्म-मैथुन से निवृत्ति लेना होगा। मैथुन का त्याग मन से भी करना होगा। यानि की मैथुन के विचार भी नहीं करने के हैं तुम्हें। ऐसे ही स्थान में रहना चाहिए कि जहां ऐसा ब्रह्मचर्य का तुम सरलता से पालन कर सको। भोजन भी वैसा ही करो। तपश्चर्या भी वैसी करो। अध्ययन भी वैसा, दर्शन-श्रवण-पठन सब कुछ वैसा होना चाहिए जिससे तुम ब्रह्मचर्य का पालन भली भांति कर सको। ब्रह्मचर्य का पालन तुम्हारे तन-मन को तन्दुरस्त बनाये रखेगा और तुम परमब्रह्म की लीनता में दिन ब दिन आगे बढ़ सकोगे।

१० आकिंचन्य—अपरिग्रही बनो। मूर्च्छा का त्याग करो। ममता आसक्ति का त्याग करो। तुम यदि श्रमण-श्रमणी हो तो तुम्हें संयम के उपकरणों के अलावा कुछ भी न तो ग्रहण करना है, नहीं उसका संग्रह करना है। किसी भी पुद्‌गल-पदार्थ पर ममता न हो जाय इस बात की पूरी सावधानी बरतते हुए जीना है।

धर्म के ये दस प्रकार वैसे तो संसारत्यागी श्रमण-श्रमणी की आराधना के लिए निर्दशित है। गृहस्थ भी अपनी योग्यता और भूमिका के अनुसार इसकी आराधना कर सकते है।

भूतकालीन पापों को नष्ट करने के लिए, वर्तमानकालीन जीवन को निष्पाप एवं प्रसन्नतापूर्ण बनाने के लिए, धर्म के ये दस प्रकार अद्‌भुत उपाय है! जो श्रमण और श्रमणी इन दस प्रकार के धर्म का मन-वचन-काया से आराधना करते हैं वे अवश्य सुख-शांति और गुण समृद्धि को प्राप्त करते हैं।

दया धर्म को मूल है

श्लोक धर्मस्य दया मूलं न चाक्षमावान् दयां समादत्ते।
तस्माद्यः क्षान्तिपरः स साधयत्युत्तमं धर्मम् ॥१६८॥

अर्थ धर्म का मूल दया है जो क्षमाशील नहीं होता है, वो दया का धारण नहीं कर सकता है। अतः जो क्षमाधर्म में तत्पर है वो उत्तम धर्म की साधना कर सकता है।

विवेचन किस लिए क्रोधी बनते हो ? क्यो आखिर, किसी जीवात्मा के साथ वैर–दुश्मनी की गाठ बांध रहे हो ? तुम्हे पता है ऐसा करके तुम खुद अपने आपका नुकसान कर रहे हो ? तुम्हारा मन बेकाबू हो जाता है, तुम्हारा खून खौल उठता है। इसका असर अकसर तुम्हारी वाणी पर गिरता है और तुम्हारे आचरण पर होता है। तुम न बोलने का बोल देते हो, न करने का आचरण कर लेते हो, इससे तुम्हारी मानवता लज्जित होती है। इससे तुम्हारी साधुता कलकित होती है।

तुम तो कर्म के सिद्धात को समझे हो न ? गुस्से के आवेश मे, और वैर की गाठे बाधने मे कितने पापकर्म बधते हैं उसका तुमने कभी स्वस्थ मन से विचार किया है ? बधे हुए पापकर्म जब उदय मे आते हैं तब जीवात्मा को कैसे २ घोर दुःख सहने पडते हैं, यह सोचा है कभी ? क्यो तुम उपशान्त नही होते ? इर्ष्या–रोष–परिवाद–अवर्णवाद वगैरह करके कौन सा सुख तुमने पा लिया ? कोई क्षणिक सुख या मौज पा भी ली तो भले ! पर इसके बाद क्या ? अशाति और सन्ताप ही भोगना पडता है न ?

क्षमाधर्म को आत्मसात् करो। तुम्हारे अपराधी को भी क्षमा करो। क्षमा की शक्ति पर विश्वास रखो। श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने कैसे कैसे गुनहगारो को भी क्षमा कर दिया था, यह क्या तुम नहीं जानते हो ? ऐसी अद्भूत क्षमा प्राप्त करने के लिए रोजाना निम्नलिखित पाच विचार करो।

१ क्षमा गुण रत्नो की पेटी है। क्षमा की पेटी मे गुणरूपी रत्न भरे पडे है। मैं उस पेटी को कभी भी नही खोऊगा। वह पेटी तो हमेशा मेरे पास ही रहेगी।

२ मेरे श्रमण–जीवन के बगीचे को हराभरा रखने वाली क्षमा तो पानी की नीक है। उस नीक मे से बहता पानी मेरे श्रमणजीवन के उद्यान को नवपल्लवित बनाये रखता है।

३ कोई भी जीवात्मा मेरा दुश्मन नही है। सचमुच, मेरे दुश्मन तो मेरे अपने कर्म ही हैं, जीव तो निमित्त मात्र है। मेरे पाप कर्म ही मेरा नुकसान करवाते है और फिर उन पापकर्मो का उपार्जन भी तो मैंने खुद ने ही किया है !

४ मैं दूसरो के दोप देखता हूँ, दूसरा की गल्तिया देखता हूँ—इसलिए मुझे उनके प्रति दुर्भावना—नफरत पैदा हो जाती है। अव मैं किसी के भी दोप नही देखु गा। दूसरा के मात्र गुण देखु गा, और दोप देखु गा मेरे अपने,खुद के।

५ मैं क्षमाधम मे स्थिर वनु गा। क्षमा मुझे पाप कर्मो के वधन मे वचायेगी। मेरे पापकर्मों की निजरा होगी। क्षमा से मैं सभी जीवात्माओ के साथ मत्री का नाता जोड सकू गा। क्षमा की गाद मे मैं समतामृत का पान करु गा। श्रमण भगवान महावार स्वामी ने कहा है

"य उपशाम्यति, अस्ति तस्याराधन, या नोपशाम्यति नास्ति तस्याराधन, तस्मादात्मनोपशमितव्यम् ।"

जो क्षमा देता है, कपाया का उपशान्त करता है वा आराधक ह। जो कपायो को उपशात नही करता है वो आराधक नही हो सकता। इसलिए, मोक्षमाग के आराधक वनने के लिए आत्मा को उपशात करे।

एक वात हमेशा याद रखनी है कि क्षमारहित जीवात्मा, दया-धम का पालन नही कर पाता कि जो दयाधम सारे धर्मो का मूल है। दया—अहिंसा धम का लक्षण है। धम का मूल है। क्षमाशील जीवात्मा ही जीवदया का समग्रतया पालन करने के लिए समथ वन सकता है।

श्रमण को तो क्षमाश्रमण कहा गया है। हमेशा जो क्षमा की समग्रतया साधना—आराधना करता रहे, उसे ही श्रमण कहा जाता है। श्रमण को ता सम्पूण दयाधम का पालन करने का है। दया का आत्मपरिणाम तव ही अखड—अक्षुण्ण रह सकता है, यदि क्षमा का आत्मभाव अविकल रहे तो। चारित्रधम, एक उत्तम धम है, श्रेष्ठ धम है, उस धम की आराधना करन के लिए क्षमाशील श्रमण ही सक्षम हो सकता है। जिसन क्षमाधम को जाना नही, समझा नही, अपनाया नही, वो दया धम की उपासना करेगा भी तो कैसे ?

चाहे जसे सजोग पैदा हो जाये, चाहे जसी परिस्थितिया निर्मित हो जाय, तुम अपन,क्षमाभाव का खो मत देना। क्षमा का अमूल्य खजाना सुरक्षित रखना। क्रोध लूटरे से इसे वचाय रखना।

श्लोक : विनयायत्ताश्च गुणाः सर्वे विनयश्च मार्दवायत्तः ।
यस्मिन् मार्दवमखिलं स सर्वगुणभावत्वमाप्नोति ।।१६९।।

अर्थ : सभी गुण विनय के अधीन है और विनय मार्दव के वश में है। (अत) जिस में पूर्ण मार्दवधर्म होता है वो सभी गुणो को प्राप्त कर लेता है।

विवेचन · तुम्हे गुणसमृद्ध होना है ?

गुणसमृद्ध बनने की तुम्हारी तमन्ना है ?

आत्मगुण का खजाना तुम्हे खोजना है ?

—तो तुम्हे विनयी होना होगा। विनय गुण को आत्मसात कर लो। जो महापुरुष सम्यग् दर्शन–ज्ञान–चारित्र की जीती जागती प्रतिमा से है, जो मोक्षमार्ग की आराधना मे सदैव उद्यत रहते है, उन महापुरुषो का तुम विनय किया करो। उनके प्रति अहोभाव-आदरभाव धारण करो।

ज्ञानसमृद्ध श्रद्धावान और चारित्रशील महापुरुषो के प्रति तुम्हारे भीतर मे तब ही अनुराग जगेगा जब तुम मानविजेता बन पाओगे! कोई न कोई शक्ति, कोई न कोई वैशिष्टय, या कोई न कोई पदसत्ता को लेकर यदि तुम गर्वोन्नत होगे, तुम विनयधर्म की आराधना कदापि नही कर सकते। पूज्य पुरुषो के प्रति आदरभाव तो ठीक, उनका औपचारिक विनय भी नही कर पाओगे ।

अभिमानी आदमी गुरुजनो का अनादर करता है। अहकार से उन्मत्त जीव अन्य जीवो का तिरस्कार करता रहता है। आत्मकल्याण की पगडडी पर ऐसे जीवात्मा नही चल सकते। आत्मा के साथ उनका कोई सबध ही नही रहता। उसका सम्बन्ध होता है आत्मा से अलग बाहरी दुनिया के साथ! या तो वो 'जाति' के मद से मत्त बना होगा, या फिर 'उच्च कुल' का अभिमान उसे मगरुर बनाये रखता होगा! शायद खूबसूरती या ताकत का गर्व उसे गर्वोन्नत रखता हो! यदि

'लाभान्तराय कर्म' के क्षयोपशम से उसे लाभ प्राप्त होता होगा तो वो उसका भी अभिमान करेगा। विचक्षण बुद्धि और विशद शास्त्रज्ञान भी उसे अभिमानी बना सकते हैं। ग्रन्थकार महर्षि ऐसे जीवों को 'मदान्ध' कहते हैं। मद से अन्ध बने जीव आत्मतत्त्व को नहीं समझ सकते। परमात्मतत्त्व के साथ उनका सौगन्ध खाने जितना रिश्ता भी नहीं होता। वे मोक्षमार्ग पर तो ठीक, संसार के मार्ग पर भी सुख शांति और समृद्धि को प्राप्त नहीं कर पाते।

यदि तुम्हारा हृदय मृदु होगा, तुम विनम्र होंगे तो ही तुम विनीत बन पाओगे। विनीत बनोगे तो ही अनंत गुणसमृद्धि तुम्हें मिल पायगी।

स्वाभिमान छोड़ दो। पर-पदार्थ को लेकर किसी भी तरह का अभिमान करने जैसा नहीं है। स्व-उत्कर्ष और पर-अपकर्ष के द्वारा तुम पापकर्म बांधोगे। प्रगाढ़ पापकर्म बंध जायगे। साधना की राह से भ्रष्ट होते देर नहीं लगेगी। अभिमानी जीवात्मा मोक्षमार्ग का पथिक हो ही नहीं सकता।

विनम्र बनो। विनम्र बनने के लिये खुद अपना आंतरनिरीक्षण करो। तुम जब अपना आपका स्वस्थता से, एकाग्रता में निरीक्षण करोगे तो तुम्हें खुद के भीतर ढेरों कमियां महसूस होंगी। अगिनत दोष जब तुम्हारी नजर में चढ़ेंगे तब तुम्हें तुम्हारी आत्मा बौना दिखायी देगी।

विनम्रता से अभ्यस्त होने के लिये स्वदोष-दर्शन किया करो। परगुणदर्शन हमेशा करो। स्वदोष-दर्शन से स्व-उत्कर्ष गल जायेगा और परगुणदर्शन से परापकर्ष की कल्पनाएं टूटेंगी। स्व-उत्कर्ष की तीव्र लगन और परापकर्ष की उत्कट भावना तुम्हें विनम्र नहीं बनने देती। आत्मा की योग्यता के दरवाजे पर चौकी लगाये बैठी रहती है। स्वोत्कर्ष की लगनी में से अहंकार पैदा होता है। परापकर्ष की भावना तिरस्कार को जन्म देती है। अहंकार और तिरस्कार जीवात्मा का सर्वतोमुखी पतन करवाते हैं। मोक्षमार्ग की आराधना के रास्ते पर तो अहंकार और तिरस्कार का कोई स्थान ही नहीं है।

इसीलिये तो कहता हूं कि स्व-उत्कर्ष की बजाय स्व-अपकर्ष देखो। अपने आप में दोषों का दर्शन करो। स्वदोष-दर्शन करते ही रहो।

स्वदोष-दर्शन से अहंकार की गांठे टूट जायेगी। दोषों को दूर करने की आत्मचिंता जगेगी और क्रमशः उन दोषो को दूर करने का प्रयत्न चालू हो जायेगा। स्वदोष-दर्शन के साथ साथ परगुण-दर्शन का प्रारम्भ भी हो जाना चाहिए। परगुण-दर्शन मे से गुणानुराग का श्रेष्ठ गुण प्रगट होगा। तिरस्कार की कालिमा हल्की होने लगेगी।

हृदय मे से अहंकार और तिरस्कार दूर होते ही मृदुता का संचरण होगा तुम्हारे भीतर। मृदुता-कोमलता तुम्हारे भीतर मे दिव्य और पवित्र विचारो को जन्म देगी। तुम्हारे हृदयमंदिर को स्वच्छ-सुन्दर और आकर्षक बनायेगी।

श्रमणजीवन की आराधना को फलवती बनाने के लिये मृदुता-मार्दव को हृदय मे स्थापित करना अत्यन्त आवश्यक है।

माया छोड़ दो

श्लोक : नानार्जवोविशुद्धयति न धर्ममाराधयत्यशुद्धात्मा।
धर्मादृते न मोक्षो, मोक्षात्परं सुखं नान्यत् ॥१७०॥

अर्थ : आर्जव (सरलता) के बगैर शुद्धि नही होती, अशुद्ध आत्मा धर्माराधना नही कर सकती, धर्म के बिना मोक्ष की प्राप्ति नही होती और मोक्ष से बढकर दूसरा कोई सुख नही है।

विवेचन सरल बनो।

गुरुजनो के समक्ष, भवसागर से पार लगाने वाले सद्गुरु के आगे सरल बनो। जिन सत्पुरुष के सहारे, जिन सत्पुरुष के मार्गदर्शन तले तुम्हे संसार की कैद से छुटकारा पाना है, आत्मा को विशुद्ध बनाना है, उनसे तुम तुम्हारी भीतरी-मानसिक परिस्थिति छुपाने की कोशिश मत करो। तुम्हारी शारीरिक प्रवृत्तियो से, वाचिक प्रवृत्तियो से उन्हे परिचित रखो ही, अपितु साथ ही मानसिक वृत्तियो से भी उन्हें परिचित रखो।

तुम्हे डर लगता है न कि 'मैं मेरी मनोवृत्तियो से उन्हे परिचित करवा दूँगा तो वे मेरे लिए कैसा खयाल बांधेंगे ? मेरे लिये उनके

दिल मे कितनी हल्की धारणा बध जायेगी ? मेरा छुपा पाप खुल जायेगा तो ?' तुम्हे ऐसा डर नही रखना चाहिए। तुम ऐसे सत्पुरुषो के लिये श्रद्धावान रहो कि तुम उनके समक्ष जो कुछ भी निवदन करोगे, वे बातें उनके सागर से पेट मे समा जायेंगी। वे कभी तुम्हारी गुप्त बात दूसरो से नही करेंगे, एसा विश्वास तुम्हे होना ही चाहिए।

वे सत्पुरुष हमेशा सरल-निमायी जीवो को स्नेहभरी दृष्टि से ही देखते हैं। उत्तमता की दृष्टि से ही देखते है। यानि कि 'मै गुरुमहाराज की निगाहो मे गिर जाऊगा, निम्नस्तर का गिना जाऊगा', 'एसा भय तुम्हे नही रखना चाहिए। जो साधक, अपने साधनापथ मे मार्गदर्शक ऐसे सत्पुरुषो को अपनी मन-वचन-काया की एक-एक वृत्ति-प्रवत्ति से परिचित रखते है, वे साधक निरतर साधनापथ पर प्रगति करते रहते हैं। निरतर आतर प्रसन्नता की अनुभूति करते हैं।

निमायी-सरल जीवात्मा ही सही और सच्ची शरणागति स्वीकार कर सकते हैं। मायावी जीवात्मा गुरुतत्त्व की या परमात्मतत्त्व की शरणागति नही स्वीकार कर सकता। शरणागति के बगर समर्पण का उच्चतम भाव प्रगट नही हो सकता। समर्पण के बिना धर्मपुरुषार्थ हो कैसे सकता है ?

माया स्वय एक बडी अशुद्धि है। माया एक प्रचड आग है। माया की आग मे सारी आतर गुण की सपत्ति जलकर राख हो जाती है, सर्वनाश हो जाता है। आतर-विकास का द्वार बद हो जाता है। इसलिये कहा गया कि 'न धर्ममाराधयति अशुद्धात्मा।

अशुद्ध आत्मा, धर्म की आराधना नही कर सकती !

अशुद्ध आत्मा, चाहे बाह्य धर्मक्रियाए करके सतोष मान ले कि 'मैं धर्म करता हूँ' परन्तु वास्तव मे वह धर्म नहीं होता है वरन् धर्म का आभास मात्र-अहसास मात्र होता है।

महापवित्र आगम-ग्रन्थो मे कहा गया है कि 'जीवात्मा को चाहिए कि उसने जिस रूप मे, जिस ढग से, जसा दोषसेवन किया हो—अपराध किया हो, ठीक उसी ढग से, उसी रूप मे विशिष्ट ज्ञानी पुरुष के समक्ष वह बतायें और ज्ञानी पुरुष जो प्रायश्चित कहें उसे स्वीकार करें, एसा

करने वाला जीव शुद्ध-विशुद्ध हो जाता है। जो व्यक्ति एकाध दोष को भी इरादतन-जानबूझ कर छुपाये रखता है—नहीं कहता है, तो उसकी शुद्धि होने से रही। आतर शुद्धि के बगैर धर्मआराधना शक्य नहीं है।

धर्मपुरुषार्थ के बगैर मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। और मोक्ष की प्राप्ति के बगैर अक्षय-अनन्त सुख की प्राप्ति हो नहीं सकेगी।

माया करके, कपट करके, तुम सुख पाना चाहते हो? किसी न किसी सुख की कल्पना से प्रेरित होकर माया करने के लिये तैयार होते हो न? क्या वह सुख अक्षय होगा? वह सुख अनत होगा? नहीं न? वह सुख होगा क्षणिक और मात्र कल्पना का! वह होता है मात्र बाहरी दिखावे का। मायावी आदमी, कपटी व्यक्ति कभी भी आतरिक सुख पा नहीं सकता। माया के साथ अशान्ति जुड़ी हुई है ही। चित्त की चचलता सलग्न ही है।

मायावी आदमी किसी भी धर्मानुष्ठान में एकाग्रता या तल्लीनता नहीं प्राप्त कर सकता। परमात्मध्यान मे स्थिरता प्राप्त नहीं कर सकता। तुम इस अभिगम से अपने आपको जरा जाँचना। यदि तुम जान बुझकर किसी भूल को छुपा के रखोगे तो तुम शांति का अनुभव नहीं कर पाओगे। छुपा छुपा भी कोई न कोई सताप तुम्हे सताता रहेगा!

परम सुख को यदि पाना है तो धर्मपुरुषार्थ करना ही होगा। धर्मपुरुषार्थ करने के लिये माया को तिलाजली देनी ही होगी। ऋजुता-सरलता का जतन अपनी जान सा करना होगा।

बाह्य शुद्धि कैसे करें?

श्लोक : यद् द्रव्योपकरण-भक्तपान-देहाधिकारकं शौचम्।
तद्भवति भावशौचानुपरोधाद्यत्नतः कार्यम् ॥१७१॥

अर्थ : द्रव्य, उपकरण, खान-पान और शरीर को लेकर जो शुद्धि की जाती है वो प्रयत्नपूर्वक इस तरह करनी चाहिए कि जिससे भाव शौच को क्षति न पहुँचे।

विवेचन भावशौच की जरा भी क्षति न हो, भावशौच रहे, इसके लिए प्रतिपल जागृति रखने का उपदेश ग्रंथकार दे रहे हैं। भावशौच का अर्थ है निर्लोभता।

लोभ को धो डालना, लोभ का प्रक्षालन करना, इसका नाम है भावशौच। इस भावशौच को बनाये रखने के लिए, मोक्षमार्ग के पथिक ऐसे श्रमण और श्रमणियों को जो विशेष सावधानी रखनी है, उसका थोड़ा सा दिग्दर्शन मैं यहाँ करवा रहा हूँ।

(१) हे श्रमण और श्रमणी! शिष्य और शिष्या की लालच लपेट न ले तुमको, इसके लिए सावधान रहना। श्रमण भगवान महावीर देव ने जिन जिन पुरुषों को, स्त्रियों को और नपुंसकों को संयमित करने का निषेध किया है उन्हें दीक्षा मत देना। यदि तुम शिष्यलोभ में गत हो गये तो तुम्हारे भावशौच को क्षति पहुँचेगी। अपात्र को, अयोग्य को दीक्षा नहीं दी जा सकती। पात्र आत्मा को भी, योग्य जीव को भी 'इसे मैं मेरा शिष्य करूँ' ऐसे ममत्व से दीक्षा मत देना। जब तक शिष्यमोह दूर न हो तब तक 'गुरु' बनने की सोचना ही मत।

(२) हे साधक और साधिकाएं! सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना में सहायक उपकरण तुम्हें तुम्हारे पास रखने जरूर हैं, परन्तु उनपर आसक्ति न हो जाय इसके लिये तुम्हें जागृत रहना होगा। उन उपकरणों की संग्रह वृत्ति पैदा न हो जाय इसकी भी तुमको सावधानी रखनी होगी। वे उपकरण अधिकरण न हो जाय इसके लिए विचार करते रहना। गृहस्थ लोगों से उपकरण लेते समय जो दोष टालने के हैं, उन दोषों को दूर करके ही उपकरण ग्रहण करते हो तो यह द्रव्य-शौच कहा जायगा और उन उपकरणों पर ममता पैदा न हो तो वह भावशौच होगा।

(३) हे साधु साध्वीगण! तुम्हें अपने देह को टिकाने के लिए भिक्षावृत्ति से जीवन यापन करना है। यदि तुम ४२ दोष टालकर आहार-पानी ग्रहण करते हो तो तुम द्रव्यशौच का पालन करते हो। भिक्षा करने समय यदि राग-द्वेष नहीं करते हो तो भावशौच का पालन करते हो। भोजन करते वक्त–आहार लेते समय भिक्षा में सम्बंधित

पदार्थ को लेकर राग-द्वेष न हो जाय इसकी सतर्कता रखना। राग-द्वेष, भावो की पवित्रता को नष्ट कर देते हैं। यदि तुमने भिक्षा से प्राप्त पदार्थो पर राग किया तो शुभ भाव नष्ट होते देर नही लगेगी, भाव पवित्रता नष्ट हो जायेगी। द्वेष होगा तो भी वैचारिक विशुद्धि नष्ट हो जायेगी।

(४) हे श्रमण और श्रमणी! आवश्यक शरीरशुद्धि करते समय यह ध्यान रखना कि शरीर पर कही ममता न जगे। देह-प्रक्षालन और वस्त्रप्रक्षालन जितना जिनाज्ञाविहित हो उतना ही करना चाहिए। भावशौच को जरा भी आँच न आये उतनी ही देहशुद्धि विहित है। शरीरस्नान तो तुम्हे करना ही नही है। तुम्हारा सच्चा स्नान तो है ब्रह्मचर्य! मन-वचन और काया से यदि तुम ब्रह्मचर्य का पालन करते हो तो तुम्हारी भावपवित्रता अखड रहेगी। तुम मोक्षमार्ग के आराधक हो, तुम्हे ध्यान रहना चाहिए कि तुम्हारे लिए बाह्य शुद्धि उतनी महत्त्व नही रखती जितनी आत्मशुद्धि। शरीरशुद्धि का लक्ष्य आत्मशुद्धि को भूला देता है। तुम्हे तो तुम्हारे जीवन की एक-एक क्षण आत्मशुद्धि मे बीतानी है। आत्मशुद्धि को नुकसान न हो इस ढग से सयमसहायक शरीर का ख्याल रखने का है।

(५) हे श्रमण और श्रमणी! तुम्हे ऐसी वस्ती या मकान मे रहना है कि उस पर ममत्व न बध जाय! एक ही स्थान पर तुम्हे हमेशा के लिए रहना तो है ही नही। मकान के अच्छे-बुरेपन का विचार भी नही करना है। तुम्हारा अधिकार किसी भी मकान पर रखना नहीं है। तुम्हे तो निर्बन्धन होकर जीना है। कभी किसी मकान मे ज्यादा वक्त रहना भी पड़े तो इस तरह रहना कि मकान के साथ तुम्हारा लगाव न हो जाय।

(६) हे श्रमण और श्रमणी! तुम्हे संघ और समाज के सम्पर्क मे ज्यो बने त्यो कम आना है। तुम्हारा समाजसम्पर्क राग का कारण नहीं होना चाहिए। किसी भी जीवात्मा के साथ ममत्व न बध जाये, उसकी तुम्हे पूरी सावधानी बरतनी है। राग-द्वेषी जीवो के सम्पर्क में तुम कहीं रागी और द्वेषी न हो जाओ, उसके लिए जाग्रत रहना। तुम्हारी विचारसृष्टि मे राग-द्वेष और मोह के भूत भटकने न लगे, वैसी सतर्कता तुम्हे रखनी है।

इस तरह 'भावशौच' नामक यतिधर्म यहाँ बताया गया है।

श्लोक पञ्चाश्रवाद्विरमण पञ्चेन्द्रियनिग्रहश्च कषायजय ।
दण्डत्रयविरतिश्चेति सयम सप्तदशभेद ।।१७२।।

अर्थ पाँच आश्रव। से विरति पाँच इन्द्रिया का निग्रह चार कषाया पर विजय और तीन दड (मन दड वचन दड कायदड) से विराम, यह सत्रह प्रकार का सयम है।

विवेचन सयम यानि पापस्थानो से सही रूप मे विराम पाना। मुनिजन को ऐसे सत्रह तरह के पापस्थानो से विराम पाना होता है यानि कि उन सत्रह पापस्थानो का त्याग करना होता है।

पाच आश्रवों से विरति

जिसके कारण कर्मप्रवाह आत्मभूमि पर बह कर आता है, उसे आश्रव कहते है। वसे तो ऐसे आश्रव असरय ह, पर मुख्य रूप से पाच आश्रव माने जाते ह।

१ **प्राणातिपात** प्राण अर्थात जीव और अतिपात मतलब नाश। जीवो का नाश करने से पापकर्म आत्मा मे चले आते हैं अर्थात् जीवात्मा पापकर्म बाधता है। इसलिये 'मैं त्रिविध त्रिविधतया प्राणो का नाश नही करुगा।' इस तरह की प्रतिज्ञा करना यह प्रथम प्रकार का सयम है।

२ **मृषावाद** मृषा यानि असत्य। असत्य बोलने से पापकर्म बधते है अत 'मैं त्रिविध प्रकार से असत्य नही बोलूगा।' ऐसी प्रतिज्ञा करना यह दूसरे प्रकार का सयम है।

३ **अदत्तादान** अदत्त यानि नही दिया हुआ। नही दिया हुआ लेने मे पाप लगता है अत 'मैं त्रिविध त्रिविध अदत्तादान का त्याग करता हूँ।' ऐसी प्रतिज्ञा करना यह तीसरा सयम है।

४ **मथुन** मैथुन यानि अब्रह्म। 'मैं त्रिविध त्रिविधरूपेण मथुन का त्याग करता हूँ।' ऐसी प्रतिज्ञा करना यह चाथे प्रकार का सयम है।

५. परिग्रह : परिग्रह यानि जड़-चेतन पदार्थों का संग्रह और उस पर ममत्व करना इसका नाम है परिग्रह। 'मैं त्रिविध त्रिविध परिग्रह का त्याग करता हूँ' ऐसी प्रतिज्ञा धारण करना वह पाँचवें प्रकार का संयम है।

पाँच इन्द्रियों का निग्रह

पाँच इन्द्रियों पर नियमन रखना, निरोध करना, यह पाँच प्रकार का संयम है। उन-उन इन्द्रियों के साथ उन-उन विषयों का सम्बन्ध हो तब राग-द्वेष नहीं करना, माध्यस्थ्यभाव रखना, उसका नाम है संयम। श्रवणेन्द्रिय के साथ अच्छे-बुरे शब्दों का संयोग हो तब मन में राग-द्वेष न होने देना उसे श्रवणेन्द्रियनिग्रह कहते हैं। आँखों के साथ किसी सुन्दर-असुन्दर रूप का संयोग हुआ उस समय राग-द्वेष न करना, उसे चक्षुरिन्द्रियसंयम कहते हैं। घ्राणेन्द्रिय के साथ अच्छी-बुरी गन्ध का संयोग हो उस समय राग-द्वेष न होने देना, उसे घ्राणेन्द्रियसंयम कहते हैं। जीभ के साथ अच्छे-बुरे पदार्थों का (रसों का) सम्पर्क हो, तब राग-द्वेष न होने देना उसे रसनेन्द्रिय–निग्रह कहा जाता है। चमड़ी के साथ किसी अच्छे-बुरे स्पर्श (मुलायम या खुरदरे स्पर्श) का संयोग हो तब राग-द्वेष नहीं करना उसे स्पर्शनेन्द्रिय–निग्रह कहते हैं।

कषायजय

कष = संसार, आय = लाभ। जिस से संसार में भटकने का लाभ हो, यानी कि जिसके कारण संसार में भटकना पड़े, उसे 'कषाय' कहा गया है। जैसे ही ये कषाय भीतर में उठे, वैसे ही उन्हें शांत कर देना। निष्फल बना देना, उसको कहते हैं कषायजय! कषायसंयम! कषाय उदय में आने पर भी क्षमा, नम्रता, सरलता और निर्लोभता के द्वारा उन कषायों पर वापसी प्रहार करना, उसका नाम है कषाय–जय।

दंडविरति

मन-वचन और काया जब शुभ होते हैं जब उन्हें 'गुप्ति' कहा जाता है, जब अशुभ होते हैं तब दंड कहा जाता है। चूँकि इससे आत्मा दंडित होती है! कर्मों से आत्मा बंधती है! मन में ईर्ष्या-द्रोह-अभिमान वगैरह करना यह मनोदंड है। असत्य, क्रूर और कठोर वचन बोलना

यह वचनदण्ड है। दौड़ना, कूदना, भागना—यह सब कायदण्ड है। मन वचन काया की ऐसी प्रवृत्तियाँ नहीं करने की प्रतिज्ञा करना उसका नाम है 'दण्डविरति'

प्राचीन ग्रन्थों में अन्य ढंग से भी सत्रह प्रकार का संयम वर्णित है। जैसे कि पृथ्वी-पानी-वायु-अग्नि वनस्पतिकाय के जीवों की रक्षा (५) बेइंद्रिय, तेइंद्रिय, चउरिंद्रिय, पंचेंद्रिय जीवों की रक्षा (४) पुस्तक वगैरह का परिग्रह नहीं रखना, उसे 'अजीवकाय संयम' कहते हैं। (१) प्रेक्षासंयम, अप्रेक्षासंयम, प्रमार्जनासंयम और पारिष्ठापनासंयम (४) व मन वचन काया का संयम (३)=कुल १७ प्रकार के संयम का पालन मुनिवर करें।

कौन है निर्ग्रन्थ ?

श्लोक बाह्यक धनेन्द्रिय-कुलत्यागात् त्यक्तभयविग्रह साधु ।
त्यक्तात्मा निर्ग्रन्थस्त्यक्ताहंकारममकार ।।१७३।।

अर्थ कुटुम्ब धन और इन्द्रिय से सम्बन्धित सुख का त्याग करने से जिसने भय और कलह का त्याग किया है एवं अहंकार व ममकार को छोड़ दिया है वे त्यागमूर्ति साधु निर्ग्रन्थ हैं।

विवेचन ओ मुनिराज ! तुम तो रणशूर का जंग-मैदान में करारी हार करने के लिये युद्ध कर रहे हो न ? अनादि काल से तुम्हारी आत्म-भूमि पर नाजायज कब्जा जमाये बैठे हुए इन कर्मों को आत्मभूमि पर से खदेड़ने के निर्धार के साथ तुमने त्याग-महात्याग के मार्ग पर प्रयाण किया है न ?

तुमने स्वजन छोड़ दिये हैं। तुमने नाना नानी मामा जोरुगन छोड़ दिया है। तुमने वैषयिक सुखों का त्याग कर दिया है क्योंकि इन सब तत्त्वों का त्याग किये बगैर, आठ-आठ प्रचण्ड शत्रुओं के सामने तुम जोश से जूझ नहीं सकते।

महात्मन् ! अच्छा, ढोना जरा हमें बताओगे आत्मनिरीक्षण करके कि धन, कुटुम्ब, और वैषयिक सुखों का त्याग करने के पश्चात् भी

ये श्वेत वस्त्र धारण करने के बाद तुम्हारा अहकार पानी पानी हो गया है सही ? तुम्हारी ममता फीकी पड़ गयी सही ? 'मैं' और 'मेरा', मोहराजा के इस मत्र का जाप करना चालू है या बद किया है ? व्यक्त या अव्यक्त तौर पर भी मोहराजा के इस मत्र को जपते रहे तो बडा मुश्किल होगा कर्मशत्रुओ पर विजय पाना । फिर चाहे, जिन्दगी भर तक झुकते रहो श्रमण जीवन के मैदान पर । तुम विजेता नही बन पाओगे कभी भी ।

तुम्हारे कर्मजन्य व्यक्तित्व को भूल जाओ । पुण्यकर्म के उदय से तुम्हारा जो व्यक्तित्व बना हुआ है उस पर बिल्कुल गर्व मत करो । पुण्य कर्म के उदय से जो कुछ अच्छे-भले जड़-चेतन पदार्थों की तुम्हें प्राप्ति हुई है या हो रही हो, उस पर ममता–आसक्ति मत बाधो । बाह्य संसार के त्याग के साथ–साथ अहकार–ममकार का त्याग करना मत भूलो । धन, कुटुम्ब, और वैषयिक सुखो का त्याग, अहंकार-ममकार के त्याग के लिये है, यह बात तुम्हे नजर–अंदाज नही करनी चाहिए ।

प्यारे मुनिवर ! तुम्हारी निर्भयता और निर्द्वन्द्वता तब ही अखड-अक्षुण्ण रहेगी, यदि तुम अहंकार–ममकार के नागपाश मे से मुक्त हो जाओगे ! तुम यदि सत्रह प्रकार के संयम के किल्ले मे सुरक्षित रहोगे तो ! तुम्हारा आतरसुख, आतरप्रसन्नता और आतरतृप्ति...तुम्हारी निर्भयता और निर्द्वद्वता पर आधारित है, यह बात सदा याद रखना ।

- त्यागी पुरुष हमेशा निर्भय रहते है !
- त्यागी पुरुष हमेशा निराकुल रहते है !
- त्यागी पुरुष हमेशा अनासक्त रहते हैं !

तुम्हे वर्तमान जीवन मे कोई भय न सताये...तुम्हे पारलौकिक कोई भय भयभीत न करे । देह पर तुम्हे ममता न हो, फिर व्याकुलता कहाँ से होगी ? आसक्ति होगी कैसे ?

आठ कर्मो पर विजय पाने का सकल्प करके तुमने घर-संसार को छोड़ा है, धन-संपत्ति का त्याग कर दिया है और इन्द्रियो के अनेक सुखो का त्याग किया है । तुमने मोहराजा के मत्र 'अह' और 'मम' को जपना

भी छोड दिया है अब तुम्हें डर किस बात का ? अब तुम्हें कलह काहे का ? तुम्हे कोई भय नही हो सकता, तुम्हे कोई डर नही हो सकता।

देह की पूजा न हो, भीतर मे कोई व्यथा न हो। बस, तुम्हारा प्रयत्न, तुम्हारा पुरुषार्थ एक ही 'निग्रन्थ' बनने का! आठ कर्मों की ग्रन्थिया को जलाने का प्रयत्न निरतर चलते रहना चाहिए। महात्मन्, निग्रन्थ बनने के लिये ही तुमने सवत्याग की कटीली राह पर चलना स्वीकार किया है।

तुम्हारी निभयता और निराकुलता को अखड रखने के लिये तुम सतत जाग्रत रहो। कर्मों के सामने छिडे हुए जग म यह दो बातें काफी अहमियत रखती हैं। वो ही सैनिक शौय से शत्रुओ का सामना कर सकता है और विजेता बन सकता है कि जा निभय होता है, निराकुल होता है। आत्मा की अजरता-अमरता को समझा हुआ साधक क्या तो डरेगा ? किसलिए व्याकुल होगा ?

एक अन्तिम पर अति महत्वपूण बात करलें। तुम्हें तुम्हारे भीतर बैठे हुए अस यम के अध्यवसायो का भी त्याग कर देना है। असयम के अर्थात् स यम-विरुद्ध विचारो को मन मे से दूर कर देना है। यह त्याग करना अत्यत जरुरी है चूकि अस यम के विचार से मुक्त हुआ मन ही कर्मों को नष्ट करने के लिए सक्षम होता है।
निग्रन्थ होकर आत्मा के अपूव सुख की अनुभूति करते रहो।

सत्य, पर ऐसा !

श्लोक अविसवादनयोग कायमनोवागजिह्मता चव ।
सत्य चतुर्विध तच्च जिनवरमतेऽस्ति नान्यत्र ॥१७४॥

अथ अविसवाद, काया की अकुटिलता मन की अकुटिलता और वाणी की अकुटिलता-सत्य क य चार प्रकार हैं। और ऐसा सत्यवम जिनमत मे ही है, अन्यत्र कहीं नहीं है।

विवेचन दस प्रकार के यतिधम मे सत्य सातवाँ यतिधम है, यानी मुनिधम है। मुनि को असत्य का त्याग करने का होता है। मात्र वाणी

के असत्य का ही त्याग नहीं, वरन् काया का असत्य और मन का असत्य भी त्यागने का है।

१. सत्य का पहला प्रकार है अविसंवादी वचन। मुनि को जो भी बोलना है वो विसंवादी नहीं होना चाहिए। जैसे कि मुनि गाय को घोडा नहीं कहे और घोडे को गाय नहीं कहे। दिन को रात न कहे और रात को दिन न कहे। तत्त्व को अतत्त्व न कहे और अतत्त्व को तत्त्व न कहे। जो वस्तु जिस रूप में हो उसी रूप में उसे कहे। या फिर, एक व्यक्ति को एक बात कहना और दूसरे व्यक्ति को अन्य बात कहना, इस तरह दो व्यक्तियों के बीच सम्बन्ध तुडवाने जैसा विसंवाद पैदा नहीं करना चाहिए। उपरान्त दो व्यक्तियों के बीच की संवादिता को सुलगाने का कार्य मुनिजन कभी न करे।

२. मुनिजन काया से असत्य का आचरण न करे। अलग-अलग वेश बनाकर लोगों को ठगने का कार्य न करे। भिक्षा-वस्त्र-पात्र इत्यादि प्राप्त करने के लिए वो वेशभूषा न रचाये। वेशपरिवर्तनादि न करे।

३. मुनि को अपने मन में भी औरों को फासने का, छलने का विचार नहीं करना चाहिए। उन्हें जो भी कहना हो, वो बोलने से पहले उस पर सम्यक्तया सोच लेना चाहिए। ऐसा वो कभी भी न सोचे कि जिससे अन्य जीवों की छलना हो। संदिग्ध भाषाप्रयोग करने की सोचे ही नहीं। 'मैं इस ढंग से बात करूंगा तो लोगों को सही बात का अन्दाजा नहीं लगेगा और मैं असत्य बोलता हूँ ऐसा भी नहीं लगेगा।' ऐसा वैचारिक असत्य भी मुनि आचरित न होने दे। मानसिक असत्य का आचरण करने वाला कभी न कभी वाचिक और कायिक असत्य को भी अपना लेता है। इसलिए मोक्षमार्ग के आराधक को यह सावधानी सतत रखनी चाहिए कि मन में असत्य विचार टिक न पाये।

४. वाचिक असत्य को पूर्णतया त्यागना है, इसके लिए वाचिक असत्य को भली भांति समझ लेना चाहिए विस्तार से।

(i) दूसरे व्यक्ति में रहे हुए गुण और अपने आप में रहे हुए दोष यदि हम छुपाते हैं तो यह पहले प्रकार का वाचिक असत्य है।

(ii) दूसरे आदमी में जो दोष नहीं है, और अपने आप में जो गुण नहीं है फिर भी यदि उन्हें बताया जाता है तो वो दूसरे प्रकार का वाचिक असत्य है।

(iii) तुम सच बोलते हो पर यदि कटु भाषा में सत्य को प्रस्तुत करते हो, दूसरों को अच्छा न लगे इस ढंग से बात करते हो तो यह तीसरे प्रकार का वाचिक असत्य होगा।

(vi) तुम सच तो बोलते हो, पर कर्कश–कठोर सत्य व्यवहृत करते हो तो यह चौथे प्रकार का असत्य होगा।

(v) तुम सच भी बोलते हो पर, वो सावद्य है—पापयुक्त है तो यह पाचवें प्रकार का वाचिक असत्य कहा जायेगा।

मुनिवर! तुम्हें इन पाचों प्रकार के असत्यों को छोड़ना है और सत्य को ही अपनाना है। तुम कभी सच्ची बात को छुपाओ मत। झूठी बातें करो मत। किसी लोभ से, भय से, हँसी मजाक में, असत्य न बोला जाय इसकी सावधानी पूरी रखनी चाहिए। इसी तरह सही बात को ढापने का प्रयत्न भी नहीं करना चाहिए।

तुम मुनि हो, तुम्हारी वाणी तो शहद सी मीठी–मधुर होनी चाहिए। सत्य यदि सुमधुर होगा तो लोग उसे स्वीकारेंगे। लोगों को वो बात भा जायेगी। तुम अपने शब्दों में स्वर की शक्कर घोलते रहो।

कभी भी तुम्हारी वाणी को कर्कश–कठोर मत होने देना। तुम्हारी वाणी में मृदुता चाहिए, सरसता छलकनी चाहिए, मुलायमता झलकनी चाहिए।

तुम्हारी सच्ची और अच्छी बात भी, हितकारी और कल्याणकारी बात भी, औरों के लिए पापप्रेरक नहीं होनी चाहिए। तुम्हारे लिए पापकर्म बधाये वैसी नहीं होनी चाहिए।

ऐसा उपयुक्त ढंग का सत्यधर्म मुनिजीवन का श्रृंगार है।

श्लोक : अनशनमूनोदरता वृत्तेः संक्षेपणं रसत्याग. ।
कायक्लेश संलीनतेति वाह्यं तप प्रोक्तम् ॥१७५॥

अर्थ : अनशन, ऊनोदरता, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश और संलीनता–
इस प्रकार का वाह्य तप कहा गया है।

विवेचन : कर्मणां तापनात् तप·

कर्मो को जो तपाये, जलाये...नष्ट करे, उसे तप कहा जाता है। उसका नाम है तप, जो कर्मो को खत्म करे। अनादि काल से आत्मा और कर्म का सयोग है। जव तक आत्मा कर्मो से आवद्ध है तव तक वह ससारी है, और जव तक ससारी है तव तक जन्म–जीवन और मृत्यु के दुःखो से जीवात्मा छूट नही सकता। उसे दुःख भोगने ही पड़ते है।

परमसुखमय मोक्षदशा को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करने के लिए जिन्होंने मुनिव्रत–मुनिजीवन स्वीकार किया है, वैसे मुनिजनो को चाहिए कि, वे अपने जीवन मे तपश्चर्या को समुचित स्थान दे। यानि कि जीवन को तपमय वनाना चाहिए।

तपश्चर्या के मुख्य दो भेद वतलाये गये है :

१. वाह्यतप

२. आभ्यतर तप

जो तप औरो की नजर मे आ सके उसे वाह्य तप कहते है, और जो तप मनुष्य न देख सके, वो आभ्यतर तप कहा गया है। दोनों तप के छह–छह प्रकार है, अलग अलग। इस श्लोक मे छह प्रकार के वाह्य तप का निर्देश किया गया है।

१. **अनशन**— एक उपवास से लगाकर छह छह महीने तक के उपवास की तपश्चर्या को अनशन कहा जाता है। 'अनशन' का एक और अर्थ है तीन तरह के मरण (मृत्यु)।

१, भक्तप्रत्याख्यान २, इगिनी, और ३, पादपोपगमन

२ उनोदरता— साधु को सामान्यतया ३२ कवल–कौर का आहार करने का विधि है। उसमे कौर घटाते जाने के उसका नाम है उनोदरता या उनोदरी तप। घटाते घटाते मात्र आठ कौर का ही आहार करें।

३ वृत्ति सक्षेप—वृत्ति यानि भिक्षा। गहस्थ के वहा से परिमित भिक्षा ग्रहण करना, उसे कहते हैं वृत्ति–सक्षेप।

४ रसत्याग— दूध–दही–घी–मक्खन गुड और तेल आदि विकृतिओ (विगईया) का त्याग करना यानि रसत्याग।

५ कायकलेश— कायोत्सर्ग ध्यान मे खडे रहना, धूप मे खडे रहकर आतापना लेना। कडाके की सर्दी मे वस्त्र निकाल कर ध्यानस्थ बनना वगरह काया के लिए कष्टरूप प्रवत्तिया करना। जानबूझकर कायाक्लेश सहना।

६ सलीनता— इस तप के दो प्रकार है

१ इन्द्रिय–सलीनता

२ नोईन्द्रिय–सलीनता

जिम प्रकार कछुआ अपने अगोपाग को छूपाये रखता है उसी तरह साधु अपन अगोपाग को छूपाकर–गोपित करके रखें। यानि शरीर का फिजूल हलन–चलन, इन्द्रिया का निरथय गमनागमन या चचलता न बनाये। प्रयत्नपूवक काया को स्थिर रखन का प्रयत्न करें।

शब्द, रूप, रस, गध, स्पश के विषया मे जाती हुई इन्द्रिया को रोक एव इन्द्रिया को शुभ भाव म जोड के रखें।

ना–इन्द्रिय यानी मन। जिस तरह इन्द्रिया की सलीनता को तप कहा गया है, उसी प्रकार मन की सलीनता का भी तप कहा गया है। आतध्यान एव रौद्रध्यान से मुक्त मन सलीन कहलाता है। जब मन मे क्रोध हो, मान हो, माया हो, लोभ हो, उस वक्त मन सलीन नही रह पाता, उद्विग्न होता है सतप्त होना है। मुनि क्रोधादि कपाया के उदय को ही रोक दे। अर्थात् क्रोध वगरह मन मे आये ही नही। इस ढग से मन को ज्ञानोपासना म, ध्यानसाधना मे और चारित्र की क्रियाओ मे जुडा हुआ रखें।

इतना कुछ करने पर भी प्रमाद या असावधानीवश कषाय कभी-कभार आ जाय मन मे, तो उसे उपशान्त करने के उपाय खोजे। काया से यदि वे कषाय अभिव्यक्त हो भी जाय तो क्षमा, नम्रता, सरलता, और निर्लोभता से उसका निवारण करे। 'नोइन्द्रिय सलीनता' इसे कहते हैं।

मुनिजीवन जीने वाले साधको को इन छह प्रकार के तप का आदर करना होता है और जीवन मे जीने का होता है। गृहस्थ भी इन छह प्रकारो को अपनी अपनी कक्षा के मुताबिक आचरण मे ला सकते हैं। **'तपसा निर्जरा च'** तपश्चर्या से ही कर्मों की निर्जरा होती है। कर्मों की निर्जरा करके आत्मविशुद्धि करने की चाहना रखने वाले साधकों को बाह्य तप अवश्य करना चाहिए।

श्लोक : **प्रायश्चित्तध्याने वैयावृत्त्यविनयावथोत्सर्गः।**
स्वाध्याय इति तपः षट्प्रकारमभ्यन्तरं भवति ॥१७६॥

अर्थ प्रायश्चित, ध्यान, वैयावृत्य, विनय, कायोत्सर्ग और स्वाध्याय यह छह तरह का आन्यतर तप है।

विवेचन · छह प्रकार के बाह्य तप की विवेचना करने के पश्चात् अब छह प्रकार के आभ्यतर तप का निर्देश दिया गया है।

१. प्रायश्चित्त—जिससे चित्त अपना शुद्ध हो, उसे कहते है प्रायश्चित्त। ऐसा प्रायश्चित्त यानि गुरु के चरणो में बैठकर विनयपूर्वक अपने पापो को प्रकट करना, अतिचार निवेदन करना और गुरुदेव जो दड दे–प्रायश्चित्त दे, उसे स्वीकार करना। यह हुआ प्रायश्चित्त।

२. ध्यान—आर्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग, यह भी एक तपश्चर्या है। **'चित्तवृत्तिनिरोध'** रूप ध्यान को तप कहा गया है। आर्तध्यान–रौद्रध्यान मे जाते हुए चित्त को रोकना उसे कहते है ध्यान।

धर्मध्यान और शुक्लध्यान मे एकाग्रता की अनुभूति जब चित्त करे, तब ध्यान होता है। धर्मध्यान के चार प्रकार बताये गये है :

१ आज्ञाविचय

२ अपायविचय

३ विपाकविचय

४ सस्थान विचय

शुक्लध्यान का अर्थ, टीकाकार महात्मा बहुत बढिया कर रहे ह 'शुक् शाक, सताप, दु ख, शारीरिक और मानसिक परिताप । शोक का जिसमे नाश हो जाय (लूनाति) उसे शुक्लध्यान कहा जाता है । वह शुक्लध्यान भी चार प्रकार का है

१ पृथक्त्व–वितर्क सविचार

२ एकत्व वितर्क अविचार

३ सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति

४ व्युपरत क्रिया अनुवृत्ति

शुक्लध्यान के पहले दो प्रकारो के अन्त म जीवात्मा केवलज्ञानी हो जाता है। अन्तिम दो प्रकारो के अन्त मे आत्मा अकर्मा बनकर सिद्ध मुक्त हो जाता है।

३ वयावृत्त्य आचार्य, उपाध्याय, ग्लान, बाल आदि को शरीर-सुश्रुषा करना और उनके लिये भिक्षा, पानी, वस्त्र पात्र वगरह लाकर देना यह सब सेवा करने को कहते ह वयावृत्त्य। मुनिजनो को अत्यन्त विनम्र और प्रसन्नचित्त बनकर वयावृत्त्य करना है। 'मैं दूसरो पर उपकार कर रहा हू, यह विचार तो कभी करना ही नही। 'आचार्य वगरह मुझे सेवा का अवसर देकर मेरे पर उपकार कर रहे ह, सोचना तो यह है।

४ विनय जो विनय करने लायक हो उनका विनय करने से पापकम नष्ट होते है इसलिये 'विनय' को तप की श्रेणी म रखा गया है। पूज्यपुरुष आयें तब खडे होना, सर पर अजली रखकर उन्हे वदना करना, चरणप्रक्षालन करना बठने के लिये आसन देना वगरह अनेक प्रकार विनय के ह।

५ व्युत्सग साधु एव साध्वी को सग्रही–परिग्रही नही होना का है। उनके पास जो भी ज्यादा उपकरण वगरह हो, उसका त्याग करो का होता है। उपकरणो को कहा और कसे छोडना, इसका पूरा विधि

शास्त्रो मे बतलाया गया है। दोषित भिक्षा और पानी का भी त्याग करना होता है। यह तो हुई बाह्य त्याग की बात। आभ्यंतर-भीतरी दृष्टिकोण से मिथ्यादर्शनो का अनुराग छोडना है। क्रोध-मान-माया और लोभ की वृत्तियो का त्याग करना है।

६. **स्वाध्याय** : स्वाध्याय, अध्ययन, परिशीलन भी आभ्यतर तप हैं। उसके पाच प्रकार बताये गये है .

१. वाचना · सद्गुरु के चरणो मे बैठकर विनयपूर्वक सूत्र-अर्थ ग्रहण करना।

२. पृच्छना : सन्देह दूर करने के लिये विनयपूर्वक प्रश्न पूछना।

३. अनुप्रेक्षा · मन मे आगम-तत्त्वो का अनुचितन करना।

४. आम्नाय : सूत्रपाठ का शुद्धतापूर्वक उच्चार करना।

५. धर्मोपदेश . आक्षेपणी, विक्षेपणी, स वेदनी और निर्वेदनी कथाओ के द्वारा धर्म का उपदेश औरो को देना।

बाह्यतप, आभ्यतर तप मे सहायक होता है। आभ्यतर तप मे सहायक हो, उतना ही बाह्य तप करना चाहिए। इन्द्रियो की हानि न हो उस ढग का बाह्य तप करने का है। बाह्य तप करते-करते दुनिया की निगाहो मे तुम 'तपस्वी' कहलाओगे...तुम्हारी प्रशसा होगी...तब तप का अभिमान न घूस जाय मन मे, इसकी पुरी सतर्कता बरतना। तप से कर्मो की निर्जरा करना है, आत्मा को पावन बनाना है, यह हमेशा स्मृति मे रखना।

ब्रह्मचर्य

श्लोक : दिव्यात्कामरतिसुखात् त्रिविधं त्रिविधेन विरतिरितिनवकम्।
औदारिकादपि तथा तद् ब्रह्माष्टादशविकल्पम् ॥१७७॥

अर्थ · देवसबधित एव औदारिक-शरीर सबधी कामरति के सुख से, नौ नौ प्रकार से विरत होने से ब्रह्मचर्य के अठारह प्रकार होते है।

विवेचन हे श्रमण, तुम्हे निर्मल ब्रह्मचर्य का पालन करना है। तुम्हारे समक्ष देवलोक की देवांगनाएं आकर भोगप्रार्थना करें तो भी, मन से भी उन दैवीय-भोगसुख की कामना तुम्हे नहीं करना है।

देवलोक के मुख्य चार विभाग है भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष और वैमानिक। इनकी देवियों के साथ मन-वचन-काया से नहीं तो मैथुनसेवन करना है, नहीं करवाना है और नहीं अनुमोदना करनी है। इस तरह ३×३=९ प्रकार से दैवी मैथुनसेवन का त्याग करने का है।

औदारिक शरीरवाली मनुष्य स्त्रियाँ एवं पशु स्त्रियाँ के साथ भी मन-वचन काया से मैथुनसेवन न तो करना है, न करवाना है और नहीं अनुमोदना करनी है। इस तरह ३×३=९ प्रकार का औदारिक देह के साथ का मैथुन त्यागना है।

ब्रह्मचर्य के इन अठारह प्रकारों को जरा और स्पष्टता से समझ

१ मन से ऐसा नहीं सोचने का कि 'मैं यदि मरकर देव होऊ तो देवी के साथ दिव्य सुख भोगूंगा। या फिर इस जीवन में भी कोई देवी यदि मिल जाय तो उसका भोग करूं।

२ मन से ऐसा नहीं सोचने का कि मैं दूसरे देवों के द्वारा देवियों के दिव्य सुख का उपभोग करवाऊंगा, सभी देव दिव्य सुखभोग करें, वैसी सुविधा करवाऊंगा यदि वहां असुविधा होगी तो' वगैरह।

३ मन से दिव्य मैथुन क्रिया की अनुमोदना नहीं करने की, कि 'देव कितने पुण्यशाली हैं कि दीर्घसमय तक-लम्बे समय तक दिव्य वैषयिक सुख भोग सकते हैं। ऐसे मन में भी खुश नहीं होना।

४ वाणी से ऐसा बोलना नहीं कि 'मैं देवलोक में जाऊंगा और देवियों के साथ वैषयिक सुख भोगूंगा।'

५ वाणी से यों भी नहीं कहना कि 'तुम लोग यदि देवलोक में जाओगे तो तुम्हें देवियों के साथ कामक्रीडा करने का दिव्य आनन्द मिलेगा।

६ वाणी से ऐसा नहीं बोलना कि 'हाय, ये देवलोक के देव-देवी कितने सुख विलसते हैं, जो उन्हें असंख्य वर्षों तक दिव्य वैषयिक सुख भोगने को मिलते हैं। कितने वे सुखी हैं!'

७. हो न हो...कभी कोई देवी खुश हो जाय...प्रसन्न होकर सभोग सुख की प्रार्थना करे तो भी उस देवी के साथ काया से सभोग नहीकरना।

८. काया के सकेत से (आख या हाथ के इशारे से) दूसरो को देवी के साथ सभोग करने की प्रेरणा नही देना।

९. किसी (आदमी या देव) को देवी के साथ सभोग करते देखकर (प्रत्यक्ष या स्वप्न रूप मे) मन मे खुश नही होना। ग्राखो मे या चेहरे पर ऐसे खुशी के भाव नही लाने के।

१०. मन से किसी मनुष्य-स्त्री या तिर्यच-स्त्री के सभोग की कल्पना नही करना।

११. मन से किसी मनुष्य-स्त्री या तिर्यच-स्त्री के साथ ग्रन्य (मनुष्य या तिर्यच) का सभोग करवाने की इच्छा नही करना। 'यह आदमी इस स्त्री के साथ सभोग करे तो उसे पुत्र की प्राप्ति हो'...वगैरह।

१२. मन से किसी मनुष्य या तिर्यच की मैथुन-क्रिया की अनुमोदना भी नही करना।

१३. वचन से ऐसा नही बोलना कि 'मैं इस...उस स्त्री के साथ सभोग करूगा या तिर्यच स्त्री के साथ मैथुनसेवन करूंगा।'

१४. वचन से ऐसा नही बोलने का कि 'इस ग्रौरत के साथ या उस औरत के साथ फला ग्रादमी का सभोग करवाऊगा, इस तिर्यच स्त्री के साथ उस पशु का मैथुन करवाऊगा।' वगैरह।

१५. वाणी से ऐसा नही कहना कि 'सभी मनुष्य, सभी पशु मैथुन का सेवन करे। वैपयिक सुख की अनुभूति करे...।'

१६. काया से मनुष्य स्त्री या पशु स्त्री के साथ मैथुनसेवन करना नही।

१७. काया से मनुष्यस्त्री या पशुस्त्री के साथ किसी पशु या किसी मनुष्य का मैथुनसेवन नही करवाना। यानि कि आख के इशारे से या हाथ के इशारे से या फिर शारीरिक सहयोग देकर मैथुनसेवन करवाना नही।

१८. स्त्रीतिर्यच या मनुष्यस्त्री के साथ के सभोग की, काया से ग्रनुमोदना नही करना। आखे नचानचाकर या ऐसे शारीरिक हावभाव दिखाकर ग्रनुमोदना व्यक्त नही करनी चाहिए।

श्लोक अध्यात्मविदो मूर्च्छां परिग्रह वर्णयन्ति निश्चयत ।
तस्माद् वैराग्येप्सोराकिञ्चन्य परो धम ॥१७८॥

अर्थ अध्यात्मवेत्ता निश्चयनय से मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं उससे मुमुक्षु के लिए अकिंचनता श्रेष्ठ धम है।

विवेचन अध्यात्मवेत्ता !

जो महापुरुष आत्मतत्त्व के अनुचिंतन मे डूबे रहते ह आर 'किससे आत्मा बधती है ? किससे आत्मा मुक्त होती है ? इसका बोध जिन्होंने प्राप्त किया है, वे महापुरुष अध्यात्मवेत्ता कहलाते हैं।

'आत्मा किससे बधती ह ? इस विषय का, शास्त्रो के माध्यम से परिशीलन करते हुए एव आत्मज्ञान की अनुभूति करते हुए उन्होंने जाना कि प्राप्त–अप्राप्त विषयो म मूर्च्छा गद्धि-आसक्ति करने मे आत्मा बधती है–पापकर्मो से आत्मा बधती ह।

आध्यात्मिक भूमिका पर 'यह मेरा यह विचार मात्र ही परिग्रह कहा जाता है। पर द्रव्यो म अनुरक्ति -यह खूब सुदर–यह बहुत अच्छा–यह तो अपने को अच्छा लगता है,' ऐसी वृत्तिया परिग्रह है।

हे मुनिजन ! क्या तुम परद्रव्यो व परपुद्गलो का राग मिटाना चाहते हो ? वैराग्यभाव को पुष्ट परिपुष्ट करने की इच्छा है ? तो अकिंचन बन जाओ। बाहर से अकिंचन और भीतर से भी अकिंचन बन जाओ। परद्रव्य एव परपुद्गल के प्रति निर्मोही बन जाओ।

परद्रव्य के प्रति यदि तुम अनुरागी बनोगे तो उन परद्रव्यो को प्राप्त करने की इच्छा तुम्हारे भीतर पैदा होगी। तुम उन परद्रव्यो को इकट्ठा करते जाओगे जो जो तुम्हे पसद होगा, अच्छा लगेगा, वो सब प्राप्त करने का प्रयत्न तुम करोगे ! मनचाही वस्तु को प्राप्त करने के लिए तुम गृहस्थ की भाँति दौड़ता रहोगे लाचारी बताओगे, कभी

गुस्सा भी करोगे, तुम्हारा मन न तो ज्ञान में लगेगा, न ध्यान मे रमेगा। वो तो भटकता रहेगा प्रिय विषयो मे। कभी तुम तुम्हारे श्रमण-जीवन के कर्त्तव्यो को भी चूक जाओगे। प्रिय–अप्रिय की कल्पनाओ मे यदि तुम वव गये तो तुम्हारा भाव–श्रमणत्व मृतप्रायः हो चलेगा।

इसलिये, किसी भी परद्रव्य मे 'यह अच्छा है...यह मेरा है...यह मुझे मिल जाय तो कितना अच्छा !' ऐसे विचार मत किया करो। एक मात्र विशुद्ध आत्मद्रव्य के अनुचिंतन मे डूबे रहो। व्यवहार की भूमिका को निभाते वक्त अत्यन्त जागरुकता जरूरी है। जाग्रत रहो। व्यवहारमार्ग मे तुम्हे दूसरे जीवात्माओ के सपर्क–संसर्ग मे आना ही होगा। दूसरे द्रव्यो के सपर्क से गुजरना ही होगा ! उस वक्त 'ये सव परद्रव्य हैं, मुझे इन द्रव्यो से कुछ भी लेना–देना नही है,' यह विचार तुम्हे जाग्रत रखना होगा।

तुमने जो पाँचवा महाव्रत लिया है, उस महाव्रत को याद करो। 'मैं मन से भी परिग्रह का त्याग करता हूँ।' त्रिविव-त्रिविध प्रत्याख्यान के द्वारा तुमने मन से भी परिग्रही नही होने की प्रतिज्ञा ली है, यह वात भूलना मत।

तुमने घर का त्याग किया, पर यदि उपाश्रय की ममता वव गई, तो तुम परिग्रही हो गये ! तुमने माता-पिता-भाई-वहन इत्यादि स्वजनो का त्याग कर दिया, पर शिष्य-शिष्याएं, भक्त-भक्तिनो मे उलझ गए तो तुम परिग्रही हो गये। तुमने धन–सपत्ति का त्याग किया, पर यदि पैंसेवालो के घर की भिक्षा तुम्हे पसन्द आ गयी...तो परिग्रही हुए समझो ! चाहे शरीर पर अलकार गहने पहनना छोड़ दिया, पर यदि शरीर की सुखशीलता के अनुरागी वने, तो परिग्रही हो ही गये तुम !

मुनिधर्म के पालन

श्लोक : दशविधधर्मानुष्ठायिनः सदा रागद्वेषमोहानाम् ।
दृढरुढधनानामपि भवत्युपशमोऽल्पकालेन ॥१७९॥

अर्थ : जो इस दस प्रकार के यतिधर्म का सदा पालन करते हैं, उनका दृढ राग, रूढ द्वेष और घनीभूत मोह अल्प समय में उपशात होता है। (अथवा क्षय होता हैं)

विवेचन अनादिकालीन भवभ्रमणा के मूलभूत कारण तीन हैं

❀ दृढ राग

❀ रूढ द्वेष

❀ घनीभूत मोह

जो आत्मा स्वय जग जाती है जिसकी ज्ञानदृष्टि खुल जाती है, वे कभी भी भ्रमण को नही चाहती। वे ससार के दुखो को भलीभाति समझती हैं। ससार को ही दु खरूप मानती है। इस दु खरूप ससार के बुनियादी कारण खोजते खोजते वे अपने ही भीतर मे उन कारणो को खोज निकालती हैं! अपनी आत्मा मे अनादिकाल से अड्डा जमाए हुए राग-द्वेष मोह यही ससार है, ये ही सारे दु खो के मूलभूत कारण हैं।

जब आत्मा इन राग-द्वेष और मोह का उन्मूलन करने के लिये सयम के मैदान पर उतारु होती है तब उसे 'महात्मा' के रूप मे दुनिया निहारती है। चूकि राग, द्वेष और मोह पर विजय प्राप्त करना कितना मुश्किल है, यह दुनिया के बुद्धिमान व्यक्ति अच्छी तरह समझते हैं।

आत्मभूमि पर राग जम कर रहा हुआ है। 'मैं आत्मभूमि पर से नही हटूगा, इस दृढता के साथ राग जमा हुआ है। पक्के निर्धार के साथ रहा है। इसी तरह द्वेष भी आत्मप्रदेश पर रूढ होकर रहा है। द्वेष की जडें तो काफी गहरी फैली हुई हैं। मोह भी आत्मा के साथ वज्रलेप से भी ज्यादा जोर से आत्मा के साथ चिपका हुआ है।

इन राग-द्वेष और मोह का थोडे समय मे ही उपशम हो सकता है, यदि मुनिराज दस प्रकार के यतिधम-सयम धर्म का यथार्थ रूप से पालन करें तो। निरतर हमेशा प्रतिपल जागरुक रहकर पालन करे तो। मुनिधर्म का सतत और दोषरहित पालन करने से राग-द्वेष और मोह का क्षय होता है या फिर उपशम हुए बगर नही रहता।

ममकार-अहंकार त्याग दो !

श्लोक : ममकाराहंकारत्यागादति-दुर्जयोद्धतप्रबलान् ।
हन्ति परिषहगौरवकषाय-दण्डेन्द्रियव्यूहान् ॥१८०॥

अर्थ : अहकार और ममकार के त्याग करने से आत्मा, अत्यन्त दुर्जय और बलवान परिषह, गारव, कषाय, दंड और इन्द्रियो के व्यूहों का नाश कर डालती है ।

विवेचन : राग, द्वेष और मोह की सेना के सेनापति ये पांच हैं :

१. परीषह २ गारव ३. कषाय ४. इन्द्रिय ५. दंड

इन सेनापतियो की बनायी हुई व्यूहरचना इतनी तो अद्‌भुत है कि उस व्यूह-रचना को काटना काफी मुश्किल बात है । उस व्यूह-रचना को तोडे बगैर राग-द्वेष और मोह पर विजय मिल नही पाता है ।

१ जब बाईस परीषहो मे से कोई न कोई भूख, प्यास, इत्यादि परीषह सताता है, तब असावध मुनि राग–द्वेष या मोह के शिकजे मे फस ज ता है । जब शीत–उष्णता आदि कोई भी कष्ट आता है, तब यदि वो व्याकुल हो उठता है तो द्वेष के फदे मे फस जाता है ।

२ प्रतिकुल ऐसे परीषहों मे नही फसने वाला जीवात्मा, अनुकूल ऐसे रस-ऋद्धि और शाता–सुखशीलता मे भटक जाता है । इन तीन गारवो की व्यूहरचना काफी गजब की होती है ।

३ तीन गारवो के चक्कर मे भटकने वाला, गारवो मे डूबने वाला जीवात्मा क्रोध–मान–माया और लोभ के चक्रव्यूह मे उलझ जाता है । चार कषायों मे से कोई न कोई कषाय जीवात्मा को पकड़ लेता है । कषायो के साथ मे नो–कषाय भी रहते ही हैं । यानि कि हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद । ये नौनो-कषायो की व्यूहरचना मे से बच निकलना कोई मामूली खेल नही है ।

४ इन्द्रियो की व्यूहरचना तो और उलटी-सुलटी एव दु:खद है । खतरनाक जाल है इन्द्रियो का । एक एक इन्द्रिय जीवात्मा को

अपने बाहुपाश मे जकड कर उसे तडफा तडफा कर मारने के लिये सक्षम है, फिर पाचो ही इद्रियो के एकत्र होकर जीवात्मा को घेरने पर तो क्या दशा होगी ?

५ अशुभ मन, अशुभ वाणी और अशुभ देह प्रवृत्ति इन तीन दडा का व्यूह भी महाकाल के ताडव सा खतरनाक व्यूह होता है। इन तीन दडो का व्यूहात्मक आक्रमण भी तूफानी होता है।

परीषह, गारव, कषाय, इन्द्रिय और दड–इन पाचो के व्यूहा को काटकर इन पर विजय पाना कोई हँसी मजाक का खेल नही है। ये पाचो दुजय हैं उद्धत हैं और असाधारण बलयुक्त हैं। ऐसे शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने का दृढ सकल्प करके उसके सुयोग्य उपाय ढूढने चाहिए। ग्रथकार यहा पर अपन को मात्र दो उपाय दिखा रहे हैं और साथ ही कह रहे हैं 'इन दो शस्त्रा से तुम इन पाचो ही दुर्जेय शत्रुओ को परास्त करके विजेता बन पाओगे। इन पाँचो को धराशायी बना सकोगे।'

ये दो शस्त्र हैं — १ ममकार का त्याग
२ अहकार का त्याग

ममकार का त्याग कर दो, अहकार को छोड दो। इन दो तत्वा ने दुनिया को अधी कर रखी है। अब जीवात्मा ससार की चौराशी लाख गलियो मे मारा मारा भटक रहा है परिभ्रमण कर रहा है।

किसी भी वस्तु को, पदाथ को या व्यक्ति को अपना मत मानो। 'ये स्वजन मेरे ये मित्र मेरे, यह वैभव मेरा यह शरीर मेरा, ऐसी सारी वत्तियो को, मेरेपन की, अपनेपन की वत्तियो को नामशेष कर दो। 'इस विश्व मे कुछ भी मेरा नही है,' ऐसा निणय हृदय की साक्षी से होने के बाद परीषहो को तुम साहजिक तौर पर जीत पाओगे। परीषह आने पर तुम्हे आतध्यान नही होगा। रस-ऋद्धि और शाता के सुख तुम्हें आकर्षित नही कर पायेंगे। क्रोध वगैरह कषाय के बहाने ही पैदा नही होंगे। इन्द्रियो का उन्माद अपने आप शात हो जायेगा।

अहकार की मनोवत्ति ज्या ज्या शात होगी त्या त्या तुम्हारे मन वचन–काया के योग विशुद्ध होते चलेंगे। 'अह'= मैं' को भूलने के लिये नाह'– मैं नही' का मत्र जाप करना चाहिए। 'मैं हूँ ही नही।'

जब तक हे मुनिराज, तुम अपने अस्तित्व को और व्यक्तित्व को नहीं भूल जाते तब तक परीषह वगैरह पांच शत्रु सेनापतियों को तुम हरा नहीं सकोगे। इसलिए तुम्हारे अस्तित्व को—विभावदशा के अस्तित्व को भूलने का अभ्यास करो। इसी तरह विभावदशाजनित व्यक्तित्व को भूल जाने का अभ्यास करो।

तुम्हारे सुन्दर और समृद्ध व्यक्तित्व की प्रशंसा सुनना ही नहीं। यदि कभी सुननी पड़े तो खुश मत होना। उसमें वह मत जाना। तुम्हारे व्यक्तित्व की अगर निन्दा हो—अपमान हो तो भी गुस्सा मत करना। परद्रव्य और परव्यक्ति से संबंधित व्यक्तित्व का अभिमान झूठा निकलता है, इसलिये अहंकार और ममकार का त्याग करके परीषह वगैरह पर विजय प्राप्त करो और आंतरिक आनन्द प्राप्त करो।

बुद्धिस्थिरता के तीन उपाय

श्लोक   प्रवचनभक्तिः श्रुतसम्पदुद्यमो व्यतिकरश्च संविग्नैः।
वैराग्यमार्गसद्भावभावधीस्थैर्यजनकानि ॥१८१॥

अर्थ : जिनप्रवचन में भक्ति, शास्त्र-संपत्ति में उद्यम (प्रयत्न) और संसार-भीरु जीवों का संपर्क—(ये तीन बातें) वैराग्यमार्ग में बुद्धि की स्थिरता पैदा करते हैं, जीवादि-तत्त्वों की श्रद्धा में बुद्धि की स्थिरता उत्पन्न करते हैं और (क्षयोपशमजन्य) भावों में बुद्धि की स्थिरता उत्पन्न करते हैं।

विवेचन   क्या तुम्हें, तुम्हारे मन को वैराग्य में स्थिर करना है?

तुम्हारी बुद्धि को वैराग्य रस से सतत आप्लावित रखना है?

तुम अपनी अंतरात्मा के साथ इन बातों को सोच लो।

जीव–अजीव, पुण्य–पाप, आश्रव–संवर, बंध–निर्जरा और मोक्ष; इन नौ तत्त्वों के तलस्पर्शी अध्ययन के द्वारा तुम्हारी तात्त्विक श्रद्धा को सुदृढ बनाना है? बौद्धिक स्थिरता पाना है? तुम पूरी गंभीरता से सोच लो, विचार कर लो।

तुम्हें, मोहनीय कर्म का क्षयोपशम करके मिले हुए सम्यग् दर्शन, सम्यग चारित्र जैसे उच्चतम पवित्र भावों मे तुम्हारी बुद्धि को जोटे रखना है ? यानी कि तुम्हारी बुद्धि को सम्यग्दर्शन वगैरह क्षायोपशमिक गुणों की दृढता के लिए प्रयुक्त करना है ? तो तुम्हे पूरा विचार कर लेना चाहिए । ग्रथकार महर्षि इसका उपाय अपन को बता रहे हैं ।

तुम वैराग्य में स्थिर बनने का निश्चय करके, तात्विक श्रद्धा को सुदृढ करने का सकल्प करलो और क्षायोपशमिक गुणों की सिद्धि-वृद्धि के लिये प्रणिधान करके—

१ जिन प्रवचन की भक्ति करो ।

२ धर्मशास्त्रों का अध्ययन करते रहो ।

३ त्यागी वैरागी महात्माओं के सपर्क मे रहो ।

जिन-प्रवचन यानी तीर्थकर परमात्मा और उनका धर्मशासन । तीर्थंकर परमात्मा की आज्ञा के मुताबिक जीवन जीना, यह उनकी सही अर्थों मे की गयी सेवा है । जिनाज्ञा का पालन करने की शक्ति मिलती है—जिनेश्वर भगवतो की प्रीति-भक्तिसभर भावपूजा करने से ।

जैसे जिनेश्वर परमात्मा की भक्ति करनी है वैसे ही जिनेश्वर के चतुर्विध सघ की भक्ति करनी है । 'चाउवण्णो सघो तित्थ'-चतुर्विध सघ-यह तीर्थ है । तीर्थ यानी प्रवचन । साधु-साध्वी-श्रावक और श्राविका-इस चतुर्विध सघ के प्रति प्रीति और भक्ति का भाव बनाये रखना ।

दूसरा उपाय है श्रुताभ्यास ! निरतर श्रुतसपत्ति की वृद्धि करते रहना है । श्रुतज्ञान यानी शास्त्रज्ञान । जिनेश्वर श्री महावीरदेव ने जो तत्व प्रकाशित किए, गणधरो ने उन तत्वों को लिपिबद्ध किये, वे आगम कहलाये । महान् प्रज्ञावत आत्मज्ञानी महर्षियो ने आगमग्रथो पर नियुक्ति, चूर्णि, भाष्य और टीका के रूप मे जो व्याख्याएं की, विवेचनाएं लिखी, उन सबका अध्ययन-परिशीलन करते रहो !

प्रतिदिन अभिनव ज्ञान प्राप्त करने का उत्साह और पुरुषार्थ यदि चलता रहे तो मन वैराग्यभाव से नवपल्लवित रहेगा ही । विशेषरूप से तत्त्वबोध होता चलेगा और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यग्चारित्र

विशुद्ध-विशुद्धतर होते चलेंगे । ज्ञानानद के अनुभव मे आत्मा स्वाधीन सुख का अस्वाद लेती रहेगी ।

तीसरा उपाय है, भवभ्रमण मिटा देने के लिये तत्पर बने हुए मुनिजनो का सपर्क एवं परिचय । वैराग्यभाव को अगर पुष्ट करना है, वैराग्यमार्ग पर निरतर प्रगति करना है तो वैरागी पुरुषो का सग करना ही होगा । शायद...मानो कि ससारत्यागी मुनिजनो का स सर्ग न मिल सके तो उनका सहवास रखना जो कि संसारवास मे रहते हुए भी गृहवास के त्याग को भावना मे जीते हैं, जिनका मन स सार के सुखो मे अनासक्त है...जिनके पास ज्ञानदृष्टि का दीपक है ।

यदि तुम मोक्षमार्ग पर चलने वाले मुनिराज हो तो तुम्हे, वैसे त्यागी-वैरागी और मोक्षमार्ग के अनुरागी मुनिजनो के स पर्क मे-सहवास मे रहना चाहिए । जो केवल वेशधारी हैं, पौद्गलिक सुखो मे अनुरक्त हैं, जिनाज्ञा की उपेक्षा करते है, उनके परिचय में या सहवास मे नही रहना चाहिए । तुम्हारी बुद्धि मे विकृति पैदा न हो इसकी सतर्कता तुम्हे ही बरतनी होगी ।

मोक्षमार्ग की आराधना मे—

१ वैराग्य को ज्वलत रखना ही होगा ।

२ तात्विक श्रद्धा को सुदृढ बनाना ही होगा ।

३ सम्यग्दर्शनादि भावो को सुरक्षित रखना ही होगा ।

चार धर्मकथा

श्लोक आक्षेपणी विक्षेपणी विमार्गबाधनविन्यासा ।
श्रोतृजनश्रोत्रमन·प्रसादजननी यथा जननी ॥१८२॥

श्लोक संवेदनी च निर्वेदनी च धर्म्यां कथां सदा कुर्यात् ।
स्त्रीभक्तचौरजनपदकथाश्च दूरात् परित्याज्या. ॥१८३॥

अर्थ · उन्मार्ग का उच्छेद करने मे समर्थ रचनायुक्त और श्रोतावर्ग के कान और मन को मा की तरह आनन्द देनेवाली आक्षेपणी, विक्षेपणी,

सवेदनी और निर्वेदनी धमकथा सदा करनी चाहिए। एव स्त्री-कथा भोजन कथा चोर कथा और राज्य कथा (देश कथा) दूर से ही (मन स भी) छोड देनी चाहिए।

विवेचन ओ मोक्षमाग के राही !

यदि तुम अपने मन मे ससार के प्रति वैराग्य को सदा बढाये रखना चाहते हो, अविच्छिन्न रखना चाहते हो, तत्त्वज्ञान की क्षितिजें फलानी हो तत्त्वज्ञान की अतल गहराई मे डुबकी लगानी हो और तुम्हारे सम्यग्दशन को सुदृढ बनाना हो, उज्वल बनाना हो तो प्रतिदिन धमकथा करते रहो।

धमकथा की भाषा ऐसी होनी चाहिए कि श्रोताओ के कान और मन उल्लसित हो उठे। धर्मोपदेश कर्णप्रिय होना चाहिए। मन को प्रफुल्लित करने वाला होना चाहिए। एक माता अपने बच्चे को जितने प्रेम से, वात्सल्य से बात कहती हो उतने ही प्रेम से, वात्सल्य से बल्कि उससे ज्यादा वात्सल्य से तुम्हे धम का उपदेश देना है। तुम्हारी वाणी मे कटुता या कठोरता नही आनी चाहिए। श्रोताओ को यह प्रतीति होनी चाहिए कि 'हमारे प्रति अपार करुणा और वात्सल्य रख-कर, हमारे हित के लिए ये महात्मा हमे धर्मोपदेश दे रहे हैं।

धर्मोपदेश के मुख्य चार प्रकार हैं

१ आक्षेपणी धमकथा
२ विक्षेपणी धमकथा
३ सवेदनी धमकथा
४ निर्वेदनी धमकथा

धर्मोपदेशक को धम का उपदेश देते वक्त अत्यन्त सावधानी, सभाल और जागृति रखने की होती है। ससार मे रह हुए जीवो को मोक्षमाग के प्रति आकर्षित करने के लिये, मोक्षमाग पर चढाने, चलाने के लिए और उनके आतरिक उत्साह को अखड रखने के लिए मुनिजन उपयुक्त चार धमकथाए करते रहें।

आक्षेपणी

तुम्हें श्रोताओ की अभिरुचि समझनी चाहिए। यदि श्रोतागण कौतुक को पसन्द करने वाले हो तो तुम्हें धमकथा का प्रारम्भ किसी

शौर्यभरपूर वीररसात्मक कहानी से करना चाहिए। यदि श्रोतासमूह शृंगाररस का चाहक है या अद्भुतरस का दीवाना है तो तुम्हें उन उन रस के प्रवाह में श्रोताओं को बहा ले जाना चाहिए। जिससे वे आलस, उबाहट और अनमनापन झटक कर तुम्हारी ओर अभिमुख बने। तुम्हारी कथा में-धर्मोपदेश में उनकी रसवृत्ति जागृत हो। आक्षेपणी का अर्थ है—आवर्जन! श्रोतावर्ग को सबसे पहले आवर्जित-आकर्षित कर लेना चाहिए।

विक्षेपणी :

श्रोता जब तुम्हारी वाणी के प्रवाह में बहने लगे तब तुम वैषयिक सुखों की क्षणभंगुरता, वैषयिक सुखभोग के दारुण परिणाम और संसार-परिभ्रमण की दुःखदायी स्थिति, इन सबका ऐसा करुण वर्णन करना कि श्रोताजन के मन हिल जाय। वैषयिक सुखों के प्रति तीव्र वैराग्य पैदा हो जाय।

इसी तरह उस समय में प्रवर्तमान उन्मार्गों का इतना तो कलात्मक और युक्तिपूर्वक खंडन करना चाहिए कि श्रोताओं के दिमाग में से उन्मार्ग का आकर्षण टूट जाय और सन्मार्ग के प्रति आकर्षण जगे। 'यह धर्मकथा करने वाले केवल खुद के ही धर्म के पक्षपाती लगते हैं और अन्य धर्मों के निन्दक लगते हैं', ऐसा दुर्भाव श्रोताओं के दिल में पैदा न हो जाय, उस ढंग से विक्षेपणी धर्मकथा करनी होगी। मिथ्या वैषयिक सुखों की स्पृहा को विक्षिप्त करने वाली, मिथ्या उन्मार्गों के आकर्षण को काटने वाली धर्मकथा को 'विक्षेपणी' कथा कही जाती है।

यह विक्षेपणी धर्मकथा करते समय तुम्हारे दिल में, श्रोताओं के प्रति माता के जितना वात्सल्य होना चाहिए। तुम चाहे, अर्थ-स्पृहा और कामलालसा का जोरदार शब्दों में खंडन करते हो, फिर भी श्रोतागण को तुम्हारी वाणी में माँ की ममता की झंकार सुनायी देनी चाहिए! उनके श्रवणपुट को आह्लादित करे और मन को पसन्द आ जाये—वैसी वाणी में धर्म का उपदेश देना है : साथ ही साथ, वक्ता के हृदय में वैराग्यभाव बढ़ता जाये, तत्त्वबोध स्पष्ट और गहरा होता चले। शुभ भावों में ज्वार उठे...। धर्मकथा करनी ही इसलिये है। मात्र लोगों का मनोरंजन करने के लिये नहीं। मुनि जो भी धर्मकथा

करें, उसमे प्रथम श्रोता को खुद बने! वक्ता की स्वय की वैषयिक सुखों की अनासक्ति बढती जाये और जिनवचन आत्मसात् बनता चले, इस ढग से धर्मकथा करें।

सवेदनी

श्रोताओं को वास्तविक दुखो से परिचित करवा कर, भय की स वेदना पदा करना, उसे कहते हैं स वेदनी धर्मकथा।

स सार की चार गति नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव—इस तरह ह। चार गति में से एक भी गति मे सुख नही है, शाति नही है। निरा दुख भरा है स सार की एक एक गति मे—

(१) नरकगति मे जीवात्मा को घोर वेदनाए सहनी पडती है। भयानक गरमी और अत्य त शीत। प्रतिपल शरीर मे छेदन-भेदन। निरतर वेदना—व्यथा और पीडा। एक पल भी व्यथा के बिना नही गुजरती। इस तरह कम से कम दस हजार बरस तो गुजारने ही होते हैं। घोर हिंसा तीव्र रौद्रध्यान इत्यादि पाप करने से नरकगति मे जाना पडता है।

(२) तिर्यच योनि म (पशु-पक्षी वगैरह) भी सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, ताडन, दमन, छेदन इत्यादि दु खो का पार नही होता परवश होकर पराधीन बनकर जीवनपर्यत घोर त्रास सहन करना पडता है।

(३) मनुष्यगति मे तो अपन नजरोनजर देख सकते हैं लूले-लगडे अपाहिज....कितना दु ख कितनी पीडा कोई अधा है, तो कोई बहेरा है, कोई लगडा है, तो कोई पागल है, कोई वृद्ध है, कोई रोगो से परेशान है कोई भूख-प्यास से कुलकुला रहे हैं। ऐसे तो करोडो आदमी है—जिन्हें शारीरिक दु ख नही हैं व मानसिक दु ख से भरे जा रहे हैं। प्रिय-अप्रिय के सयोग—वियोग की चिताए, निर्धनता, गरीबी, विलाप, रुदन, शत्रुभय, राजभय इत्यादि भयो से परेशानी इन सब मे सुख है कहाँ? शाति दिखती कहाँ है?

(४) देवगति मे भी दु ख तो है ही। व दु ख अलबत्ता, मानसिक होते हैं। देवो के मन कोई शात या स्वस्थ नही रहते। मन मे तरह तरह के दु ख डेरा डाले बठे हैं। दूसरे देवो की ज्यादा रिद्धि सिद्धि

देखकर मन ही मन कुढते हैं, जलते हैं। अपने से वडे देवों की आज्ञा मानकर मजवूरन घोडा, हाथी, वैल, सर्प, गरुड, वकरा इत्यादि पशुरूप वनाने पडते हैं। उससे दु ख होता है। 'देवगति का आयुष्य पूरा होते ही मनुष्यगति या तिर्यचगति मे जाना होगा,' इसकी कल्पना भी देवों को दु.खी-दु खी कर देती है।

सवेदनी धर्मकथा करते समय श्रोताओ को ससार से विरक्त वना दें। 'चार–चार गति मे कही भी सच्चा, शाश्वत् सुख नही है...अनंत-असीम शाश्वत् सुख मात्र मोक्ष मे है', यह वात श्रोताओ के दिलो–दिमाग मे अच्छी तरह दृढ कर दे। चार गति के दु खो की कल्पना आये और मानवी काप उठे...! गहराई से सोचने लगे...! वैषयिक सुखो मे झूमना और झूलना बंद कर दें!

निर्वेदनी :

ऐसी धर्मकथा करना कि श्रोतागण पाँच इन्द्रियो के विषयभोग में अनासक्त वन जाये। वाहर से अच्छे और आनददायक लगते सुखो में–विषयो मे उन्हे उद्विग्नता पैदा हो जायं।

- वैषयिक सुख अल्पकालीन है।
- वैषयिक सुखभोग से कभी भी तृप्ति नही होती।
- यह देह अनेक अशुचि पदार्थो से भरा पडा है।
- शरीर मे खुजली आये और आदमी खुजला तो दे...खुजलाते वक्त अच्छा भी लगे, आनन्द भी महसूस हो, पर फिर जलन उठती है। उसी तरह मोह के उदय से जीवात्मा मैथुन का सेवन कर तो लेता है, पर फिर वासना की करारी जलन उठती है।
- सभी अनर्थो की जडरूप यह मैथुनसज्ञा है।
- मैथुनसेवन से वीर्यहानि होती है। इससे शरीर में अनेक प्रकार के रोग पैदा होते हैं।

इस तरह चार प्रकार की धर्मकथाए हमेशा करनी है। उससे स्व-पर का वैराग्य वृद्धिगत वनता है, तत्त्ववोध स्पष्ट होता है और ससार के अनेक प्रपन्चो से छुटकारा मिल जाता है।

ग्रन्थकार एक सावधानी बता रहे हैं । विकथाओं से दूर रहना ।

१ स्त्रीकथा,

२ भोजनकथा,

३ चोर कथा,

४ देश कथा ।

इन चार प्रकार की विकथाए-विकृतियो को पुष्ट करने वाली बातें कभी भी नही करना । स्त्रियां के रूप-रंग-यौवन, लावण्य, वप, भाषा चाल चलन वगैरह की चर्चा नहीं करना । भोजनविषयक बातें यानी खाद्य और पेय पदार्थों की अच्छी-बुरी चर्चा नही करना । 'चोर लोग इस उस तरह से डाका डालते है इस तरह मे सेंध मारते हैं, ताले तोड़ते हैं, इस ढंग मे, ऐसी ऐसी जगहा पर चोरी का माल छुपाते हैं,' वगैरह चर्चा नही करने की । देश कथा-'इस देश मे गेहूँ ज्यादा होता है, इस देश मे चावल काफी तादाद म मिलते हैं अमुक देश म दूध नहीं मिलता ह, इस देश के शासक अच्छे हैं, इस देश के शासक खराब हैं' ऐसी व्यर्थ बातें नहीं करनी चाहिए ।

जिन मुमुक्षुओं को वैराग्य के महापथ पर प्रयाण करके वीतरागता प्राप्त करना है, उन मुमुक्षुओं को हमेशा धर्मकथा मे निरत रहना चाहिए ।

परगुण-दोष का कीर्तन छोड़े

श्लोक यावत परगुणदोषपरिकीर्तने व्यापृत मनो भवति ।
तावद्वर विशुद्ध ध्याने व्यग्र मन कर्तुम ॥१८४॥

अर्थ जब तक मन दूसरों के गुण-दोष गाने मे प्रवृत्त रहता है तब तक मन को विशुद्ध ध्यान मे व्यग्र करना बेहतर है ।

विवेचन जीवात्माओं के गुण-दोष गा रहा है मन ? तुम्हें अच्छी लगती हैं ये मनोवृत्तियां ? तुम्हें पसन्द हैं मन की ये प्रवृत्तियां ? तो तो फिर वैराग्यमार्ग पर नहीं चल सकोगे । तुम आध्यात्मिक विकास-पाशा ही नहीं कर पाने ।

भाई, आध्यात्मिक मार्ग पर तो अपनी आत्मा के अलावा और किसी का विचार करना ही नही है, यानी दूसरे जीवात्माओ के गुण-दोप का विचार नही करना है। तब ही जाकर तुम आत्मचिंता मे और आत्मतत्त्व के गहरे चिंतन मे डूब पाओगे।

दूसरे-अन्य जीवो के दोप देखकर, उन दोपों को वार-वार याद करने से, अवर्णवाद चालु हो जायेगा। तुम्हारे मुँह से वे दोप प्रकाशित होने लगेंगे। चूकि मन वारवार जो सोचता है वे वाते कभी तो वाणी से व्यक्त हो ही जाती है। इन अशुभ मनोयोग और वचनयोग से पाप-कर्म बधते रहते हैं। महत्त्व की और गम्भीर वात तो यह है कि अध्यात्म के मार्ग मे ऐसी वृत्तियां और प्रवृत्तिया उचित हैं ही नही। ऐसी पापवृत्ति-प्रवृत्ति मे रत जीवात्मा कभी अध्यात्ममार्ग का यात्री नही हो सकता। आध्यात्मिकमार्ग मे परद्रव्य की ओर तो देखना है ही नही। स्वद्रव्य-आत्मद्रव्य के प्रति ही लक्ष्य निर्धारित करना होता है।

तुम कदाच चोक उठोगे! दूसरे जीवो के दोप ही देखने की मनाई ग्रन्थकार नही करते वरन्, गुण देखने का भी निपेध कर रहे हैं! दूसरे जीवो के गुण देखने का भी कोई प्रयोजन नही है। दोषदर्शन के पाप से वचने के लिये अलवत्ता, गुणदर्शन आवश्यक है, पर यदि दोपदर्शन मे प्रवृत्त होते मन को शास्त्रो के-धर्मग्रन्थो के अध्ययन-परिशीलन मे और विशुद्ध आत्मद्रव्य के ध्यान में लीन रखा जाये तो, इसके जैसा और कुछ नही।

गुणदर्शन करना अच्छा है, पर गुणदर्शन करते करते दोपदर्शन हो जाना वहुत सभवित है। 'यह महानुभाव वहुत अच्छे विद्वान् हैं, धर्मतत्त्वो के ज्ञाता हैं,' यह अपन ने गुणदर्शन किया। इससे उस व्यक्ति के प्रति सद्भाव जगा। अव उसके विचार अपने मन मे आते रहेगे . 'यह भाई विद्वान् तो है पर तपश्चर्या नही करते।' यह दोपदर्शन एक न एक दिन हो जाने का!

प्रश्न : जैसा हो वैसा देखना, उस मे दोप लगता है?

उत्तर : जैसा हो वैसा देखना और जानना वह दोपरूप नही है, पर राग-द्वेष होना वह दोषरूप है। राग-द्वेष किये बगैर देखना और जानना

न आ जाये तब तक गुण-दोष देखना जानना नहीं है। दोष देखने से द्वेष होता है, गुण देखने से राग होता है। ये दोनों वर्ज्य है। तुम अगर अध्यात्म राह के राही हो, तो यह बात है। आत्मचिंतन और परमात्म की अनुभूति यदि करना है तो यह बात है।

अपने मन को अपने में ही जो परलक्षी न हो ऐसे विशुद्ध चिंतन मे ही जोड़े हुए रखना है। 'मुझे तो अब अच्छा नहीं लगता मैं तो ऊब गया हूँ,' ऐसी ऐसी बातें नहीं टिक सकती तुम्हारी इस दिव्य यात्रा में। भौतिकता में डूबे रहने वाले लोग, जोकि परद्रव्य-परपुद्गल की बातों में ही डूबे डूबे रहते हैं, उन बातों में तुम भाग नहीं ले सकते। 'ज्ञानसार' में कहा गया है

'परब्रह्मणि मग्नस्य श्लथा पौद्गलिकी कथा'

परमब्रह्म में मग्न मनुष्य के लिए पौद्गलिक बातें निरस और निरर्थक होती हैं। उसे वे जरा भी पसन्द नहीं।

तुम शायद कहोगे कि सहजीवन में यानी दूसरे साधकों के साथ-दूसरे मुनिवरों के सहवास में जीने का हो तो वहाँ एक-दूसरे के गुण-दोष तो दिखेंगे ही!' न दिखे। तन से साथ-साथ रहने-जीने पर भी मन से जुदा रहा जा सकता है। तुम तुम्हारे शास्त्राध्ययन - अध्यापन-चिंतन - मनन और लेखन की प्रवृत्ति में डूबे रहो। 'साथ में रहने वाले क्या कर रहे है? कैसे हैं?' यह जानना देखना होगा ही नहीं।

दूसरों को सुधारने के लिए यदि जी रहे हो, तब तो फिर तुम्हारे लिये आध्यात्मिक मार्ग का सफर है ही नहीं। समझे न?

शास्त्राध्ययन

श्लोक शास्त्राध्यापने चाध्ययने च संचिंतने तथात्मनि च ।
धर्मकथने च सततं यत्नः सर्वात्मना कार्यः ॥१८५॥

अर्थ शास्त्रों के अध्ययन, अध्यापन, चिन्तन और आत्मचिन्तन में एवं धर्म कथा करने में मन-वचन-काया से सतत प्रयत्न करना चाहिए।

विवेचन : 'विशुद्ध ध्यान मे हमारे मन को किस तरह जोडे हुए रखना ?' इस सवाल का जवाब ग्रन्थकार महर्षि स्वय ही दे रहे हैं। तुम शास्त्रो की दुनिया मे बस जाओ। इस दुनिया मे रहने पर भी दुनिया की भीड मे से बाहर निकल जाओ। रागी और द्वेषी जैसे सक्रामक रोग-वाले जीवो के सम्पर्क मे रहना त्याग दो ! हाँ, धर्मशास्त्रो की भी एक विशाल दुनिया है। सुन्दर और सरस है वो दुनिया !

अवश्य, कुछ समय के लिये, नई दुनिया मे प्रवेश जरा अटपटा और रोमाचक हो सकता है, पर धीरे-धीरे समय जाते सब अनुकूल आने लगता है और सहानुभूति होती रहती है। इस दुनिया मे शास्त्र-वेत्ता महापुरुष दिनरात जिज्ञासु जीवात्माओ को शास्त्रो का अध्ययन करवाते रहते है। उनके दिल मे वात्सल्य और करुणा के उच्चतम भाव भरे होते है और अध्ययन करने वालो के दिल में भक्ति-विनय और विवेक के भाव आलोड़ित होते है। गुरु-शिष्य के ये सम्बन्ध ऐसे लोकोत्तर सम्बन्ध होते है कि वहाँ न तो कोई स्वार्थ की खीचातानी होती है और नही होते है गुण-दोष के झगडे ! वाणी-व्यवहार इतना तो मीठा और सच्चा होता है कि कभी किसी का मन न तो ऊँचा रहे...न किसी को उद्वेग हो !

'मुझे वैराग्यमार्ग पर चलते रहना है और वीतरागता प्राप्त करनी है,' इस ध्येय का अनुसरण करते हुए तुम शास्त्रो का अभिनव ज्ञान प्राप्त करते रहो। जिन शास्त्रो का तुमने अध्ययन-मनन-चिन्तन किया हो वे शास्त्र तुम औरो को पढाते रहो। तुम्हारे सहयात्रियो को तुम्हारा शास्त्रज्ञान देते रहो।

अध्ययन करते हुए जैसे खेद, उद्वेग या जल्दबाजी नही करना चाहिए, उसी तरह अध्यापन करवाते वक्त भी थकान नही आनी चाहिए कि गुस्सा नही आना चाहिए। चू कि अध्यात्ममार्ग पर चलने वाले सभी के पास सूक्ष्म प्रज्ञा हो...बारीक बुद्धि हो वैसा नही होता ! किसी की स्मरणशक्ति कमजोर हो...कोई थोड़ा सा शास्त्रज्ञान लेने वाले भी होते हैं। उन सभी के प्रति तुम्हारा वात्सल्य, तुम्हारी करुणा निरन्तर प्रवाहित रखनी होगी।

शास्त्रो का चिन्तन-मनन करने के लिये, अनुप्रेक्षा करने के लिये साधक को चाहिए कि वो अपनी चित्तवृत्तिया को शात रखे। प्रशात बनाये रखें। वचारिक उग्रता छोड देनी चाहिए। दुराग्रहो का त्याग करना चाहिए। उस चितन मनन के परिपाक स्वरूप जो विशिष्ट अथबोध प्राप्त हो वह अथबाध जिज्ञासु की योग्यता और पात्रता के अनुसार दूसरे साधको को देना चाहिए।

शास्त्रा का चितन मनन आत्मलक्षी होना चाहिए। यानि कि मात्र विद्वत्ता के लिये शास्त्राध्ययन नही करना है। शास्त्राध्ययन आत्म सशोधन के लिय करना है। ऐसा सोचते रहना कि 'आज के दिन मे मैंने शास्त्रा की आज्ञा के अनुसार कितना जीवन जीया? और शास्त्रो की आज्ञाओ का कितना उल्लघन किया?

१) मन म शास्त्रा की स्मृति और चितन मनन करो।

२) वचन से उन धमशास्त्रा का उपदेश दो।

३) काया से उन शास्त्रा का लिखो और ज्ञान भडारा का सुव्यवस्थित करो मे अपना यागदान दो।

आज वतमान समय में अपन को धमग्रथ प्राप्त हुए ह, वे धमग्रथ इसी ढग स हमे मिले ह। महापुरुषो ने जीवनभर शास्त्रा का अध्ययन-परिशीलन किया और उस अनुचितन को टीका के रूप म भाष्य के रूप में निर्युक्ति के रूप मे, विवेचन के तौर पर लिखा। यह क्रम चलता ही रहता है। इसी परम्परा मे अपन को भी जम जाना है। इस क्षेत्र मे से ही अपन को ज्ञानानन्द प्राप्त हो सकेगा, यह निर्विवाद सत्य है।

शास्त्रवचन की उपेक्षा करके आत्मानुभूति की बातें करने वाले स्वय ता भ्रमणा की जाल म उलझते ही हैं साथ ही साथ दूसरे सरल, भद्रिक और भोले भाले जीवा को भ्रमणा मे भटका देते हैं। अपने रचे हुए धमग्रथा का प्रचार करने क लिये प्राचीन धामिक-आध्यात्मिक धमग्रथा की निन्दा करते हैं और 'य शास्त्र नही पढने चाहिए', ऐसा बकवास करत रहते हैं। शास्त्रज्ञान और आत्मानुभूति हा कसे सकेगी? यह सम्भव नही है।

शास्त्रो के, शास्त्रोक्त तत्वो के सूक्ष्म और आत्मस्पर्शी चितन-मनन मे से कभी-कभार आत्मानुभूति हो जाती है, और वो सही आत्मानुभूति होती है। दभ और दर्प से मुक्त शास्त्रज्ञानी आत्मानुभूति पाये वगैर नही रह सकता !

मन-वचन-काया को सतत धर्मशास्त्रो मे, अध्यात्मशास्त्रो मे, योग शास्त्रो मे ओतप्रोत रखते हुए आध्यात्मिक यात्रा मे गति-प्रगति करते रहना है।

शास्त्र किसे कहते हैं ?

श्लोक शास्विति वाग्विधिविद्भिर्धातु· पापठ्यतेऽनुशिष्ट्यर्थ· ।
त्रैङिति च पालनार्थे विनिश्चित सर्व शब्दविदाम् ।।१८६।।

श्लोक यस्माद् रागद्वेषोद्धत्त-चित्तान् समनुशास्ति सद्धर्मे ।
संत्रायते च दु खाच्छास्त्रमिति निरुच्यते सद्भि ।।१८७।।

अर्थ : चौदहपूर्वधर 'शास्' धातु का अर्थ अनुशासन करते है और 'त्रैङ्' धातु को सभी शब्दवेत्ताओ ने 'पालन' अर्थ मे सुनिश्चित किया हुआ है। इसलिये, रागद्वेष से जिनके चित्त व्याप्त हैं, उन्हे सद्धर्म मे अनुशासित करता है और दु ख से बचाता है, अत सज्जन लोग उसे 'शास्त्र' कहते है।

विवेचन . यदि अनन्त और शाश्वत् सुख प्राप्त करना है, अगर आत्मा की परम विशुद्धि पानी है, और वर्तमान जीवन को शान्ति, समता और प्रसन्नता से भराभरा बनाना है तो सद्धर्म मे मन, वचन और काया से स्थिर होना होगा । अस्थिर, चचल और उद्धत बने हुए मन-वचन-काया का अनुशासन करना होगा, वह अनुशासन करते हैं शास्त्र !

उसका ही नाम शास्त्र है कि जो जीवो के मन—वचन और काया को सद्धर्म मे यानि अहिंसा, सत्य, अचौर्य, सदाचार और अपरिग्रह मे स्थापित करे ! हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार और परिग्रह मे जाते हुए

मन वचन काया को रोके । क्रोध, मान, माया और लोभ मे जाते हुए जीवात्मा को रोके ।

ऐसे शास्त्र ताडपत्र पर, ताम्रपत्र पर और कागज वगैरह पर जैसे लिखे हुए होते हैं वैसे ही ज्ञानी पुरुषो की वाणी भी शास्त्र बन जाती है । कि जो वाणी मानव के अन्तःकरण को स्पर्शती है और उसका सद्धर्म मे स्थिरीकरण करती है ।

ससार मे परिभ्रमण करने वाले जीवात्माओ के मन, राग और द्वेष के प्रबल असर के नीचे दबे होते हैं । यह मन तब ही जाकर सद्धर्म म स्थिर रह सकता है, जबकि निरतर शास्त्रो के अध्ययन चिंतन-मनन मे उस मन को जुडा रखा जाये । वाणी और काया का शास्त्रो की दुनिया मे ही जुडी हुई रखी जाये ।

शास्त्रो के अध्ययन अनुशीलन मे, वाचन-मनन मे, प्रवचन मे, डूबे रहने वाले साधक तन-मन के तमाम दुःख और द्वन्द्व से छुटकारा पा लेते हैं ।

जो श्रमण, श्रमणी और मुमुक्षु शास्त्रो के अध्ययन वगरह मे मन-वचन काया से प्रयुक्त नही रहते हैं, वे चाहे तप करें, त्याग करें, धर्म-क्रियाए कर, फिर भी उन्ह मानसिक शाति प्राप्त नही हो सकती । नही वे दुःख से छुटकारा पा सकते ।

जो साधक मात्र शास्त्रो का अध्ययन करते हैं यानि कुछ अरसे तब ही पठन कर लेते है और इसके अलावा के समय म प्रमाद मे डूब जाते हैं, वे मन के दुःखो से और भीतरी क्लेश से मुक्त नही हो पाते ।

जा साधक शास्त्रो को याद कर लेते हैं, तोतापाठ की भाति रट लेते हैं, पर अर्थज्ञान प्राप्त नही करते, शास्त्रो की अनुप्रेक्षा नही करते, उन साधुओ का चित्त सक्लेशरहित नही रह सकता ।

यदि साधक को मन के क्लेश, सताप और विसवाद स मुक्त होना हो तो, उसे शास्त्रो की दुनिया म बस जाना चाहिए । शास्त्र जीवात्मा का दुःख से बचाते ही हैं, इसमे कोई सदेह की बात नही है । इसलिये

तो परमात्मा महावीरस्वामी ने कहा है : 'सज्झायसमो तवो नत्थि।' स्वाध्याय के समान दूसरा कोई तप नही है ! स्वाध्याय यानि शास्त्राभ्यास ! शास्त्राभ्यास अपूर्व तपश्चर्या है। यह तपश्चर्या को करने वाले मनुष्य के तन–मन के दु.ख तो मिटते ही है, कर्मबंध भी नष्ट हो जाते हैं।

ऐसे शास्त्रो के प्रति आदर और अहोभाव होना चाहिए। इन शास्त्रो को, भक्तिस्वरूप प्राचीन-अर्वाचीन समय मे सोने-चादी की स्याही से लिखवाये जाते थे। ताम्रपत्र पर इन शास्त्रो को खुदवाये जाते हैं। बड़े बडे ज्ञानमदिर बनवाकर उसमे शास्त्रो को सुरक्षित रखे जाते हैं। दुःख से बचाने वाले तत्त्व को सुरक्षित रखना ही चाहिये।

ऐसे शास्त्रो की महिमा समझ कर दिन-रात उन शास्त्रो के अध्ययन वगैरह मे निरत रहकर अपूर्व ज्ञानानद की अनुभूति करते रहना है।

श्लोक शासनसामर्थ्येन तु सन्त्राणबलेन चानवद्येन।
युक्तं यत् तच्छास्त्रं तच्चैतत् सर्वविद्वचनम् ॥१८८॥

अर्थ . अनुशासन करने के सामर्थ्य से एव निर्दोष रक्षणबल से युक्त होने के कारण उसे शास्त्र कहा जाता है और वह शास्त्र सर्वज्ञवचन ही है।

विवेचन . शास्त्र ! संसार के स्वभाव को वास्तविक तौर पर बताने वाला है।

* सर्वबधनो से मुक्त पूर्ण आत्मस्वभाव को बताने वाला है।
* शरणागत जीवो का निष्पाप उपायो से परीरक्षण करने वाला है।
* ऐसा शास्त्र यानि द्वादशाग प्रवचन।

ऐसा शास्त्र यानि सर्वज्ञ का वचन।

ऐसा शास्त्र यानि वीतराग–वीतद्वेष और गतमोह परमात्मा का वचन।

जो वीतराग नही है, द्वेषमुक्त नही है, मोहरहित नही है, वैसो के वचन, ग्रन्थ, शास्त्र नही बन सकते। चूंकि वैसे राग-द्वेष-मोह से घिरे हुए 'भगवानो' के वचन न तो संसार का वास्तविक स्वरूप समझा सकते है, नही मोक्षदशा का यथार्थ निरुपण कर सकते है या नही

शरणागत जीवो का निष्पाप उपायो से परिरक्षण कर सकते है । फिर उसे शास्त्र कहें तो कहे कैसे ?

जिसके अध्ययन से मनुष्य के हृदय मे, भावुक जीवो के हृदय मे ससार के सुखो के प्रति वैराग्यभाव न जगे, जिसके अध्ययन से शिव-अचल-अरज-अनत-अक्षय अव्याबाध ऐसे मोक्ष का आकर्षण न जागे उसे शास्त्र कैसे कह सकते हैं ?

श्रीपाल चरित्र मे, जब राजकुमारी मयणासुन्दरी की शादी, गुस्से के कारण आपे से बाहर हुए उसके पिता–राजा ने एक कुष्टरोगी 'उवरराना' (श्रीपाल) के साथ कर दी तब उद्बुद्ध ऐसी मयणासुदरी सर्वज्ञवचन के सहारे ही स्वस्थ, निर्भय और निश्चल रह सकी थी । उसने वैसे शास्त्रो का अध्ययन परिशीलन किया हुआ था । 'ससार मे ऐसा सब तो होता रहता है ।' उसके दिल मे अपने पिता के प्रति तनिक भी गुस्सा नही हुआ । उसके मन मे 'हाय, मेरा सुख लूट गया ।' ऐसी कोई पीडा नही जगी, और जब वो अपने गुरुदेव के पास पहुँची तब गुरुदेव ने उसे निर्दोष निष्पाप ऐसी धर्म–आराधना बतलायी, कि जिसमे हिंसा वगैरह कोई भी पाप नही था । उस आराधना के द्वारा मयणासुदरी ने उवरराना का कोढरोग जड से मिटा दिया था । तन के और मन के सारे सतापो को दूर करने का सामर्थ्य मात्र सर्वज्ञवचन मे ही है ।

यदि साधक आत्मा, मोक्षमार्ग का यात्री आत्मा अपनी मोक्षयात्रा को निरापद बनाये रखना चाहता हो तो उसे ऐसे शास्त्रो का ही अध्ययन करना चाहिए । मन को रागद्वेष और मोह से भर देने वाले पुस्तको को तो छूना भी नही चाहिए । इस तरह के पठन से मन रोगी होता है बीमार बनता है । अशुभ पापविचारो का काफिला उतर आता है दिमाग मे । इससे अनत अनत पापकर्म बधते हैं और परिणाम-स्वरूप जीव दुर्गति के दारुण दुखो का शिकार बनता है ।

जो सर्वज्ञ नही हैं, वीतराग नही हैं, उनकी पुस्तक, उनके ग्रन्थ कभी मत पढो । उनके वचन कभी मत सुनो । जो सर्वज्ञ थे, वीतराग थे, पूर्णज्ञानी थे, वैसे परमपुरुषों के वचन जिन ग्रन्थो में गुम्फित हैं उन

ग्रन्थो का अध्ययन करो। फिर चाहे वे ग्रन्थ गणितानुयोग के हो... द्रव्यानुयोग या चरणकरणानुयोग के हो अथवा फिर धर्मकथानुयोग के हो।

'शास्त्रो की बाते तो पुरानी पड गयी है...शास्त्रो की बातो मे तो काफी मिलावट हो चुकी है...आज के समय में शास्त्र की बाते क्या काम लगेगी ?' ऐसी बेहूदी बचकानी बातो मे फसना मत। सत्य हमेशा नित्य नूतन रहता है। वो कभी पुराना पडता ही नही है। असत्यो के ढेर मे कभी कभी सत्य मिल गया हो तो उस सत्य को ढूढ निकालने की बुद्धि चाहिए। मिट्टी मे घुलमिल गये सोने को यदि शुद्ध रूप मे पाया जा सकता है, तो असत्य के साथ छुपे हुए सत्य को क्यो नही पाया जा सकता ?

आज के समय मे तो सर्वज्ञ के वचन ही सच्ची शरण दे सकते है। अनेक दुःख, त्रास, चिता, व्यथा और पीड़ा के महासागर मे डूबते हुए मनुष्यो के लिये एक सर्वज्ञवचन ही त्राणरूप है। वे ही उसे बचा सकते हैं। सच्ची शाति, समता, तृप्ति और प्रसन्नता सर्वज्ञशासन के 'शास्त्रो' से ही मिल सकेगी। इसलिये शास्त्रो का आदर करो।

प्रथम भाग संपूर्ण

श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट
बम्रोईनगर के पास, मेहसाना ३८४००२

※ ट्रस्टीगण ※

श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट के

* स्थायी सहयोगी *

१	श्री	सपतराज एस. मेहता	भीवडी
२	,,	लालचद, मनोहरमल, हुकमीचद वैद	सोलापुर
३	,,	लक्ष्मीलाल सपतलाल लुंकड़	सोलापुर
४	,,	मोहनलाल भेरुलाल कोठारी	सोलापुर
५	,,	समीरमल विजयचद निमाणी	सोलापुर
६	,,	केशवजीभाई (फॅशन कॉर्नर)	सोलापुर
७	,,	मूलचन्द वेलाजी	सोलापुर
८	,,	चुनीलाल मूलचन्द सघवी	सोलापुर
९	,,	वाडीलाल जीवन देशाई	सोलापुर
१०	,,	मोतीलाल गुलाबचन्द शाह	सोलापुर
११	,,	विजयकुमार हरखचन्द एन्ड कपनी	सोलापुर
१२	,,	जनता रेडिमेड क्लॉथ स्टोअर्स	सोलापुर
१३	,,	विजय ऑईल मिल	सोलापुर
१४	,,	बेबी डॉल ड्रेस मॅन्यु. कपनी	सोलापुर
१५	सौ.	पद्मावेन रमणिकलाल शाह	सोलापुर
१६	श्री	एल शकरलाल एन्ड सन्स	सोलापुर
१७	,,	कोठारी ब्रदर्स	सोलापुर
१८	,,	एस. कटारिया	सोलापुर
१९	,,	फुटरमल जेठमल शाह	सोलापुर
२०	,,	भोमराज फकीरचन्द वैद	सोलापुर
२१	,,	गुमानमलजी दोशी	विलेपारले, बम्बई
२२	,,	रीखबदासजी चोमनाजी (पालडी-सिरोहीवाले),	मद्रास
२३	,,	शातिलालजी सघवी	सोलापुर
२४	,,	मोठालालजी चौधरी	सोलापुर

२५	श्री चांदमलजी लूणिया	सोलापुर
२६	,, पुसालालजी कोचर	सोलापुर
२७	,, कैलास होजियरी मार्ट	सोलापुर
२८	,, पुनमचंद शिवलाल शाह	सोलापुर
२९	,, केशवलाल दामोदरदास पटणी	सोलापुर
३०	,, अशोककुमार कांतिलाल	सोलापुर
३१	,, चांदमल जवानमल मुनोत	सोलापुर
३२	,, सीरेमल खेमचंद	सोलापुर
३३	,, महावीर टी सेन्टर	सोलापुर
३४	,, रीखवचंदजी लखमाजी	सोलापुर
३५	,, मूलशंकर जयशंकर वोरा	सोलापुर
३६	,, बाफणा ब्रदस	सोलापुर
३७	,, लालचंद अम्बालाल	सोलापुर
३८	,, डा बासंतीबेन एन मुनोत	सोलापुर
३९	,, जगदीश हीरजी राभिया	सोलापुर
४०	,, वेदी वेअर (छगनलालजी कवाड)	सोलापुर
४१	, भीमराज रतनचंद	सोलापुर
४२	,, जैन श्राविका संघ	सोलापुर
४३	श्रीमती विमलादेवी एन जोटा	बम्बई
४४	श्री पी सी बरडीया	बम्बई
४५	, हीराचंदजी बैद	जयपुर
४६	,, मानमलजी लुणीया	डोडबालापुर
४७	श्रीमति कमलाबाई हीराचंदजी गुलेच्छा	मद्रास
४८	श्री नागतरा टेक्सटाईल्स	मद्रास
४९	,, नाकोडा टेक्स्टाईल्स	मद्रास
५०	,, भीखमचंदजी बैद	मद्रास
५१	,, जैन श्राविका संघ	मद्रास
५२	श्रीमती मूलीबाई आर जैन	मद्रास
५३	श्री गिरिधर गोपाल सोनी	सोलापुर
५४	,, शाह ट्रांसपोर्ट	सोलापुर
५५	,, प्रकाशचंद भंवरलालजी बैद	सोलापुर
५६	,, वरदीचंदजी दानाजी	येम्मिगनूर
५७	, कांतीलालजी मूलचंदजी	आदोनी

५८	श्री	जयचन्द अमरचन्द वैद	स।
५९	„	मणीभाई डुंगरशीभाई	सो
६०	„	रायचन्दजी भीकमचन्दजी गुलेच्छा	सोल
६१	„	चुनीलालजी छगनलालजी गांधी	सोला
६२	„	अशोककुमार हितेन्द्रकुमार राका	सोलापु
६३	„	छगनलालजी डाह्याजी	सोलापु
६४	„	सी नरशी गेडवेज	सोलापुर
६५	„	मोतीलालजी सुराना	सोलापुर
६६	„	पोपटलाल चत्रभुज बाबरीया	श्री रामपुर
६७	„	रूपचन्दजी मोहनलालजी बलाई	पाली
६८	„	रूपचन्दजी पारसमलजी भमाली	पाली
६९	„	उगमराजजी मोहनराजजी मेहता	पाली
७०	„	वशीलालजी आईदानमलजी	तख्तगढ
७१	„	बाबुलालजी चदनमलजी जैन	थाना
७२	„	तखतराजजी हुक्मराजजो भडारी	जैतारण
७३	„	भोपालसिंह वीरचन्दजी परमार	उदयपुर
७४	„	लक्ष्मी हॉल	उटाकामड
७५	„	गणपतसिंहजी कोठारी	उदयपुर
७६	„	नेत्रतिलाल आर. शाह	इन्दौर
७७	„	टी. प्रकाशचन्द छल्लाणी	मद्रास
७८	„	महेन्द्रकुमार अभयकरणजी कोठारी	मद्रास
७९	„	अमरचन्द सोवाचन्द	मद्रास
८०	„	बेंगानी परिवार	मद्रास
८१	श्रीमति	मोहिनीबाई जुगराजजी मुथा	मद्रास
८२	श्री	राका मेटल कोर्पोरेशन	मद्रास

श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट मेहसाना
द्वारा प्रस्तुत
पंन्यासप्रवर श्री भद्रगुप्तविजयजी गणीवर
का
प्रेरणादायी वैविध्यसभर हिन्दी साहित्य

☐	प्रशमरति भाग-१		२० ००
☐	जैनधर्म	[परिचय-गाईड]	८ ००
☐	अंतर्नाद	[मौलिक चिंतन]	८ ००
☐	नैन बहे दिन रैन	[रसमय कहानी]	१० ००
☐	हृदय कमल मे ध्यान	[प्रवचन]	५-००
☐	न म्रियते	[मृत्यु पर चिंतन]	१०-००
☐	पथ के प्रदीप	[विचारकण]	२-००
☐	बच्चों का भेंट	[३ पुस्तकें]	६ ००
☐	मांगल्य	[भक्तामर की विशिष्ट पुस्तक]	३ ००
☐	कथा संपुट	[१० पुस्तकें]	१२-५०
☐	संस्कारगीत	[बच्चों के लिए]	१-००
☐	प्रार्थना	[परमात्मभक्ति के लिए]	१-००
☐	मनोमंथन	[प्रेरणादायी विचार]	१ ००
☐	मन प्रसन्नता	[,,]	१-००
☐	स्वस्थ जीवन	[,,]	१-००

❀ उपलब्ध अंग्रेजी प्रकाशन ❀

☐	Bury Your worry	12–00
☐	A code of conduct	5–00
☐	3 Books for children	6-00
☐	The Treasure of mind	5–00

— निकट भविष्य में उपलब्ध होने वाले प्रकाशन —

- प्रशमरति भाग–२
- सब से ऊँची प्रेमसगाई
- धम्म सरणं पवज्जामि [भाग १/२/३/४]
- तीन पुरुषार्थ
- कामगजेन्द्र

मिनि पोकेट सीरीज

- प्रेरणा पीयूष
- मोती की खेती
- विचारदीप
- चिंतनदीप
- तिथि - मार्गदर्शिका / २०४१
- स्वच्छ जीवन
- सहज जीवन
- हंसा तो मोती चुगे

'क्यों और कैसे ?' श्रेणी [जैन क्रिया मार्ग]

- प्रभु दर्शन-वंदन
- प्रभुपूजन
- सामायिक

अध्ययन श्रेणी .

- सामायिक चैत्यवंदन सूत्र
- दो प्रतिक्रमण
- पंच प्रतिक्रमण

विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट मेहसाना

द्वारा प्रस्तुत

आजीवन सदस्य योजना

क्या आप ऐसा साहित्य खोज रहे हैं,

- जो आपके व्यक्तिगत जीवन को पवित्रता से भर दे!
- जो आपके पारिवारिक जीवन को प्रसन्नता से भर दे!
- जो आपके आसपास को आनंद एवं उल्लास से भर दे!

तो आप एक काम कीजीये!

१००१/- रुपये भरकर आजीवन सदस्य बन जाईये!

हम आपको हमारे उपलब्ध हिन्दी-अंग्रेजी तमाम प्रकाशन आपको दे देंगे, उपरांत प्रतिवर्ष ४-५ नयी पुस्तकें नियमित भेजते रहेंगे।

आध्यात्मिक विकास के लिए तत्त्वचिंतन स्वस्थ जीवन के लिए मानसिक चिंतन, भीतरी समस्याओं को सुलझानेवाला पत्र साहित्य, जीवन के शाश्वत मूल्यों को उजागर करनेवाला कथा-साहित्य, बच्चों के लिए प्रेरणाप्रद सचित्र साहित्य, यह सब प्राप्त करने के लिए सदस्यता फॉर्म मँगवाकर भरें।

पत्रव्यवहार

श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट
कम्बोईनगर के पास, मेहसाना-३८४००२
(Gujarat)

श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट : मेहसाना

द्वारा प्रस्तुत

सर्वजन कल्याण निधि

के जरिये अभिनव सेवा अभियान !

- ○ पू० साधु-साध्वीजी की सेवा-शुश्रुषा
- ○ ब्रेईललिपि में पुस्तक लेखन
- ○ साधर्मिक सहयोग
- ⊙ अन्य अनुकंपा दान

यदि आप भी इन पवित्र अभियान में हिस्सा रखना चाहें तो संपर्क स्थापित करें।

श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट

कम्बोईनगर के पास, मेहसाना–३८४००२

[Gujarat]